जपसूत्रम्
स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती

श्रीमत् स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती विरचित कारिका सम्वलित

जपसूत्रम्

(तृतीय खण्ड)

(विस्तारित व्याख्या तथा भाषानुवाद)

अनुवादक

एस० एन० खण्डेलवाल

प्रकाशक

भारतीय विद्या प्रकाशन

वाराणसी — दिल्ली

प्रकाशक
© भारतीय विद्या प्रकाशन
(१) पो० बाक्स नं० ११०८, कचौड़ीगली, वाराणसी—221001
(२) १, यू० बी० जवाहरनगर, बँग्लोरोड, दिल्ली—110007

प्रथम संस्करण-१९९२-९३ ई०

मूल्य १००-००

मुद्रक :
न्यू दीपक प्रेस
द्वारा
भारतीय विद्या प्रकाशन
कचौड़ी गली, वाराणसी } दूरभाष-३२२३७६

निवेदन

जपसूत्रम्, तृतीय खण्ड का भाषानुवाद प्रस्तुत करते हुए इस खण्ड में आलोचित प्रसंगों को अंकित करना उचित प्रतीत होता है। इस खण्ड में स्वामीजी ने तारचक्र समाचरण, आप्यायन रहस्य, न्यासभूतशुद्धि रहस्य संकेत, द्विदल बन्दना प्रभृति के साथ-साथ अनुत्संधित्सु जप साधकों के हितार्थ विनियोग, महामाया, माया, सृष्टिमूल शुद्धिसाम्यादि, शुद्धि प्रकृति प्रत्ययादि, विकृति ग्रन्थि, हृल्लेखा, वृत्ति, शून्य, पूर्ण, विन्दु, द्वन्द्व, भूमत्व, प्रमाणादि, उदासीनत्व, वस्तु धर्मादि, आदित्य-अग्नि-सोम, सर्वमोंकार, आनन्द, पादमात्रा आदि, अर्धमात्रादि, लीला, योगमाया, जड़त्व, योग्यत्व, व्यवहार, प्राणस्य प्राण, रसतम, स्थितिक्रम, भावज्ञानादि, सामान्य विशेषादि, अणुत्व धारात्व, परायण अनाहत्, हंसादि, रेतस्-वृष-अग्नि-सोम, मित्रावरुण, सूर्य प्रभृति तत्वों का सूत्ररूप से वर्णन करते हुये कारिकाओं के माध्यम से उनका विस्तृत विश्लेषण प्रस्तुत किया है।

महान् सिद्ध स्वामीजी ने क्रममार्ग का सम्यक् दिग्दर्शन करते हुए जप अभ्यारोह के क्षेत्र में होने वाले समस्त घटना चक्र का, उनके अन्तरायों का अपनी साधनोज्वल प्रज्ञा द्वारा जो स्वरूप उपलब्ध किया है, वह इस मार्ग के साधकों के लिए सर्वकाल में उपादेय रहेगा। महाजनों द्वारा प्रदर्शित पथ पर चलने से सामान्य साधक अनेक विपर्यय से बच जाते हैं और उनकी अग्रगति बाधित नहीं होती। इस दृष्टि से इस तृतीय खण्ड की अतुलनीय उपयोगिता को स्वीकार करना ही होगा। जपसूत्रम् के २, ३, ४, ५, ६, खण्डों में मन्मथनाथ मुखोपाध्याय के लेख अंकित हैं। इन समस्त लेखों को पुस्तक के षष्ट खण्ड के हिन्दी अनुवाद के अन्त में संलग्न किया जायेगा।

ग्रन्थ के अन्त में एक शुद्धि पत्र संलग्न है। संशोधक एवं मुद्रक दोनों की कृपा से संस्कृत कारिकाओं में जो त्रुटियाँ रह गयीं उनके लिये यह क्षेपक जोड़ना आवश्यक सा हो गया। अतः सुधी पाठकगण से निवेदन है कि शुद्धि पत्र के अनुसार संस्कृत अंश की शुद्धि करने की महती कृपा करें।

दीपावली, १९९२ ई०
बी ३१।३२, लंका, वाराणसी

एस० एन० खण्डेलवाल

विषयानुक्रमणिका

	पृष्ठ संख्या
प्रथम अध्याय	१–५५
द्वितीय अध्याय	५६–१६२
तृतीय अध्याय	१६३–२०८
चतुर्थ अध्याय	२०९–२४८
पंचम अध्याय	२४९–३१५
परिशिष्ट	३१६–३१८
शुद्धिपत्र	३१९–३२०

जपसूत्रम्

(तृतीय खण्ड)

जपसूत्रम्

(तृतीय भाग)

प्रथम अध्याय
जपोल्लासविलासवल्ली

अकारं तथा च मकारमन्तरा
विशत्युकार ऋतं वृहच्चिकीर्षुः ।
अग्नावकारे सुनुते च सोमं
मकार मस्यादमयोरमृतत्त्वम् ॥१॥

आदिस्वरादय मिप्येव क्लृप्तं
मात्रास्पृगन्तस्य पारं निनीषुः ।
मूर्धन्यकारस्य तलं ह्युकारो
नग्यं नासाबुदमृतं च दोग्धि ॥२॥

अचञ्चलानि स्वतश्चञ्चलानि
चत्वारि वाव्यक्षिवचो मनांसि ।
अचंचला अपि कुलनादमारसा
श्चंचला इव जाग्रति जापयागे ॥३॥

मूका मुखरा वागपि बिखरा
दृष्टिश्चपला नितरामचला ।
वायुर्भ्राम्यति नासाविवरे
चेतः शाम्यति चान्तः कुहरे ॥४॥

कुलरसिकाधो नूपुर-नटना
चान्तर्वीणा सुललित-रणना ।
राका-हिमकर कनक कौमुदी
किरति हृदि रस महोमहोत्सवे ॥५॥

अलसित-रसजाड्यं शैलगात्रे तुषारं
विगलयतु रसोत्सो गन्तुमुल्लासलास्यम् ।
विलसित तटशोभां विभ्रती रासधारा
स्वलसित रससिन्धुं यातु धाम्नैव तस्य ॥६॥

अलसित शिशुकण्ठे काकली योंलसन्ती
सुललित सुरशिल्पे छन्दसा तद् विलासः ।
परम निविड़तास्ते नादसान्द्रे समाधौ
विरमति सुरकेलिः स्वात्मशान्ते रसाब्धौ ।।७।।

ॐङ्कारस्याद्यं यदलसितरसं रूपमुल्लासमेति
मध्ये योऽर्णं स्तदुदयबलान् नादबिन्दू कला च ।
तारोल्लासे विदधति रसज्योतिषो र्वा विलासं
तीर्वा द्वन्द्वं सकलकलनं को लसन् स्वे महिम्नि ।।८।।

यावन् नाम ह्यलसितरसं तावदुद्गान मस्यो
ल्लासप्रौढि स्तरुण लसिते भावतो गुञ्जितेन ।
पारं याते त्वतनुधनुषः कीर्त्तनेऽन्तर्विलासे
माध्वीमग्नं हृदि विलसनं स्वात्मरत्यैकसारम् ।।९।।

विश्वे स्वात्मन्यवनलसनकृत सन्तु धर्म्मा मयीत्या
प्यायस्त्वित्युल्लसनवचनात् प्रेष्ठन्पीयूष-पानम् ।
अङ्गोल्लासेऽङ्घ्रि-परिलसनं मेऽनिराकारसूक्तैः
सर्वं ब्रह्मौपनिषदमिति प्रास्तमग्नौ तदाज्यम् ।।१०।।

मंत्रन्यासै कुरुतः लसितं स्वीय यन्त्रस्य जाड्य
मुल्लासं वो नयतु महसा चोर्द्धगा भूतशुद्धिः ।
प्रेम्ना ध्यानाच्छिरसिकमले श्रीगुरोस्तद् विलासो
भासा भुङ्ग्ध्वं स्वरसममृतं सांगयागे जपे वः ।।११।।

नाम्नानाम्नि स्तिमित मलसं भावमादौजहीहि
नम्नानाम्नि स्वरस-सुषमोंल्लासकुण्ठां जहाहि ।
नाम्नानाम्नि प्रियपरिचये चारुचित्ते विलासे
नाम्नाम्नीममपि जहिहि प्रोज्वले सामरस्ये ।।१२।।

जागर्त्ति प्रथमालस्यादुल्लसन्ती च मध्यमा ।
विलसन्ति च पश्यन्ति स्वलसन्ति परा मता ।।१३।।

तारचक्रसमाचरणम्

बिन्दोर्नादोऽपि नादाच्च बिन्दुरिति रहस्य वाक् ।
आदावन्ते च सावित्र्यां प्रणवस्योच्चारणात् स्फुटा ।।१।।

बिन्दौ समुदितस्तारो व्याहृतित्र्यर्ण भास्करः ।
वरेण्यं मध्यगो भर्गश्चास्तं बिन्दावियात पुनः ।।२।।

ॐ कारस्य महाचक्रं हृद्येवमावर्त्तते यदा।
तदैव वाराही शक्त्या दंष्ट्रोद्धृता वसुन्धरा ॥३॥

विषम----चक्रजालच्छित् सुषम--चक्रवृद्धिकृत्
नाभिभिद् विश्वचक्रस्य तारचक्रं समाचर ॥४॥

प्रातर्मध्याह्न-सायाह्नावृत्तिमान् सविता स्वरः।
नक्तं शेते विन्दुलीनः स्वबीज इव पादपः ॥५॥

तारजपे तथा नक्तं शयीथाः सम्पुटेऽपि वा।
अन्यथा लङ्घनं मेरोः प्राणाः श्राम्यन्ति वै यतः ॥६॥

नाद एव दिवा पुंसां श्रृण्वतां तेऽत्र जाग्रति।
अश्रृण्वतां दिवा नक्तं जाग्रति विलयेऽपि ते ॥७॥

साख्यमूलं हि यत्किञ्चित् स्पन्दः संख्यानमूलकः।
संख्यावैरं यतो बद्धः संख्यामैत्रञ्च मुक्तये ॥८॥

संख्यासंख्यानसांख्यैश्च प्रसंख्यानेन तुर्यगम्।
वैखर्यादौ मन्त्रवज्रं संख्या-शङ्काद्रिपाटनम् ॥ ९ ॥

अपाम सोमं हि वाङ्मन्थयागेऽ
गमाम ज्योतिर्भामतोऽविदाम।
किं सोमरातानकृन्तदराति
रन्धा विभातो मर्त्तस्य धूर्त्तिः ॥ १० ॥

रात्यराती स्थिते द्वन्द्वे सोमं वै जातवेदसे।
रात्यैनो दूरिताद् दुर्गात् सूनवामान्तरश्रुवा ॥ ११ ॥

(अरातेर्दुरिताद्रात्यै सुनवाम सुषुम्नया ॥)

जपोल्लासविलासवल्ली

अनुवाद तथा व्याख्यान

प्रणव के अ तथा म के मध्य (अन्तरा) में उ वर्ण प्रविष्ट (विशति) है। किस उद्देश्य से ? वेद में प्रसिद्ध हंसवती ऋक् में जो "ऋतं बृहद्" समुदीरित हुआ है, जिस 'ऋतं बृहद्' को हमने पहले ग्रहण करने और पहचानने का कितना यत्न किया है, उसी 'ऋतं बृहद्' को साक्षात् प्रकट कराने के उद्देश्य से उ वर्ण इस प्रकार प्रविष्ट हुआ है। उ वर्ण के इस मन्थन कर्म की यज्ञरूप से भावना करो। प्रथमवर्ण 'अ' अग्निस्थानीय है। 'म' सोमस्थानीय है। मध्य में 'उ' होतृरूप होकर 'अ' रूपी अग्नि में 'म' रूपी सोम का सवन कर रहा है। (सुनुते)। इस प्रकार सोम के द्वारा अभिषेक करने का फल यह है कि अ और म में जो निगूढ़ अमृत

अभिव्यक्त होता है, वह मन्त्र योग में परमफल (अमृत) रूप में परिकल्पित होता है। यदि यह सवन कर्म सम्यक् रूप से नहीं चलता, उस स्थिति में अ तथा म एक स्तब्ध जड़िमा से आक्रान्त से पड़े रह जाते हैं। वे मंत्राक्षर में निहित "ऋतं बृहत्" का कोई परिचय नहीं मिलने देते। अत: ये दोनों (अ तथा म) वर्ण अर्धमात्रारूप उर्ध्वलोक के सेतु पर पहुंचा सकने में अक्षम हो जाते हैं। अतएव अमृत के आभास अथवा सन्धान का वहन करने में अक्षम से रह जाते हैं।

इस स्थिति में जब अ तथा म वास्तविक व्याहरण के पथ पर अग्रसर नहीं होते, तब उनका रूप हो जाता है अम्—व्याधि, रोग, unhealthy Morbid Complex। इस प्रकार का Complex रूप ग्रहण करने पर अ तथा म जो आकृति ग्रहण करते हैं उसे कहते हैं आमय ! इस आमय से उत्तीर्ण होने पर जो पद अथवा पदवी जीवन में अधिगत होती है, उसके लिये गीता में कहा गया है "पदं गच्छन्त्य-नामयम्'। प्रणव के अ तथा म के मध्य में स्थित उ वर्ण जब मन्थन तथा सवन कर्म करता है तब "विषमपि अमृतायते" विष भी अमृत हो जाता है। यदि यह मंथन तथा सवन कर्म सम्यक् रूप से अनूष्ठित नहीं होता, तब अमृत भी विष हो जाता है—"अमृतमपि विषायते"। जीवन में इस प्रकार से (अन्दर-बाहर) अमृत का जो विषायन है, उससे छुटकारा पाने के लिये प्रसिद्ध अभ्यारोह मंत्र "असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्म्माऽमृतम् गमय" का उपदेश दिया गया है। आयुर्वेद में सब प्रकार के रोगों से मुक्ति के लिये दो-दो बार भगवान के जिन तीन नामों का उपदेश दिया गया है—वे हैं अच्युत, अनन्त, गोविन्द। परीक्षा करने से ही उ वर्ण के उक्त मन्थन तथा सवन कर्म का प्रमाण मिलेगा। प्रथम दो नामों में अ वर्ण तथा म वर्ण का उकार के द्वारा मन्थन हुआ है। गोविन्द नाम में ॐ कार सर्वेन्द्रिय एवं समग्र सत्ता के परम रसायन अमृतरूप में स्वयं समुत्थित हो रहा है ! इस प्रसंग में अमा, उमा तथा मां के अमृतायन रूप को देखो। ये सब "आ" प्रधान मंत्र हैं।

अब अ, उ तथा म रूपी वर्णत्रय की यथाक्रमेण भूर्भुवः-स्वः व्याहृतित्रय रूप में भावना करो। स्वर का आदि वर्ण जो 'अ' है, वह क्या सूचित करता है ? 'अयं अथवा यह' रूप से भीतर बाहर जो कुछ प्रतीत हो रहा है, उसकी सूचना 'अ' द्वारा मिलती हैं। अत: यह वर्ण है 'भूः' स्थानीय। किन्तु यह देखा जाता है कि 'यह' रूप से जो कुछ प्रत्यक्ष हो रहा है, वह सब मात्रास्पर्श की सीमा में आबद्ध है। अर्थात् चक्षु प्रभृति इन्द्रियां जिन रूप आदि विषयों को अन्त:करण में ले आती हैं, उन समस्त विषय को लेकर अन्त:करण भावना, चिन्तना, कल्पना, जल्पना करता रहता है। तभी हमारी साधारण अनुभूतियों (ordinary Experience) में दीनता तथा कार्पण्य है।

इसी कारण हमें नाद-विन्दु-ज्योति-रप आदि उर्ध्वधाम के सम्वन्ध में अनुभूति नहीं होती। उदाहरणतः यदि कोई ध्वनि सुनना है, उस स्थिति में वाह्य वायुमण्डल का कम्पित होना आवश्यक है। उस कम्पन द्वारा हमारे श्रवण यंत्र तथा स्नायु समूह का उपयुक्त रूप से सक्रिय होना भी आवश्यक है। इसके अतिरिक्त संस्कार युक्त मन की भी उपयुक्त सहयोगिता होनी ही चाहिये। इन सव कार्पणों का समवाय होने पर ही हम सुन सकते हैं।

जिसे नादध्वनि कहा जाता है, वह इन समस्त कारणों के समवाय से उत्पन्न नहीं होती। वह इन सबके अभाव हो जाने पर विनष्ट भी नहीं होती। वह नित्य तथा अनाहत शब्द है। ऐसी अनुभूति अथवा शब्द आता कैसे है? यह स्पष्टतः परिलक्षित होता है कि जब मात्रास्पर्श की सीमा के बाहर हमारी चेतना प्रतिष्ठित हो जाती है, उसी स्थिति में नादानुसन्धान हो सकता है। यह स्मरण रखना होगा कि हमारी मात्रा अथवा इन्द्रियां अनुभूति को एक निर्दिष्ट संकीर्ण प्रणाली में ही प्रवाहित होने देती हैं। (Restrict अथवा Canalise करती हैं) जो बोध का उन्मुक्त अनाविल अकुण्ठित प्रकाश है, वह मात्रास्पर्श के उर्ध्व में जाने से ही आयत्त होता है। जो तथ्य नाद के सम्बन्ध में प्रभावी है, वही तथ्य ज्योति के सम्बन्ध में भी है। अतः इन्हे जड़ न कहकर चिन्मय ही कहना उचित होता है। एक प्रकार से जो अनुभूति मात्रास्पर्श के द्वारा सीमाबद्ध और कुण्ठित है, उसे जड़ तथा सकुण्ठ कहा गया है। मात्रास्पर्श की सीमा के परे जो अनुभूति है, उसे चिन्मय तथा विकुण्ठ कहते हैं। यहाँ जो स्पर्श वर्ण का 'म' है, उससे मात्रास्पर्श के शेष संवेग की सूचना प्राप्त होती है। संवेग = Momentum। 'अम्' का उच्चारण करने पर हमारी अनुभूति मात्रास्पर्श के संवेग तक पहुंच जाती है। अब वह उसको काटकर (उसके पार स्थित) भी चिन्मय वैकुण्ठ पदवी पर्यन्त नहीं पहुंच सकी! तथापि किसी न किसी प्रकार से पार होना ही होगा, क्योंकि मात्रास्पर्श की सीमा में पड़े रहने पर गीता के अनुसार "तितीक्षस्व भारतः!"

इसके अतिरिक्त अन्य कोई "भरोसे वाली" बात जीव के कानों तक नहीं पहुँच सकती! जो स्वभावतः रसलिप्सु है, क्या उसे केवल नीरस विषयों में ही पड़े रहकर दिन व्यतीत करना होगा? इसीलिये पार जाने का उपाय मिलना ही चाहिये। (मात्रास्पृगन्तस्य पारं निनीषुः)। इस "पार" का मार्ग बतलाने के ही लिये श्री भगवान ने गुरुशक्ति 'उ' का स्वरूप ग्रहण करते हुए अ तथा म के मध्य में प्रवेश किया है। किस उद्येश्य से? उनके अपने निज उर्ध्वधाम में उसके स्वरूप का पूर्ण प्रकाश रूप 'ऋ' वर्ण स्थित है। अतः उन्होंने इस ऋ वर्ण को अपने धाम में उत्तोलित करने के लिये यह प्रवेश किया है! यदि हम इस धाम को 'स्वः' संज्ञा से सम्बोधित करें, उस स्थिति में 'उ' कार 'भुवः' व्याहृति रूप से परम श्रेयस्कर उद्धार

कर्म का निर्वहण करता है। इस 'उ' वर्ण को 'यह अथवा ये' कुछ भी नहीं कहा जा सकता। यह 'ये' में रहकर 'यह' को 'वह' के पास पहुंचा देता है और 'वह' को 'यह' के पास लाकर 'हाजिर' कर देता है। और देखो, जो मूर्धन्यधाम का 'ऋ' कार है वह 'तल' शब्द के 'त' के साथ संयुक्त होकर 'ऋत' है। अतः 'उ' कार की इन माध्यमिकताओं के कारण 'अम्' का भोग्य हुआ 'ऋत्' अर्थात् अम् से अमृत। इसलिये मध्य में 'उ' वर्ण ही विष स जर्जर 'अम्' से अमृत् दोहन कर लेता है।

इसके अनन्तर 'उ' वर्ण होतृ रूप से उद्बुद्ध होकर जापक के जपयज्ञ का सम्यक् रूप से निर्वहण करने लगता है। अब जो अपरूप अघटन घटना घटित होती है, वह उसी के द्वारा होती है। स्वभावतः तुरन्त चञ्चल साधकस्थ वाक्, वायु, दृष्टि तथा मन अपनी चन्चलता का परिहार करते हुये अचन्चल तथा स्थिर हो जाते हैं। अब साधक की वाक् अनर्थक प्रलाप में व्यापृत न रहकर स्वेच्छा अथवा अनिच्छा से जपकर्म में सुस्थिर रूपेण संलग्न हो जाती है। साधक की प्राणवस्तु उच्छृङ्खल रूप से इतःस्ततः प्रधाविता नहीं होती। वह ऋतच्छन्दः के अधीन होकर स्थिर हो जाती है, अर्थात् जैसे वाक्संयम सहजसाध्य हो जाता है, उसी प्रकार जप के प्रभाव से साधक के सहज प्राणायामादि भी संघटित होने लगते हैं। साथ ही बाह्यदृश्य और रूप में निरन्तर चन्चला साधक की बुद्धि भी जप के मधुःच्छन्दः से आकृष्ट होकर एक शान्त रूप रस में विभोर होकर स्थिर हो जाती है। तभी योगीगण कहते हैं:—

"रोगी को, भोगी को, योगी को जान
आँख से निशान और आँख से पहचान"

इस प्रकार से जप के द्वारा साधक को त्राटक योगसिद्धि प्राप्त हो जाती है। अन्त में समस्त चंचलता का मूल 'मन' शेष रह जाता है। इसके सम्बन्ध में गीता ने कहा है:—

"चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥"

किन्तु सौष्ठव के साथ जपकर्म चलते रहने पर समस्त चन्चलताओं का कारण मन भी शान्त सा हो जाता है। अतएव जप के प्रसाद से साधक को प्रत्याहार, धारणा, ध्यान स्वतः ही घटित होने लगता है। पक्षान्तर से साधक में स्थित स्वभावतः निभृत—निगूढ़ अचन्चल ४ वस्तु साधक के नैष्टिक जप के आकूतिपूर्ण आह्वान द्वारा चन्चल होती हुई उसके सम्मुख प्रकट हो जाती है। यह चार वस्तु हैं प्रसुप्ता कुण्डलिनी शक्ति, अनाहत शाश्वतनाद, तमस् पार वाली आदित्यवर्ण ज्योति और श्रुति में प्रसिद्ध रसतम—मधुमत्तम रूपी महारस। अतः साधक द्वारा उपयुक्त रूप से जप

करने पर और उसका अनुष्ठान माध्यमिकता से अनुष्ठित होने पर उसमें निद्रित उक्त परम दैवी सम्पदा चतुष्टय उसके पास जाग्रत होकर आती हैं, और उससे कहती हैं "यह देखो, तुम्हारे यज्ञ फल रूपी अमृतभाण्ड को हम तुम्हारे लिये प्रस्तुत कर रहे हैं. तुम इसका वरण करो और तुम अमृत पुत्र हो, तुम अमृत का वरण करो।"

इसके अनन्तर इस श्लोक के द्वारा और भी बातें विस्पष्ट रूप से कही जा रही हैं। साधारणतः मुखरा और विखरा वाक् जप के कारण भूमा अथवा मौन भावापन्न हो जाती है। यहाँ मुखरा तथा विखरा दोनों विशेषणों के द्वारा मुख के भीतर वाला और मुख के बाहर वाला जो आकाश है (वियदि) इन दोनों स्थान पर स्थित खर स्वभाव वाली वाक् का द्योतन होता है। खर का तात्पर्य है जो विशेष रूप से अभिघात के कारण उत्पन्न होती है (ड्यू टू फ्रिक्शनल इमपैक्ट)। जप के सुषुम स्पन्दन के द्वारा खर भाव का ह्रास हो जाता है। अब जो वाक् प्रवृत्ति जप रूप से चलने लगती है वह क्रमशः अनाहतवर्त्ती तथा स्वच्छन्द होने लगती है (सेल्फ क्रियेटिंग एण्ड सेल्फ सस्टेनिंग)। तत्पश्चात् निरन्तर चपला सी दृष्टि भी अचला हो जाती है। इससे यह विदित होता है कि दृष्टि अपने पराञ्चि भाव का ह्रास करते-करते क्रमशः प्रत्यग् भाव को ग्रहण कर रही है।

इस स्थिति में बाह्यदृष्टि स्वयं को समेटते हुए शान्त अनाकुल अन्तर्दृष्टि में विवर्त्तित (ट्रान्सफार्म) होने लगती है। तत्पश्चात् हमारी यह उच्छृङ्खल तथा अस्थिर श्वासवायु शनैः-शनैः अपनी वाह्यवृत्ति का त्याग करते हुये नासाविवर के आभ्यन्तरीण क्षेत्र में वृत्तिमान होने लगती है। फलतः साधक का जप स्वाभावतः अजपा में परिणत होने लगता है। अर्थात् तब श्वास का छन्दः तथा जप का छन्दः पारस्परिक रूप से विषम (डिसकार्डेन्ट) न होकर सुगम (कनकार्डेन्ट) हो जाता है। ये दोनों छन्द परस्परतः मिलित (Congruent) होकर अभिन्नवत् हो जाते हैं। सर्वान्त में चित्त भी अपने समस्त अंग-उपांग को शान्त तथा धीर होते देखकर अपने किसी एक अपरूप अन्तःकुहर में प्रविष्ट होकर शान्त हो जाता है। उसकी समस्त भ्रान्ति तथा क्लान्ति के संस्कार उच्छिन्न हो जाते हैं।

जो स्वभावतः चन्चल हैं, उन वायु प्रभृति के सम्बन्ध में कहा गया। जो स्वभावतः अचन्चल हैं, वे साधक की आकृति के कारण चन्चल हो जाते हैं। अब उस आयोजन के विषय में कहा जायेगा, जो अकपट भाव से प्रकट भूमि में आकर साधक की समग्र सत्ता में एक अपरूप महोत्सव का प्रतिफलन करने लगते हैं। साधक के मूलाधार (अधः) अर्थात् उसकी सत्ता के गम्भीरतम स्तर में जो कुण्डलिनी शक्ति प्रसुप्त भुजगाकारा स्थित है, वह शक्ति मानो देवलोक की नटी के समान अपने दोनों पैरों में नूपुर बाँधकर नृत्यपरा हो जाती है। साधक को ऐसा अनुभव होने लगता है।

यह कुंडलिनी शक्ति स्वभावतः कुल-रसिका है। अर्थात् यह शिवशक्ति की अभेद उपलब्धि रूपी अपूर्व समरस ब्रह्म के आस्वादन की वस्तु होकर स्थिर हो जाती है। यह कुण्डलिनी ब्रह्मरस की रसिका हो जाती है। तभी इसे कुलकुण्डलिनी कहते हैं। यह है साधक के अधः (मूलाधार) प्रकोष्ठ के उत्सव का आयोजन। अब साधक के सुषुम्नारूप वीणा यन्त्र का आश्रय लेकर जो अपरूप तथा विचित्र नाद का रणन उसकी समग्र चेतना के मधुच्छंद को स्पन्दित और नन्दित कर देता है, वह है साधक के मध्य प्रकोष्ठ के उत्सव का आयोजन। यहाँ साधक की उर्ध्वतन चेतना भूमि से एक दिव्य अथच परम शान्त सुनिर्मला भास्वरता पूर्णिमा की हिमांशु कनक कौमुदी के समान सब कुछ का आप्लावन करते हुये, शुभ्र तथा पवित्र करते हुए प्रकाशित होने लगती है। यह है साधक के उर्ध्व प्रकोष्ठ का आलोकोत्सव। इस चेतना की शुभ्र पवित्र ज्योति स्वयं को विचित्र विलसित और शान्त स्वलसित रसरूपेण घनीभूत करके साधक के हृत् अथवा अन्तरतम को भरपूर करने लगती है। अहो! साधक के आन्तर महोत्सव के "कूल नाद भा रसः" ये चारो परस्परतः मिलित होकर दिव्य अनुभूति की विचित्रता—उज्वलता और मधुरता को परमता के निकट ले जाते हैं। यह देखकर अब विस्मय का अन्त ही नहीं हो रहा है।

उपर्युक्त चारों मिलकर साधक की अधः-मध्य तथा उर्ध्व सत्ता को भर कर एक अपूर्व महोत्सव का आयोजन तो करते हैं, किन्तु साधक जीवन में ज्योति तथा रस का कोई सन्धान मिलता परिलक्षित नहीं होता! प्रतीत होता है कि साधक की स्वसत्ता मानो एक अश्म अथवा पाषाण स्तूप है! जैसे उस शिलाखण्ड के ऊपर तुषार-राशि के समान जमा हुआ रस अथवा आनन्द एक अलसित जड़िमा से अवश हो कर पड़ा हुआ है। इस अलसित भाव को कहते हैं 'अलसित रसजातम्'। अब साधक के अन्तर से स्वतः यह प्रश्न जाग्रत होने लगता है "हे मेरे अजाने रसनिर्झर! तुम एक भारी पाषाणस्तूप के नीचे कहां छिपे पड़े हो? क्या तुम जाग कर इस विशाल दुर्भेद्य तुषार कारागार को भग्न नहीं कर सकते? क्या तुम इस गुरुतर तुषार जड़िमा को अपने छन्द से भग्न करते हुये उल्लासपूर्ण चंचल नृत्य की स्निग्ध मधुर तान के द्वारा मेरे जीवन की रसवहा नाड़ियों को प्लावित नहीं करोगे? (विगलतु रसोत्सोगन्तुमुल्लास लास्यम्)।

तत्पश्चात् तुषारराशि को विगलित करते हुये जब तुम हमारे जीवन के सभी अवयवों में सर्वतः स्निग्ध स्वच्छतोया तटिनी के समान शान्ति, पुष्टि, श्री के प्रवाह का संचार करते हुये अपने चिर आकांक्षित रससिन्धु का पान कराओगे, तब तुम्हारी गिरिकान्तार प्रभृति में बहने वाली रसधारा क्या हमारे चित्त को मुग्ध और धन्य नहीं कर देगी? (विलसित तटशोभां बिभ्रती रासधारा)। तुम्हारे इस सुषमामय अपरूप पुण्य अभिसार का शेष गन्तव्य कहां है? वह तो है वही स्वलसित रससिन्धु।

जहाँ रस की समस्त कुण्ठायें और कार्पण्य पूर्णतः निःशेष होकर एक परम शान्त 'स्वे महिम्नि' में समाप्त हो जाते हैं ! अतएव जो तुम्हे यात्रा के मूल में समस्त प्रेरणा देते हैं, जो पथ के समस्त बाधाविघ्न को काटते हुये अपने सन्धान में निरत रखते हैं, उनकी अपनी करुणा महिमा द्वारा तुम्हारी यात्रा का यह परम अवसान सिद्ध हो (यातु धाम्नैव तस्य) ।

जो अलसित रस की जड़िमा से सत्य जागरण की मुखरता है, उसका परिचय प्राप्त होता है शिशु अथवा विहग के कण्ठ की काकली से । तत्पश्चात् इस काकली की कुण्ठाहीन मधुरिमा है । यह छन्द के शासनाधीन नहीं है । यह तभी विचित्र छन्द में विलसित होती है, जब यह स्वयं को सुललित सुरशिल्प के रूप में रूपायित और लीलायित कर देती है । किन्तु कहाँ और कैसे इस सुरशिल्प के छन्दसः विलास की परिपूर्त्ति और अवसान होता है ? जब छन्दःकुशल सुरशिल्प एक अपरुप विचित्र विलास में अनिर्वचनीय नाद धारा की वहमानता का आविष्कार कर लेता है, तब उसे एक परम निबिड़ नादसान्द्र समाधिज अवस्था की प्राप्ति हो जाती है । यह अवस्था साक्षात् अनुभव का विषय है, तथापि इसका वर्णन, निर्वचन, किसी भी वाणी अथवा स्वर के द्वारा नहीं दिया जा सकता । यहाँ पहुँचकर छन्दः अपनी धारा के समस्त बन्धनों को हटाकर अपने लीला कैवल्य स्वरूप के अतल गम्भीरभाव में डूबता हुआ परिपूर्ण और शान्त होना चाहता है । यह सुरकेलि और छन्दशासन की विराम भूमि है, किन्तु यह स्तब्धता और शून्यता का मौन नहीं है । यह है एक सीमाहीन अतलस्पर्श रस संविद रूप सिन्धु में आत्मा की समस्त आकृति और आवेगों की चरितार्थता का स्थान । यहाँ पहुँच कर सभी "खोजा-खोजी, भागदौड़" समाप्त हो जाती है । यहाँ पहुंचकर मानो अंतिम आकृति का लवलेश संध्या के समय (आकाश में चमक रही डूबते सूर्य की) रक्तरेखारश्मि के समान एक अनिर्वचनीय अतल स्नेह के क्रोड़ में स्वयं को निमज्जित करते हुये स्वयं परिपूर्ण और शान्त हो जाता है । अलसित मग्नता की भूमि से प्रारम्भ करके शेष स्वलसित मग्नता की भूमि में पहुंचे बिना जीवन के रस संवेदन की प्रपूर्ति और चरितार्थता घटित नहीं होती । यह जानना ही होगा ।

अब ओंकार का अवलम्बन लेते हुये रस के अलसित रूप से लेकर स्वलसित भाव पर्यन्त के उन्मेष और विकास की भावना करो । जब ओंकार अथवा अन्य कोई वीज साधक के कण्ठ से उच्चारित होता है, तब उसको बोध होता है मानों उसका समस्त निगूढ़ रस तथा ज्योति एक अचल जड़िमा के तल में मूर्च्छित है । जब ॐ कार का मध्यवर्ण उ (मध्ये योऽर्णः) समुदित होकर अपने उन्मेष तथा उन्नयन शक्ति से सक्रिय हो उठता है, तब यह विदित होता है कि प्रणव की अलस मूर्च्छा अब भग्न हो रही है और उल्लास का प्रारम्भ हो रहा है । इस उल्लास की शुद्धि

और पुष्टि हो जाने पर 'अ' कार तथा 'म' कार के पार स्थित अर्धमात्रा का जागरण होने लगता है। इस जागरण की कृपा से ॐ कार से नाद-विन्दु तथा कला का साक्षात् आविर्भाव हो जाता है। जब तक रसना मल, श्रवण मल तथा चित्तमल का शोधन नहीं हो जाता,-तबतक नाद-विन्दु-कला के त्रितय की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। इस मलत्रय के अपसारण के द्वारा नाद, विन्दु तथा कलाशक्ति का आश्रय लेकर रस एवं ज्योति का एक अपरूप विलास साधक की अनुभूति में प्रकाशित हो जाता है। भावोल्लास (प्रणव के उल्लास) की शुद्ध भूमि में इस प्रकार के विलास की सम्भावना अवश्यंभावी है। अर्थात् जबतक तरुण तथा मलिन उल्लास का रूपान्तरण प्रौढ़ तथा विमल उल्लास रूप में नहीं हो जाता, तब तक इस अपरूप रस-ज्योति विलास का अनुभव ही नहीं हो सकता।

ऐसी स्थिति में साधक को सावधान रहना चाहिये कि प्रणव अथवा अन्य किसी नाम की साधना करते समय किंचित उल्लास का स्पर्श अथवा सिहरन ही अकुण्ठ रसोज्वल दिव्य अनुभूति कदापि नहीं है। जैसे किंचित् उल्लास का स्पर्श मिल जाने पर साधना के प्रति 'भरोसा' आने लगता है, उसी प्रकार से इस स्थिति में भयजनक सा भी बहुत कुछ है। जब तक अनुभविता (अनुभव करने वाला) के यंत्र में मल का लेशमात्र भी शेष है, तबतक समग्र तथा निर्दोषरूप से 'सत्य' की छवि का प्रतिफलन नहीं हो सकेगा! ऐसी स्थिति में प्राथमिक अवस्था में रस कणिका तो मिल जाती है, परन्तु उसके साथ-साथ रसाभास भी मिश्रित रहता है। इस संदर्भ में साधक को सावधान भी रहना चाहिये। आलोक के साथ अन्धकार भी "नामालूम" रूप से मिश्रित सा रह जाता है। तत्पश्चात् जब चित्तमल का पूर्ण स्फालन हो जाता है, तब साधक में रस-ज्योति का विलास होना अवश्यम्भावी है। अब वह वास्तव में ऋषि एवं द्रष्टा है।

क्या यही अन्त है? जिन त्रिमल का उल्लेख किया गया है, उनके मूल में भी एक मल है। यह है आणव मल। जबतक यह समाप्त नहीं होता, तबतक द्वन्द्व के पार, समस्त कलन के पार द्वन्द्वातीत कलातीत तत्व में उन्नीत हो सकना सम्भव नहीं है। उन्नीत होने पर यह परिलक्षित होता है कि अलसादि समस्त भावों का आश्रयरूप स्वमहिमा में चिरविलसित परमशान्त रूप एक भाव भी है। इसे व्यक्त कर लेने पर किसी भी उपसर्ग की सत्ता ही नहीं रह सकती। अतः द्वंद्वातीत-कलातीत परमभाव की प्रान्तभूमि में पहुंचकर इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त हो जाता है "को लसन् स्वे महिम्नि?" 'स्वे महिम्नि' से यह सूचित होता है कि वहाँ उसके अतिरिक्त अन्य कुछ की अपेक्षा ही नहीं है (Absolute)।

जिस नाम को लेता हूँ उसमें जब तक अलसित रस का बोध होता है, तब तक विधि के अनुकूल छन्द की सहायता से उसका उद्गान करना ही होगा। इस

प्रकार के उद्गान के द्वारा हमारे यंत्रों में सुषम छन्द उत्पन्न तथा संचित होकर नाम के अलसित भाव को काट देता है। अब मानों यन्त्र भी मन्त्र का आह्वान करने के लिये स्वयं को प्रस्तुत कर रहा है। फलस्वरूप प्रथमतः रस का जो स्पर्श प्राप्त होता है, वह है उल्लास का तरुणभाव। यह भाव उदित होने पर वह उद्गान स्वयं को एक मधुर भाव के गुंजन में परिणत होते देखता है। इस भाव का गुंजन तब तक चलता रहता है, जबतक उल्लास की प्रौढ़ता परिलक्षित नहीं हो जाती। इस उल्लास के प्रौढ़त्व का परिणाम दो प्रकार से चलता है। प्रथमतः वाह्यरूप-शब्दादि में जो लिप्सा अथवा काम है, वह विगलित होता जाता है। द्वितीयतः वाक् की जिस स्थूल अवस्था से नाम की ध्वनि उच्चारित अथवा श्रुत होती है, उस स्थूल अवस्था के पार जाकर नाम भी एक अतीन्द्रिय दिव्य रसास्वादपूर्ण अनुभूति में उपनीत हो जाता है।

इस स्थिति में भी नाम का कीर्त्तन (जप) स्तब्ध नहीं हो जाता, वह स्वयं को एक अपरूप आन्तर विलास के रूप में प्रकट कर देता है। कारिका में जिस 'अतनुधनुषः, पद का अंकन है, उसकी व्यञ्जना को दो प्रकार से समझना होगा। अतनु-शब्द का अर्थ हैं अनङ्ग अथवा काम। अर्थात् बहिर्विषय में रति। और अतनु = जो तनु अथवा सूक्ष्म नहीं है, अर्थात् स्थूल। जो इस द्विविध अतनु का धनु है अथवा सन्धान की सीमा है, उसके पार नाम के उपनीत होने पर ही उसका रूपान्तर आंतर विलास के रूप में होता है। अभी भी नाम कीर्त्तन का विराम नहीं है। अब साधक के समस्त जीवन-पुंज को आप्लावित करते हुए एक अपरूप वीणा स्वयं को विचित्र राग तथा छन्द में लीलायित करती है। इस आन्तर विलास की गाढ़ता अनवच्छिन्न रहने पर अन्त में जिस परम निबिड़ माधुरी का आस्वादन प्राप्त होता है, उसे ही कारिका में "माध्वीमग्नं हृदि विलसनं" कहा गया है।

वास्तव में यह कहने का विषय नहीं है। बोलने की चेष्टा करने पर केवल यही कहा जा सकता है "आत्मरसैक सारं"। आत्मा स्वयं की एक अनिर्वचनीय अपरिसीम रस और ज्योतिरूप में उपलब्धि करके उस परम उपलब्धि की गम्भीरता में शान्त समाहित हो जाती है। तब किसका और कैसे कीर्त्तन होगा? यह विशेष रूप से चिन्तन करो कि नाम का आश्रय लेकर चलते-चलते तीन सन्धियों को पार करना होगा। प्रथम सन्धि का सन्धान तब मिलता है जब हमारा तरुण जपोल्लास स्फुरित होता है प्रौढ़रूप में। उल्लास की तरुणावस्था में अज्ञातरूप से किंचित आविलता तथा चपलता स्थित रह जाती है। जबतक इनका शोधन नहीं हो जाता, तबतक विमल प्रगाढ़ उल्लास आत्मप्रकाश नहीं करता। इसे अवर सन्धि कहते हैं। गुरुशक्ति को पुरोभाग में रखकर मुख्यतः आत्मकृपा द्वारा ही यह सन्धि उत्तीर्ण होती है। तदन्तर यात्रा का प्रारंभण होता है जप कीर्त्तन की दिव्य आनन्द

विलास युक्त रसोज्वल भूमि से। यहाँ भी जबतक एक और सन्धि उत्तीर्ण नहीं हो जाती, तबतक अतनुधनु वाली सीमा उत्तीर्ण नहीं हो सकती। यहाँ उल्लास की गाढ़ता विमलता से ही गन्तव्य की प्राप्ति नहीं हो जाती, प्रत्युत् यहाँ उसका विकास आन्तर ज्योतिरूप में अपेक्षित होता है। यह है वर सन्धि। भगवान की कृपा को पुरोभाग में रखकर गुरु की कृपा से इस सन्धि को पार किया जाता है। अतः यहाँ शरणागति के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है।

अन्त में 'आत्मरत्यैकसारम्' रूप से परम उपलब्धि के लिये अन्तिम सन्धि को भी पार करना पड़ता है। यह है चरम अथवा वरिष्ठ सन्धि। यहाँ पर आत्मकृपा तथा गुरुकृपा की धारा एकमात्र भगवत् कृपाधारा में मिलित हो जाती है। अब इस एक ही कृपा को विभूति और विलास रूप में जान सकना सम्भव हो जाता है। इन सन्धियों का क्रमशः अतिक्रमण करने से ही यात्रा सफल होती है अन्यथा यात्रा की असम्पूर्णता के कारण वह यात्रा ही अवांछनीय तथा अशोभन सी प्रतीत होने लगती है।

ये अवाँछनीय परिणाम होते हैं मात्रता, स्तब्धता, सम्मूढ़ता। अन्य प्रकार से यह है छन्दोहीनता, उच्छृङ्खलता, भद्रहीनता। 'अतनु' शब्द को हमने दो प्रकार से समझा है। किन्तु इस शब्द की अन्य प्रकार की भी व्यञ्जना है, उसे जानना होगा। अतनु अर्थात् योगवाशिष्ट आदि में उक्त तनुमानसा भूमि के पार स्थित शुद्ध सत्तापत्ति भूमि। अतनु = जिसका तनु है अ वर्ण। साधारणतः अ वर्ण के द्वारा तलवृत्ति की सूचना प्राप्त होती है। अर्थात् कोई क्रिया अथवा भाव जिस तल अथवा भूमि में चल रहा है, 'अ' वर्ण उसे उसी तल में स्थापित कर देता है। यदि वह उसी तल में स्थापित हो गया, तब उसे किसी उर्ध्वतर अथवा गम्भीर तल का सन्धान कैसे मिलेगा ? अतएव आ, इ, उ, ऋ प्रभृति स्वर का आश्रय लेकर स्थानिक तलवृत्ति को (Static Plainer Action) काटकर वेधवृत्ति, लम्बगावृत्ति इत्यादि का प्रवर्त्तन करने के लिये यत्न करना होगा। इसके अभाव में शक्ति वर्धिष्णु (डाइनेमिक) नहीं होती।

उदाहरणार्थ अउम उच्चारण में म में निहित अकार मानों मकार को एक ही तल (वैखरी) में दबाकर रख रहा है। इस दबाव (कन्सट्रेन्ड फैक्टर) को हटाये बिना 'म' कार के उस पार स्थित अर्धमात्रा का जागरण नहीं होता। अतः साधक को प्रणव के आदि तथा अन्त में 'अ' कार की तलवृत्ति को काटकर उच्छिन्न करने का यत्न करना चाहिये। प्रारम्भ में 'उ' कार की सहायता से ध्वनि का विस्तार कर लेना चाहिये। अन्त में उस विस्तारित ध्वनि को पुनः संकुचित करके यथासाध्य सूक्ष्म में ले जाना चाहिये। जैसे बीज से पादप, पादप से पुनः बीज ! अतः यह लक्षित होता है कि हम किस उपाय के द्वारा नाम की 'अ' कार

जनित तलवृत्ति को काटकर स्वच्छन्द गति से उर्ध्व अधः सर्वत्र उसका अकुण्ठ प्रसार कर सकते हैं। अन्यथा नाम की यथार्थ शापमुक्ति अथवा पापमुक्ति नहीं हो सकती।

यहाँ लक्ष्य करो कि 'अतनु' रूपी रहस्य शब्द के द्वारा इस प्रक्रिया का निर्देश दिया जाता है। जैसे अतनु = अ + तन् + उ। तनु अर्थात् विस्तार! अतएव 'अ' का विस्तार उ कार से करने का निर्देश इस शब्द द्वारा प्राप्त होता है। विस्तार का तात्पर्य है किसी सीमा की ओर अभिमुखी प्रसार। प्रणव में विन्दु से नाद, पुनः नाद से बिन्दु—इस प्रकार से दो सीमाओं की ओर अभिमुखी दो प्रकार का विस्तार सूचित हो रहा है। प्रथम विस्तार को उदय और द्वितीय विस्तार को विलय अथवा संकोच कहते है। इस प्रकार से प्रणव का व्याहरण होने पर वह यथार्थतः एक 'महाचक्र' के रूप में आवर्त्तित होने लगता है। इस महाचक्र का व्यवहार वाराही शक्ति करती हैं। वे इसके द्वारा वसुन्धरा के अतल स्तब्धभाव और तमिस्त्रा की घोरता को काटते हुये उर्ध्वचेतना के आलोक तथा आनन्द की उत्तोलना करती हैं। पुनः हम 'अतनु' शब्द का 'काम' रूपी अर्थ ग्रहण करते हैं। वर्तमान कारिका में इसी काम के उत्तोलन और उद्वर्त्तनार्थ (सब्लिमेंशन) भूमित्रय का प्रदर्शन किया गया है।

प्रथम भूमि है काम-काम। इसके सम्बन्ध में गीता में कहा गया है 'स शान्तिमाप्नोति न कामकामी'। तरुण उल्लास से प्रौढ़ उल्लास में आरूढ़ होने के लिये इसी 'काम-कामी' भाव को काटकर उठना होगा। तत्पश्चात् द्वितीय है 'नाम-काम'। 'नाम काम' का उदय होने पर इन्द्रिय तथा विषयरूप काम विगलित हो जाता है और नाम ही एकनिष्ठ काम के रूप में उदित हो जाता है। अन्त में आप्तकाम। यही आत्मा है, परन्तु यह देहात्मा, चिदात्मा, जीवात्मा और प्रज्ञानात्मा नहीं है। इन सबमें 'गतिर्भत्ता प्रभुः साक्षी' इत्यादिरूप से जो अवस्थित हैं, एकमात्र उनके प्रति ही 'काम' है, यह उपलब्धि करना आवश्यक है। यहीं पर है काम की परम चरितार्थता और विश्रान्ति। 'नामकाम' ही इस परम चरितार्थता को प्राप्त कराने वाला सेतु है। अतएव सेतु-स्वरूप नाम का निष्ठापूर्वक भजन करो।

सामवेद के प्रसिद्ध शान्तिपाठ में यह प्रदर्शित किथा गया है कि किस प्रकार से जपध्यान द्वारा हमारा यह अलसितभाव क्रमशः उल्लसित, विलसित तथा स्वलसित भाव में उन्नीत हो सकता है। अपनी आत्मा तथा आत्मा से बाहर जो विचित्र विश्व है, इन सब की मर्मवस्तु है 'आनन्द'। हमारे साधारण अनुभव के विश्व की और हमारी यह मर्मवस्तु कुण्ठित और लुण्ठित सी पड़ी है। यही है हमारा तथा विश्व का अलसित भाव। यह भाव कैसे कटेगा? कौन इन्हे "अनल-

सकृत्" करेगा ? इसीलिये शान्ति पाठ मन्त्र के अन्त में जो साधन अंकित है, जो आकृति ध्वनित हो रही है, हमारे जपध्यान का उनके साथ परिचय होना चाहिये। अर्थात् हमें उस आकृति अथवा आस्पृहा को अपने अन्तर में जगाना होगा और उस अग्नि में इस साधनरूप होम को करना होगा, जिसे आत्मनिरत पुरुष स्वभावतः करते हैं और जिसके सम्बन्ध में उपनिषद् कहते हैं 'तदात्मनि निरते यः उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु"।

इस आन्तर होम के चलते रहने पर हमारा और विश्व का अलसित भाव कट जाता है। इस होम के अभाव में यथार्थ आप्यायन की सम्भावना ही नहीं रहती। अतः कारिका में कहा गया है कि पूर्वोक्त आकूति एवं साधन जब जीवन में प्रारम्भ हो जाता है, तभी आप्यायन की सम्भावना हो जाती है, इसके पूर्व नहीं होती। "आप्यायन्तु" मन्त्र के द्वारा अपनी आन्तर होमाग्नि को उद्दीपित तथा उल्लसित कर लो। तभी समस्त प्रियों से भी प्रिय अमृतधारा का सुयोग प्राप्त हो सकेगा (प्रेष्ठ पीयूषपानम्)।

यह पीयूषधारा तो सनातनी है, तथापि इसके लिये क्या हम अपनी आन्तर वेदी में यथार्थ पिपासा की अग्नि को प्रज्वलित कर सके हैं ? जब तक हमारी साधना और आन्तरिक आस्पृहा दृढ़ नहीं होती, तब तक उस श्रेष्ठ पीयूषधारा का आप्यायन वास्तविक रूप से नहीं हो सकता। वास्तविक आप्यायन है 'नेसेसरी प्रीकण्डीशन'। प्रथम आप्यायन कैसे होता है ? हम अपने सम्बन्ध में, अपने वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र तथा अंगों के ही सम्बन्ध में अधिक चिन्तन करते हैं। यद्यपि हम स्वयं को आत्मनिरत कहते हैं, तथापि हम अंगनिरत ही हैं। अतः प्रथम आप्यायन के समय हमारे अंगसमूह में उल्लास परिलक्षित होने पर भी वह वास्तविक उल्लास-स्वात्मोल्लास नहीं है। उस समय प्रतीत होता है कि मानो इन विविध अंगों को कोई आमंत्रण देकर, स्वयं कहीं संगोपित हो गया है। अतः कारिका में कहा गया है कि अंगोल्लास होने पर भी जो अंगी अथवा आत्मा हैं, उनका परिलसन शेष रह गया है।

वह परिलसन कैसे होगा ? जब तक अंगी अथवा आत्मा को ब्रह्म (भागवती सत्ता) से विच्छिन्न करके रक्खा गया है, तब तक यह परिलसन सर्वतोभाव से नहीं हो सकता। तुम्हारे अज्ञान और उनके (भागवती सत्ता के) अस्वीकार का परिहार करना ही होगा। उन्हें भी (अपनी ओर से) अपनी अचिन्त्य मायाशक्ति को संवरण करके तुम्हे अपने में आत्मसात् करने के लिये आगे आना ही होगा। यह वैसा है जैसे नदी तथा नदीनाथ का सम्बन्ध। नदी से अपेक्षा है अकुण्ठ अकृपण आवेग तथा आह्वान की ! नदीनाथ से अपेक्षा है अहैतुक महान् "उच्छ्वास"

और आमन्त्रण की। शान्तिपाठ मंत्र में इसे अत्यन्त सुन्दर रूप से कहा गया है "माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोद्"। दोनों ओर से, दोनों पक्ष से इस मायिक निराकरण का निराकरण होना चाहिये! निराकरण शब्द भी राहस्यिक है। इस शब्द में जो 'आ', है, उसकी द्विविध व्यञ्जना है व्याप्ति तथा सीमा! अतः 'अनिराकरण' होने के लिये समस्त सीमाओं को भंग करना होगा। साथ ही अंतिम परिसीमान्त तक जाना होगा! अच्छा! तुम्हारी आन्तर वेदी पर होमानल ने तो अपरूप उल्लास और विलास के द्वारा स्वयं को धन्य कर लिया, किन्तु इस होम की पूर्णाहुति कहाँ और कैसे हो?

एक क्षुद्र धूलिरेणु से लेकर महान् आत्मा पर्यन्त सब कुछ ब्रह्म है। उसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। "सर्वं ब्रह्मोपनिषदम्", "सर्वं ब्रह्मोपनिषदमिति प्रास्तमग्नौ तदाज्यम्"। अंग, अंगी अथवा अंगस्वामी, और अंगी स्वामी— इन तीन सवन अथवा आप्यायन में यह विश्वापावन हवन समापनीय है।

भावना करो कि तुम्हारा जीवन ही वेदी है। वहाँ जिस सर्व आप्यायन हवन का अनुष्ठान करोगे क्या उसके लिये उपयुक्त समिध का आहरण किया है? उपनिषद ने आत्म निरत पुरुष के जिस शम-दम आदि धर्मों का वर्णन किया है क्या वही सब समिध है? अच्छा पहले समिध का आहरण होगा अथवा अग्निचयन होगा? बहिर्याग में समिध लाकर तब अग्नि चयन अथवा मन्थन सम्पन्न होता है। तुम जिस आन्तर याग का अनुष्ठान कर रहे हो, उसमें अग्नि का उद्दीपन प्रथमतः आवश्यक है। अर्थात् पहले चाहिये आकूति अथवा आस्पृहा (एस्पिरेशन)। इसकी विद्यमानता से तथा उपयुक्त रूप से वर्धित होने पर शम-दम आदि धर्म का साधन सम्पन्न होने लगता है। इस आकूति के सम्बन्ध में वेदमन्त्रों में कहा गया है "ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु"। अब आप्यायन रूप हवन प्रारम्भ हो जाता है। इस हवन के पर्यायित्रय का समापन करना होगा। प्रथमतः वाक् प्राण आदि अंगों का आप्यायन। द्वितीयतः अंगी अथवा अंगस्वामी का आप्यायन। यह होता है "माहं ब्रह्म निराकुर्यां" प्रभृति मन्त्र के द्वारा। शेष काल में जो अंगस्वामीगण का भी स्वामी है, उस उपनिषद् ब्रह्म के चरम आप्यायन का भी समापन करना पड़ता है।

अब स्वर के दृष्टिकोण से देखो कि इस आप्यायन मन्त्र में इक्कीस बार आकरण हुआ है। विशेष रूपेण आकरण होना ही व्याकरण है। प्राण का व्याकरण ही छन्दः है। जबतक आकरण ऋतच्छन्दः में नहीं होता, तब तक किसी भी समर्थ आकृति (अथवा पैटेर्न) की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जो कुछ घनीभूत रूप से 'जमा-एकत्र' हो चुका है, यदि उसे भग्न करके किसी समर्थ शोभन आकृति में लाना है, तब इसी आकरण का प्रयोजन आ पड़ता है। देखना अन्त वाले ३ शान्तिवचनों

की आकार गणना के द्वारा यह इक्कीस संख्या पूर्ण हो जाती है। यह आकस्मिक संख्या नहीं है। जैसे 'जातवेदसे' ऋक्मंत्र में हम 'आ' स्वर को आठ बार प्रयुक्त होते देखते हैं। इस इक्कीस संख्या की व्यञ्जना मनोयोग पूर्वक करो। 'स्वाहा' रूपी अन्तिम 'आ' का मूलरूप से उच्चारण करने पर यदि 'आ' की तीन मात्रा उपलब्ध होती हैं, तब 'ॐ भूः स्वाहा' इत्यादि सप्तव्याहृति होम में २१ बार आकरण परिलक्षित होता है।

पंच ज्ञानेन्द्रिय, पन्च कर्मेन्द्रिय, पंचप्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, जीवात्मा प्रभृति इक्कीस तत्वों का आप्यायन साधित होता है, इसी वेदोक्त आप्यायन मंत्र के द्वारा। इस प्रसंग में आप्यायन मंत्र की यंत्ररूपा आकृति का स्मरण करो। प्रथमतः अंग समूह का आप्यायन है। अब यह विचार करो कि इन अंगों की कितनी संख्या का वर्णन किया गया है? वाक्-प्राण से प्रारम्भ करके 'इन्द्रियाणि च सर्वाणि' पर्यन्त १६ संख्या है। अब यह भावना करो कि मानों ये षोडश अंग एक षोडशदल पद्म के समान प्रस्फुटित हो रहे हैं। यह है अंगों का आप्यायन। इस षोडशदल की कर्णिका में एक भास्वर मण्डल विद्यमान रहता है। यही है अंगी अथवा अंगस्वामी जीवात्मा का पीठस्थान। अब इन अंगस्वामी का आप्यायन करना होगा।

इस आन्तर आप्यायनार्थ कर्णिका की ज्योति के अन्दर एक निभृत कमल का ध्यान विकसित करो। यह कमल है पंचपर्वयुक्त। अतः इसकी भावना पंचदल के रूप में करो। मंत्र में आत्मा के सूचक (लिंग) अनेक पद व्यवहृत हुये हैं, जैसे मम, अहं, में, मयि, मा। इनमें से अ, इ, ए, आ प्रभृति वर्णों का आहरण करो। और 'अस्तु' एवं 'सन्तु' इन दोनों में स्थित गुरुकृपा संचाररूप 'उ' वर्ण के पूर्वोक्त चार वर्णों के साथ ग्रहण करो। इस प्रकार अ, ई, आ तथा उ, ए प्रभृति पंचवर्ण को पंचदल कमल के दल रूप में ध्यान द्वारा प्राप्त करो।

इन मम, अहं, में, मयि, मा को स्पर्श करते हुये जो वर्ण स्थित है, वह है 'म'। सर्वशुद्ध इन ६ वर्णों को लेकर उनका उपयुक्त रूप से विन्यास करते हुये "ॐ ऐं ॐ" मंत्र का उद्धार करो। ध्यान करो कि आत्मा का साक्षात् आप्यायनरूप यह त्र्यक्षर मंत्र ही षोडशदल कमल की कर्णिका के आभ्यन्तर में स्थित पंचदल कमल के केन्द्रस्थ त्रिकोण यंत्र के रूप में देदीप्यमान है। इस त्रिकोण के शिरोभाग में 'ऐं' है और दोनों ओर ॐ-ॐ विद्यमान है। अन्त में तुम इस समग्र ध्यान को एक अखण्ड ज्योति के आधार में प्रतिष्ठित करते हुये शान्त हो जाओ। यही है आप्यायन का शेष।

अब प्रश्न उत्थित होता है कि क्या यह ध्यान कल्पना मात्र है? इसे कल्पना कैसे कहते हैं? यदि जप ध्यान की सहायता से तुम्हारा आप्यायन कर्म सम्यक् रूप

से चलता रहता है, उस स्थिति में यह निश्चित है कि तुम्हारे आप्यानन मन्त्र का सूक्ष्म एवं समर्थ ध्वनि स्पन्दन स्वयं को इस प्रकार एक आकृति में तुम्हारी आन्तर दृष्टि के सम्मुख प्रस्फुटित कर देता है। साधक विशेष के ध्यान में जो आकृति प्रस्फुटित हुई है, उसकी तुलना में अन्य किसी साधक के ध्यान में प्रतिफलित हो रही आकृति में कथंचित विलक्षणता रहना स्वाभाविक है। क्रिया साधना स्वच्छन्द रूप से चलते रहने पर आकृतिगत मौलिक सादृश्य परिलक्षित भी होने लगता है। यह भी लक्ष्य करो कि कमल कर्णिका की नाभि (केन्द्र) में जो प्रणव पुटित बीज स्थित है, वह (ऐं) है वाग्भव गुरुबीज।

ऐसी स्थिति में गुरुशक्ति एक बार केन्द्र स्थल में स्थित रहते हुये अंग, अंगी और अंगस्वामी के त्रिविध आप्यायन यज्ञ का समापन कर लेती है। इस शक्ति को सहायक और सुदृढ़ रूप से प्राप्त करने पर ही आप्यायन का समापन हो सकेगा। केवल अहं, में, मा, मयि आदि आमित्वसूचक पद तथा भाव के द्वारा यह आप्यायन महाकर्म सम्पादित नहीं हो सकता। अतः अस्तु एवं सन्तु रूपी पद से श्री गुरु नाम के 'उ' का आहरण करना आवश्यक है। यह सम्भव हो सकता है सर्वतोभावेन आत्मसमर्पण के द्वारा।

तत्पश्चात् जपध्यान के आनुषंगिक अंगन्यासादि के अनुष्ठान का वर्णन कारिका में अंकित है। यंत्र के जाड्य तथा अलसित भाव को उच्छिन्न करने के लिये मंत्राक्षरों द्वारा उपयुक्त न्यास कर्म करना होगा। यहाँ यंत्र का तात्पर्य है देह, प्राण, चित्त का संघात। इनमें से देह का निर्माण कतिपय लौकिक स्थूल उपादानों से हुआ है। इस प्रकार का दृढ़ संस्कार हममें है। अतः विचार उत्थित होता है कि यह देह प्राण तथा चित्त सम्पर्क में एक विसदृश विजातीय वस्तु है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि विसदृश से विसदृश का और विजातीय से विजातीय का घनिष्ठ सम्पर्क संभव नहीं होता। इनका कार्य 'आमने-सामने' सम्यक् रूप से चलता है (परन्तु यह घनिष्ठ सम्पर्क नहीं है)। ऐसी स्थिति में प्राथमिक प्रयोजन है इस स्थूल शरीर को किसी भी प्रकार से प्राण तथा मन के समपर्याय में ले आना। प्रथमतः अंगन्यास के द्वारा विसदृश का सदृशीकरण भावना में करना होगा। उसके पश्चात् उसे अनुभूति में ले आना होगा। यह हो जाने पर एक ऐसा अभिनव संस्कार उदित होता है जो स्थूल शरीर के भौतिक उपादानों द्वारा निर्मित न होकर प्राण तथा अन्तःकरण का 'सगोत्र' हो जाता है।

शरीर की महाक्षरमयी भावना के द्वारा इस संस्कार का उदय तथा स्थिति होती है। अर्थात् शरीर का एक-एक अंग एक-एक मंत्राक्षर की ही प्रकटित तथा मूर्त्त अभिव्यक्ति है। जैसे एक बीज में जो शक्ति घनीभूततः विद्यमान रहती है, उस बीज से अंकुरित प्रत्येक अवयव उसी शक्ति के एक मूर्त्त विकास हैं। हमें इस

सम्बन्ध में कोई संशय नहीं है कि मंत्राक्षर क्या हैं ? अतः मंत्राक्षर रूपी सेतु का आश्रय लेते हुये इस स्थूल देहयंत्र को प्राण मन तथा उर्ध्व चेतना के समपर्याय पर्यन्त उन्थित कराना ही होगा। यदि हम स्थूल यंत्र को 'भूः' कहें, उस स्थिति में अध्यात्म भूमि 'स्वः' है और इन दोनों का संयोजक है भुवः। इस प्रकार से साधकगण स्थूल का उन्नयन-उद्वर्त्तन करते हैं भावनारोप (आटो सजेशन) की सहायता द्वारा ! ऋत् तथा मित्रच्छन्द में जपध्यान कर्म जितना अधिक चलता रहेगा, उसी परिमाण में स्थूल स्पन्दनों का विसदृश तथा विजातीय भाव (डिस-हारमोनी तथा एन्टीपैथी) दूर होकर उनका उर्द्धतन सत्ता के स्पन्दन के साथ सादृश्य तथा साजात्य (हारमोनी और सिम्पैथी) प्रतिष्ठित होता जायेगा। वीणा अथवा कोई भी वाद्य बजाने से ऐसा ही होता है। स्वर बंधा होने पर भी वीणा के अंग समूह आलापित राग के छन्द का साथ नहीं देते, परन्तु गुणी के अंगुलिस्पर्श से आलापन जितना ही बढ़ता जाता है, वीणा की कुण्ठा तथा संकोच उतनी ही मात्रा में भंग होते हुये उसमें से रणन तथा अनुरणन का माधुर्य चमत्कृत रूप से प्रतिफलित होने लगता है। मानों तब वह अवाक् होकर सोचता है कि मेरे इस काष्ठ तथा तारों से निर्मित ढ़ाचें में कोई छन्दोकुहकी अब तक निद्रित सा पड़ा था, इस बार उसका जागरण संभव हो सका है। साधक के स्थूल देहयंत्र के सम्बन्ध में भी यही बात है। इसका अब तक का जो परिचय अथवा "कारोबार" था, वह अब साधना के प्रभाव से अभिनवरूप से अपरूप आकृति ग्रहण कर चुका है। यही है न्यास अनुष्ठान का तात्पर्यार्थं तथा प्रयोजन !

तत्पश्चात् न्यास के अनन्तर भूतशुद्धि ! भूतशुद्धि हमारे स्थूल अस्तित्व से प्रारम्भ होकर सूक्ष्म-सूक्ष्मतर एवं परमसूक्ष्म पर्यन्त की एक उर्ध्वगामिनी धारा है। गुरुशक्ति के निर्देशानुसार साधक को इस धारा का आश्रय लेना चाहिये। सभी साधक एक ही क्रम अथवा प्रणाली के द्वारा उर्ध्व प्रवाह का अनुसरण नहीं कर सकते। जपकाल में इस अभ्यारोह प्रक्रिया को एक विशेष क्रम से क्रमशः शोधित और समर्थ कर लेना चाहिये। प्रथमतः जप चलता है क्षितितत्व में। इस समय जप में क्षितितत्व के कतिपय धर्मों का प्राधान्य दृष्टिगोचर होता है। इस जप को क्रमशः अप्, तेज, वायु एवं आकाश प्रभृति उर्ध्व तत्वों में ले जाना चाहिये। इस प्रक्रिया द्वारा क्रमशः एक एक तत्व के रोधक और बाधक लक्षण कट जाते हैं और जप का महोदय तथा अभ्युदय होने लगता है। उदाहरणार्थ अपतत्व में उन्नीत होने पर जप सावलील और स्वच्छन्द गतियुक्त होने लगता है। उसकी रुक्षता तथा शुष्कता कट जाती है और उसके स्थान पर एक सरस स्निग्ध भाव परिलक्षित होने लगता है। तदनन्तर तेजःतत्व में उन्नीत होने पर अन्तर्निहित शक्ति का अथवा तेज का रुद्ध उत्स उन्मुक्त हो जाता है। अब जप में वीर्यवत्ता तथा अमोघत्व का

संचार होने लगता है। वायुतत्व मे जप की वैयक्तिकता और बद्धभाव दूरीभूत होने लगता है और व्यक्ति का जप अब एक विराट जप रूप से प्रतिभात होने लगता है। अन्त में आकाश तत्व में जपःस्थिति होते ही बन्धन मुक्त, सीमामुक्त महासागर अपनी लीलायित निखिल वीचिमाला का संवरण करके एक परम प्रशान्ति तथा मौन में डूब सा जाता है।

पहले पृथ्वी तत्व (क्षिति) से प्रारंभ करते हुये आकाश पर्यन्त जप के अभ्यारोह का जो क्रम वर्णित है, उस अभ्यारोह को साधक अपने साधन में मिला सकता है, इसका वर्णन कारिका में किया गया है।

अकारादि वर्णमाला की शक्ति अचिन्त्य तथा अमेय है। इस शक्ति के जठर से सर्वविध शक्ति उत्पन्न होती है, अतः यह मातृका है। हम चतुर्दिक जिस वर्णमाला के द्वारा व्यवहार कर रहे हैं, उनमें इस अमेय मातृका शक्ति का एक अत्यंत सामान्य अंश ही कार्यरत है। शेष सब कुछ प्रसुप्तवत् स्थित है। यह प्रसुप्त शक्तिराशि हमारे शब्दों में कुण्डलिनी है। जपादि साधनों के द्वारा यह जाग्रत होती है। जिस नाम अथवा बीज का जप का रहा हूँ, यदि वह उपयुक्त भाव तथा छन्दः में चल रहा है, उस स्थिति में उसके मध्य से कोई एक ध्वनि अक्ष (Axis) के समान निर्गत हो जाती है। यही अक्ष कहीं है आ, इ अथवा उ इत्यादि। स्वर की जड़ता और छन्द का संकोच काटने के लिये, उनका अकुण्ठित प्रसार कराने के लिये "आ" का विशेष उपयोग है। 'इ' वर्ण में लम्बगा तथा वेधवृत्ति युगपत् उदित होते ही आवर्त्तन तथा उद्वर्त्तन एक साथ चलने लगता है। अर्थात् तब होता है "अपवर्ड स्प्रिचुअल मूवमेन्ट"। सभी वर्णों में आकर्षणी तथा विकर्षिणी गति का भी प्रतिफलन परिलक्षित होता है। विकर्षिणी गति को उच्छिन्न करते हुये आर्कर्षिणी वृत्ति को प्रारंभ होने देना चाहिये। इसे उत्तरोत्तर उर्ध्वतन ग्राम में ले जाने में 'ऋ' वर्ण का विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है। जैसे मृडानी, कृष्ण, नृसिंह, हृषीकेष आदि नाम!

यहाँ यह मान लो कि तुम्हारा जप वैखरी में चल रहा है। अन्तर के भाव तथा व्याहरण छन्द मित्रछन्द रूप हों, इस सम्बन्ध में सजाग रहना चाहिये। जब जप मित्रछन्दः में चलता है, तब तत्काल यह ज्ञात होने लगेगा कि जप में से मातृकाशक्ति किसी एक विशिष्ट स्वर अथवा ध्वनिरूप से हमारे उपर कृपा कर रही है। यह है कुण्डलिनी जागरण की प्रथम सूचना। इस अभिव्यक्त स्वर अथवा ध्वनि का आश्रय अक्षरूप से लेनें पर जप द्वारा मातृका शक्ति का मन्थन होने लगता है। परिणाम यह होता है कि जो जप अभीतक क्षिति तत्व में चल रहा था, उस तत्व की एक शब्दमयी तथा वर्णमयी आकृति उद्भूत होने लगती है। तब यह विदित होता है कि वर्णमालामयी मातृका के जठर से कतिपय विशेष वर्ण हमारी उपलब्धि

में आकर हमारे जप के आधार क्षिति तत्व को उसकी निजस्व आकृति तथा छन्द में प्रतिष्ठित कर रहे हैं। अब यह सम्यक्‌रूप से विदित होगा कि क्षितितत्व का शुद्ध स्वभाव तथा निजस्व छन्दः क्या है। जब तक यह ज्ञात नहीं हो जाता, तब तक क्षितितत्व कभी भी हमारे जप को अपने बन्धन से मुक्त नहीं करता।

किसी के बंधन से मुक्ति पाने के लिये उसकी यथार्थ प्रकृति तथा छन्दः को जानना होगा। मूलाधार चक्र में जो चार वर्ण पद्म के चतुर्दल में विन्यस्त रहते हैं, उन चारों वर्णों को इसी प्रकार से प्राप्त करना होगा। किसी केन्द्र का आश्रय लेकर जब तक कोई क्रिया चलती रहती है, तब तक उस क्रिया की दो विपरीतमुखीन वृत्तियों को एक निर्दिष्ट अनुपात में रहना ही होगा। इनको आकर्षिणी तथा विकर्षिणी कहा जा सकता है। यहां यह स्मरण रखना होगा कि यदि क्रिया को उक्त केन्द्र का अतिक्रमण करके किसी उर्ध्वकेन्द्र का आश्रय लेना पड़े, उस स्थिति में इनके अनुपात को बदलना आवश्यक है। इसके प्रथम केन्द्र की आकर्षिणी शक्ति पराभूत होकर उर्ध्वकेन्द्र के प्रभाव को अपने में प्रसारित करने लगती है। यह स्व छन्दः में होने पर प्रथम केन्द्र के सामर्थ्य में क्रिया को ले जाना पड़ता है। अर्थात् एक ऐसी सन्धि रेखा है, जहां जाने पर प्रथम केन्द्र को बाध्य होकर यह कहना पड़ेगा कि "इस बार तुम मेरे चंगुल से बाहर चले गये हो।" वह अपने चंगुल से आसानी से छुटकारा नहीं देता। अतः उसके पाश को उच्छिन्न करके सम्यक्‌रूप से पहचान लेना होगा। यह भी जान लेना होगा कि उसके सामर्थ्य की पहुँच कहाँ तक है!

इस प्रकार प्रथम केन्द्र अथवा चक्र से होकर द्वितीय केन्द्र में अधिरोहण करना पड़ता है। यह अधिरोहण सहसा तथा बलपूर्वक संभावित नहीं होता। प्रथम केन्द्र में जो कतिपय वर्ण आविर्भूत होते हैं, उन्हें स्वभाव तथा स्व छन्दः में सम्पृक्त रहने देना चाहिये। उन वर्णों की 'व्यूढ़' से मुक्ति हो जाने पर हमे उर्ध्वस्तरीय केन्द्र के अधिकार तथा शासन में आना होगा। इस उर्ध्वकेन्द्र में गति होने पर अन्य कतिपय वर्ण (छ संख्यक) आविर्भूत होते हैं। ये छ वर्ण वहाँ के तत्व (अप्) को स्वभाव तथा स्व छन्द में प्रतिष्ठित रखते हैं। विज्ञान के एटामिक नम्बर अथवा क्रोमोजोम नम्बर के साथ तुलना करने पर यह विदित हो जाता है। तत्पश्चात् तेजःतत्व में (नाभि चक्र में) दश वर्ण हैं। अनाहत में १५ हैं। विशुद्ध में १६ तथा आज्ञा में दो वर्णों की स्थिति है।

मूल में जो अव्यक्त मातृका शक्ति विद्यमान रहती है, उसका उपयुक्त ध्वनि और छन्द की सहायता से मन्थन करने पर उत्तरोत्तर समस्त चक्रों अथवा केन्द्रों में उनकी प्रकृति और छन्दः नियामक विशेष-विशेष वर्ण समष्टि की अभिव्यक्ति होने लगती है। इस प्रकार चक्र, उसकी आकृति एवं प्रकृति नियामक वर्णमाला;

द्वारा निरूपित विशेष तत्व और चेतना की 'भूमि से प्रारम्भ करते हुये (अर्थात् वैखरी जपभूमि से प्रारम्भ करते हुये) परम परिसीमा पर्यन्त का अनुभव करना ही वास्तविक भूतशुद्धि है। अतः भूतशुद्धि=साधक जीवन में क्रमशः कतिपय केन्द्रों (चक्रों) को उन्मिषित करके उन्हे सक्रिय बनाना। इस उन्मेष के द्वारा अध्यात्म जीवन की सत्ता की उर्ध्वतन स्तरों में प्राणप्रतिष्ठा हो जाती है।

केन्द्रों को चक्र भी कहा गया है। क्योंकि इनमें एक आकृतिगत् सादृश्य विद्यमान रहता है। अर्थात् प्रत्येक केन्द्र एक नाभि, कतिपय अर, एक नेमि अथवा परिमण्डलाकृति में सक्रिय रहते हैं। यह सब शक्ति के एक विशेष विन्यास हैं। इन विन्यासों की नियामिका (डिटरमेन्ट) है कतिपय विशेष वर्ण शक्ति। इन नियामक वर्ण शक्ति को केवलमात्र अथवा मुख्यतः वाह्य स्पन्दनगुच्छ (वेव पैटर्न) मानना भूल होगी। जो चित्शक्ति मूल में किसी एक अनिर्वचनीय स्पन्द रूप में स्वयं को प्राणरुपेण अभिव्यक्त करती रहती है, उसी की एक मुख्य प्राण की विशेष अभिव्यक्ति है वर्ण समूह। अतः वर्णशक्ति की पुराप्रकृति और पुराआकृति (पुरा=पूर्व) को विज्ञान के ग्रन्थागार में खोज कर भी पाया नहीं जा सकता। प्रधानतः चेतना तथा प्राण के उर्ध्वस्तर में जो स्पन्दन उत्पन्न होते हैं, उन मूल स्पन्दन का वाह्यरूप है हमारे कण्ठ के द्वारा उच्चारित वर्ण समूह ! इसलिये यह धारणा उचित नहीं है कि जिस वर्ण समूह के द्वारा कोई चक्र विघृत अथवा परिकल्पित है, वही वर्ण समूह हमारे कण्ठों द्वारा उच्चारित हो रहा है।

चक्र के नियामक को सम्यक रूप से आयत्त करने के लिये हमें स्थूल से सूक्ष्म भूमि में और सूक्ष्म भूमि से यथार्थ समर्थ ग्राम अथवा भूमि में जाना ही होगा। जैसे नाभि स्थित मणिपूर चक्र के नियामक हैं दश वर्ण। ये दशोवर्ण हमारे द्वारा उच्चारित अथवा श्रुतवर्ण कदापि नहीं है। हम यह देखते कि कोई भी शब्द सूक्ष्म पर्याय की किसी एक काष्ठा पर्यन्त उन्नीत हुये बिना समर्थ शब्द नहीं होता। विज्ञान के Supersonics द्वारा इसी काष्ठा का सन्धान चल रहा है और यह प्रतीत होता है कि किंचित सन्धान मिला भी है। इस प्रकार के समर्थ शब्द के अभाव में कोई भी शक्ति आकृति (पावर पैटर्न) गठित नहीं हो सकती। हम क्रमशः जिन विन्यस्त केन्द्र (चक्र) का उल्लेख कर चुके हैं, वे शक्ति गौरव एवं छन्दो महिमा में असाधारण भी हैं। किसी निम्नस्थ केन्द्र (चक्र) के साथ उर्ध्वस्थित केन्द्र का प्रधानतः व्यावृति युक्त सम्पर्क नहीं होता। अर्थात् उद्वर्त्तन और उन्नयन के लिये निम्नस्थ केन्द्र के सब कुछ को छोड़ना नहीं होगा। इसीलिये मन्थन की उपमा दी गई है। (मन्थन में सब कुछ छोड़ा नहीं जाता, प्रत्युत उसका सार ग्रहण किया जाता है।)। निम्नस्थ केन्द्र में भी उर्ध्वस्थ एवं उर्ध्वतन समग्र सत्ता की संभावना (अभिभूत रूप से) रहती है। इसे कहते हैं Latent dormant condition।

यहाँ उपयुक्त शक्ति, अक्ष तथा छन्दः को लेकर मन्थन कर्म करने पर उसमें एक आन्तर विश्लेषण प्रारम्भ हो जाता है। जो कुछ भी उर्ध्वगति में बाधक अथवा रोधक है, वह मन्थन द्वारा पृथक् होने लगता है। जो कुछ उर्ध्वगति का साधक तथा पोषक है, वह सब समाहृत होते हुये अग्रगति को समृद्ध करते हुये स्व छन्दः में प्रतिष्ठित करने लगता है। रोधक और बाधक को विष कहते हैं। साधक तथा पोषक ही अमृत है। साधक को चाहिये कि वह विष का परिहार करे और अमृत का आहरण करे। समस्त केन्द्रों में परिहार और आहरण कर्म (Elimintion and assimilation) चलता रहता है।

पहले जिस आकर्षणी तथा विकर्षिणी वृत्ति का उल्लेख किया गया है, उन वृत्तिद्वय का फल है आहरण तथा वर्जन। जप के मंत्र से यही विकर्षिणी शक्ति हमारे तथा विश्वसत्ता के विषभाग का वर्जन तथा परिहार कराती है और आकर्षिणी शक्ति हमारे तथा विश्वसत्ता के अमृतभाग का आकर्षण करती है। मंत्र में अधिष्ठित गुरुशक्ति का सर्वतोभाव से आश्रय लेने पर यह आकर्षण-विकर्षणात्मक क्रिया (मन्थन क्रिया) सम्यक् रूपेण संचालित होने लगती है। साधक की उर्ध्वगा गति के लिये सक्रिय इन आकर्षिणी-विकर्षिणी शक्ति की दो परम काष्ठा विद्यमान रहती है, यह भी उचित मान्यता है। यह है परम परिसीमाद्वय कृष्ण अथवा राम और नृसिंह रूपी पक्षद्वय। क्लीं तथा क्ष्रौं बीज। सर्वविध आसुरी शक्ति अथवा दैत्य-महाबल विदारण तथा निरसन में नृसिंह नाम परम समर्थ है। नीलकण्ठ और सितिकण्ठ नाम स्पन्दनों को उदासीन करने में परम समर्थ है। (उदासीन = Neutralize) ; बीजमंत्र की भी द्विविध वृत्ति होती है। गुरुशक्ति सहायक मित्रच्छन्दः के द्वारा वृत्तिद्वय का अनुपात अनुकूल रूप से प्राप्त करना चाहिये।

अनुपात विषमता और ग्रंथि को काटने के लिये तारा, दुर्गा, मां, राधास्वामी, अल्लाह नामक वर्ण महाशक्तिधर हैं। अरि (शत्रु) सम्वेग (मोमेन्टम) काटने के लिये 'मधुसूदन' सक्षम है। सुहृदों के परम शरण से मिलाने में 'गोविन्द' तथा 'मुकुन्द' नाम लेना चाहिये। 'नारायण' में आप्यायनी शक्ति है। वासुदेव में प्राणमयी अनिराकरण शक्ति है। गुरुशक्ति साधक पर प्रसन्न होकर उसकी साधना तथा साधना की उपलब्धि का एक केन्द्र से अन्य केन्द्र में उन्नयन तथा उद्वर्त्तन कराती चलती है। इस उद्वर्त्तन के पथ में साधारणतः षड्संख्यक स्तरों को और उनके अपने केन्द्रों को (सेन्टर आफ डायनामिक) उत्तीर्ण करते हुये अग्रसर होना पड़ता है। इन स्तरों की साधारण संज्ञा क्षिति, जल इत्यादि कही जाती है, लेकिन ये सब बाह्य जागतिक भूतसमूह नहीं हैं। इनमें मुख्यतः प्राण तथा चेतना के एक-एक विशेष धर्म ही लक्षणाक्रान्त रहते हैं। जैसे गणित शास्त्र में Space के तीन (तीन डाईमेन्शन), और टाईम कोआर्डिनेट की सहायता से समस्त विश्लेषण

किये जाते हैं, उसी प्रकार अध्यात्मविज्ञान में हमारी सत्ता की गति, स्थिति प्रभृति को इन छ कोआर्डिनेट (षट्चक्र) के माध्यम से विश्लेषित कर लिया जाता है। जो स्वयं षष्ट भूमि में रह कर इन सबकी अध्यक्षता करता है, वह है आज्ञा चक्र। यही है विशेष गुरुधाम।

इस गुरुधाम की आज्ञा पाकर ही निम्नस्थ समस्त चक्रों का मन्थन तथा उद्वर्त्तन सम्यक्रूप से चल सकेगा। यहां हम जिन शक्ति केन्द्र अथवा चक्रों की विवे-चना कर रहे हैं, वे शक्तिकेन्द्र हमारे सामान्य जीवन के केन्द्र कदापि नहीं है। ऐसे केन्द्र हमारे स्थूलदेह में मस्तिष्क, मेरुदण्ड प्रभृति स्थानों पर हैं, यह शरीर विज्ञान का अभिमत है। ये चक साधक के प्राण तथा चेतना का असाधारण उन्मेष तथा विकास सम्पन्न करने वाले केन्द्र हैं। जब तक साधक की चिच्छक्ति और प्राणशक्ति एक निर्दिष्ट 'मान' तक नहीं आ जाती, तब तक इन रहस्यावृत चक्रों का कोई भी सन्धान नहीं मिल सकता। साथ ही जब तक गुरुशक्ति को पुरोभाग में रखकर श्री भगवान की अनुग्रह शक्ति का अवतरण घटित नहीं हो जाता, तब तक साधक केवल अपनी शक्ति के द्वारा उस निर्दिष्ट 'मान' अथवा काष्ठा पर्यन्त उन्नीत नहीं हो सकता। यह बारम्बार कहा जा रहा है कि साधक की आग्रह शक्ति और उर्ध्वस्थ अनुग्रह शक्ति के सुसंगत परिणय से ही आध्यात्मिक रहस्यराज्य की सीमा में प्रवेश करने का "पासपोर्ट" प्राप्त हो सकेगा!

चक्रों को उर्ध्व एवं अधः क्रम से सज्जित करने का यह तात्पर्य नहीं है कि अधस्तन चक्र में प्राण और चेतना की केवलमात्र अधस्तन अभिव्यक्ति के साथ ही हमारा परिचय होता है। मूल में अथवा प्रारंभ में जो चक्र है, उन्हे पाशव किंवा आसुरी संस्कार (रिरंसा आदि) का केन्द्र नहीं मानना चाहिये। मूलाधार में भी मातृका शक्ति पूर्णभाव से विद्यमान रहती है। पता नहीं क्यों, वहाँ स्वयं को संवृत् किये रहती है। एक महाशक्ति की Spring के दबाव से, उस रहस्यमय 'चाप' से वह स्वयं को संकुचित रखती है। चक्र से चक्रान्तर के अभ्यारोह द्वारा यह Spiring का दाब किसी आकर्षणी-विकर्षणी शक्ति के प्रभाव से विदूरित होने लगता है। फल-स्वरूप मूलचक्र में अपिहित शक्तिराशि धीरे-धीरे अपावृत (अपावृणु) होने लगती है। अतः अभ्यारोह की रेखा ऋजुरेखा न होकर एक Spiral का आकार धारण करने लगती है,

अब, जो मूलचक्र में अपिहित और संकुचित थी, वह अपावृत और प्रसारित हो जाती है। चक्रों के (अध्यात्मसाधन द्वारा) अपेक्षाकृत, समुन्नत भूमि में स्फुरित होने पर भी, साधक को यह स्मरण रखना ही होगा कि प्रत्येक स्थान पर साधक-बाधक, अमृत-विष, दैवी-आसुरी सम्पदा का द्वन्द्व विद्यमान सा रहता है। इसी कारण पूर्वचक्र से उत्तरचक्र में उन्नयन के समय सावधानी पूर्वक परिहार तथा

आहरण कर्म चलाते रहना चाहिये। पूर्वकेन्द्र के द्वारा उत्तर केन्द्र का यथायोग्य आपूरण कर लेना आवश्यक सा है। अर्थात् उत्तर केन्द्र के लिये साधन कर्म करते समय पूर्वकेन्द्र का सब कुछ "नोच खसोट" कर फेकते हुये शून्य कर लेने से कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता। यही नहीं, ऋण का बोझ लेकर भी कार्य करते रहने से अग्रगति नही हो सकती। अतः इसी निमित्त पूर्व केन्द्र से यथेष्ट परिमाण में दैवी सम्पत्ति एक 'मूलधन' के रूप में लेकर उत्तर केन्द्र में आना ही होगा। यही है आपूरण। जैसे पूर्वचक्र अपनी आकृति से निरूपित आवर्त्तन वेग को उच्छिन्न करते हुये उत्तरचक्र के ग्राह्य-ग्रहण क्षेत्र में आता है, तब उसकी सम्पदा को ऐसे आकार तथा भाव में आना होगा जिससे उसे उत्तरकेन्द्र स्व छन्द के रूप में स्वात्मीकृत कर सके।

देखो, जैसे नीचे के केन्द्र में कोई क्रिया 'गुरु' होकर आयास-प्रयास साध्य रूप से चल रही है। यह है क्रिया का जाड्य अथवा जड़त्व। यह शक्तिकेन्द्र अथवा चक्र में साधारण मन्थनोद्भूत जड़ जाड्य नही है। यहां पर कौर्मशक्ति अथवा स्थैर्य मुख्यतः प्रकट है। Preponderance of Static or 'rest' Energy का फल है Stability. अणु की इसी न्यूक्लियर स्टैबिलिटी को भंग करने के लिये वैज्ञानिकों का कितना प्रयत्न हो रहा है! उर्ध्वकेन्द्र द्वारा आत्मसात् होने योग्य बनने के लिये इस जड़त्व का विगलित (रिसाल्वड्) होना आवश्यक है। अन्यथा गुरुभार और आयासबहुल के स्थल पर सम्यक् सावलील स्व छन्द नहीं मिलेगा। गणित की भाषा के अनुसार प्राथमिक फील्ड (Sphere) का Mass जिस आकार और प्रकार में था, उर्ध्व फील्ड को भी उसी आकार अथवा प्रकार में परिवर्तित करना होगा।

स्थूल जगत् में भी ऐसा होता है। जो चावल-दाल हम खाते हैं, उसका Mass एक ही आकार-प्रकार का है। चावल-दाल Mass एक ही आकार-प्रकार का होता है। किन्तु जब उसका परिपाक होता है, तब उसकी प्राणशक्ति का उपादान रूप में परिवर्त्तन होता है और वे सामान्य रूप वाले चावल-दाल नहीं रह जाते। उनका प्रकृतरूप परिवर्तित हो जाता है। यह ताप के कारण होता है। श्रुति का कथन है कि अन्न का अनिष्ट अंश मन ग्रहण करता है और पानी का अनिष्ट अंश प्राण ग्रहण कर लेता है। यह 'ग्रहण' क्रिया अन्न का कैसा रूपान्तरण (ट्रान्सफारमेशन) है? 'अनिष्ट' को अन्न का स्थूलवपु न मानकर शक्तिवपु मानना उचित होगा? क्या उस शक्ति के मन-प्राण के 'सजातीय' न होने से चलेगा? जड़ के क्षेत्र में भी अनुरूप व्यापार घटित हो रहा है। हाईड्रोजन के चार ऐटम जब संहत होकर हीलियम एटम का गठन करते हैं, तब Mass का एक भग्नांश स्वयं को साक्षात् शक्तिरूपेण विवर्तित कर लेता है। (As kinetic Energy)।

अध्यात्म साधना के केन्द्र से केन्द्रान्तर के जिस अभ्यारोह का वर्णन किया गया है, वहाँ यह भी कहा गया है कि वहाँ इस जागतिक साधारण ऋत

का व्यतिक्रम नहीं होता। प्रथमतः जिस केन्द्र में साधन व्यापार चल रहा था उसी केन्द्र से उर्ध्वकेन्द्र में समस्त व्यापार का कर्षण कर लिया जाता है। इसलिये Momentum (अथवा Mass velosity) के आपूरण-प्रतिपूरण को उर्ध्वकेन्द्र के योग्य (अन्न) रूप में परिवर्तित करना पड़ा है। जप के समय वैखरी से मध्यमा में और मध्यमा से पश्यंति में आने के लिये भी इसी आपूरण-प्रतिपूरण को साधना पड़ता है। पहले वाला केन्द्र, नीचेवाला केन्द्र आपूरण करता है। उपरवाला केन्द्र प्रतिपूरण करता है।

इन दो की सहज-सहयोगी वृत्ति की सम्यक् स्थिति में जो कुछ होता है, वह है परिपूरण। जब परिपूरण स्वयं को सौष्ठव तथा सामर्थ्य की काष्ठा में स्थित कर देता है; तब होता है सम्पूरण। अतः परिलक्षित होता है कि प्रत्येक चक्र को स्व छन्द के भाव में सहयोगिता करने देना ही होगा। इनमें किसी को भी अवम अथवा निम्मवर्ती मान कर कर उसे दूर नही किया जा सकता। वास्तव में प्रत्येक चक्र तो उर्ध्व-अधः रूप विन्यास प्रयोग के सौकर्य के लिये ही है। उनमें वस्तुतः उच्च-नीच, अवनत-उन्नत भेद कदापि नही है। भगवान की वाराही शक्ति जिस महाचक्र को धारण करके वसुन्धरा का उत्तोलन कर रही है, ये सब उस महाचक्र के ही परस्परतः अच्छेद्य तथा परिपूरक अवयव-अंग हैं। तत्वतः एक होने पर भी प्रत्येक चक्र में मूलशक्ति की एक विशेष प्रकार की आकृति और प्रकृति निरूपित रहती है। यह भी परिलक्षित होता है कि यह निरूपण मुख्यतः वर्णमाला की कतिपय सूक्ष्म शक्ति के द्वारा ही घटित होता है।

प्रत्येक चक्र के साथ क्रमशः पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश प्रभृति तत्व का और साधक के आध्यात्मिक उन्मेष विकास की एक-एक भूमि का सम्बन्ध विद्यमान रहता है। अतएव एक के उपरान्त एक भूमि का आश्रय लेकर साधक अपने इस महारहस्यावृत पथ पर अग्रसर होता रहता है। तत्वतः जो मूलाधार में है ही नहीं, वह अन्यत्र भी नहीं है। अतएव प्रत्येक केन्द्र साधक की उपलब्धि तथा अंगीकार की (owning तथा awoving) एक-एक भूमि हैं। वे विभिन्न भूमि तथा तदुपयोगी भूमिकाये हैं। इन दोनों की नियामक आकृति तथा छन्दः अवश्य है। अतः उर्ध्वगति के मार्ग में इन्हें छोड़ा नहीं जा सकता।

यह कहा जा चुका है पृथ्वी तथा जल (जो षट्चक्र में है) साधारण मिट्टी अथवा पानी नहीं है। अन्तः तथा बाह्यतः जो कुछ भी अनुभव हो रहा है, उसे उपयुक्त रूप से संयोजित करने और सजाने का स्वाभाविक ढांचा (नेचुरल बेसिक फ्रेम आफ रिफरेन्स) ही है यह पृथ्वी तथा जल तत्व। किसी भी आन्तर किंवा बाह्य अनुभव के लिये हमे इन पंच मूलसूत्र (पंचमहाभूत) का चिन्तन करना

ही होगा। जो अनुभव हुआ, क्या उसकी आधाररूपा आखण्ड सत्ता (continuum) नहीं हैं ? क्या इसकी पृष्ठभूमि में सूक्ष्म, सूक्ष्मतर अथवा महान् महत्तर (प्राणब्रह्म) स्पन्द रूप विद्यमान नहीं है ? यह सूक्ष्म (अथच विपुल) प्राणस्पन्द क्या कभी-कभी स्वयं को महसा-छन्दसा संहत तथा घनीभूत करके एक विशेष आकृति अथवा रूप का परिग्रह नहीं करता ? अन्त में क्या सब कुछ की अविराम गति-परिणति में एक स्थितता की प्रवणता हम प्राप्त नहीं करते ? ये पाँचों हैं व्योम से क्षिति तत्व पर्यन्त।

प्रथम खण्ड में चातुर्मात्रिक विश्लेषण व्याख्यात हो चुका है। वर्त्तमान खण्ड की सूचना के भूतशुद्धि प्रसंग में यही पांचभौतिक विश्लेषणाभास लक्षित हो रहा है। इसे यथास्थान विस्तृत रूप से विवेचित किया जायेगा। श्रुति ने ब्रह्म सृष्टि के प्रसंग में 'एतस्मादाकाशोऽजायत'' रूप से आकाश का वर्णन किया है। जब तक यह नहीं हो जाता कि वह आकाश कौन सा आकाश है, वह वायु कौन सी वायु है, तब तक सृष्टि का कोई बोधगम्य आलेख मिल सकना दुष्कर है। तब तक हमें सृष्टि की कोई प्रतिकृति भी नहीं मिल सकेगी। सृष्टि रहस्य स्थिति आदि में बोधातीत (एलाजिकल) होने पर भी बोधगम्य (लाजिकल) हो सकती है। यह हो सकता है आकाश प्रभृति पंच श्रेणी (कैटेगरीज, पंचतत्व) का आश्रय लेने से। जैसे ॐ ध्वनि के उच्चारण को सुना। स्थूल के क्षेत्र में यह ध्वनि जिस भाव से उच्चरित अथवा श्रुत होती है, मानों उसमें एक प्रकार का जड़त्व है। अर्थात् यह एक निर्दिष्ट आकार प्रकार की ध्वनि है और उस निर्दिष्ट आकार प्रकार में वह निबद्ध है। इसका जो अन्य सबसे विच्छिन्न रूप है, वही सीमाबद्ध रूप ही इसका जड़त्व है। तब भी इसका अस्तित्व बना रहना आवश्यक है, अन्यथा यह अन्य हजारों-सैकड़ो ध्वनियों के साथ मिश्रित हो जायेगा। तब इसे 'यह' रूप अलग से प्राप्त कर सकना (अर्थात्, 'यह प्रणव है') दुष्कर हो जायेगा। इसकी आवश्यकता है, फिर भी यही उसका समग्र यथार्थ रूप नहीं है।

स्थूल जगत् में समस्त मूर्त्त पदार्थ विच्छिन्न एवं सीमाबद्ध रूपेण परिलक्षित होता है। जैसे एक शिशिर कण से लेकर सूर्य तारक भी इसी प्रकार से हैं। वस्तुतः शिशिर कण को जिस प्रकार से देखता हूँ, वैसे ही कोई भी वस्तु अथवा कण स्थिर नहीं है। ध्वनि के सम्बन्ध में भी ऐसा ही है। प्रणव का उच्चारण करने पर मानो वह स्थिर सा हो जाता है, परन्तु वह वास्तव में रुकता नहीं है। वह स्थूल स्पन्दन के देश के स्थान पर क्रमशः सूक्ष्म-सूक्ष्मतर स्पन्दन की ओर संचरित होने लगता है। वह इसी प्रकार चलते-चलते अर्धमात्रा सेतु के पार उतरना चाहता है। यदि हम उसकी सेतुपथगामिनी यात्रा के साथ-साथ अपनी अनुभूति को सहयात्री बनाकर ले जा सकें, उस स्थिति में यह परिलक्षित होगा कि कुछ क्षणों के उपरान्त

हम एक अपूर्व शाश्वत ध्वनि की धारा में प्रवहमान हो रहे हैं। यही है वही सनातन अनाहत ध्वनि प्रणव। साक्षात् अनुभूति सम्पन्न साधक इसी का वर्णन हमसे करते हैं। यहीं आकर हम उच्चारित हुये प्रणव की यथार्थ अविकृत शुद्ध आकृति प्राप्त कर लेते हैं। इस शुद्ध आकृति में और प्रगाढ़ अभिनिवेश के द्वारा अब वह अपनी घनीभूत धारा रूपता को त्यागकर मानो अपने आप को एक सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्पन्द विपुलता में विलीन करती जा रही है। यही नहीं, अब वह स्पन्दविपुलता भी एक अखण्ड असीम अथच शान्त आधार में अभिव्यक्त हो जाती है।

प्रणव के स्थूल उच्चारण से प्रारम्भ रहस्य अनुभूति के इस यात्रापथ में चलते-चलते हम पूर्वोक्त पाँच तत्वों के साक्षात् परिचय को प्राप्त कर लेते हैं। यहाँ यह ज्ञात रखना चाहिये कि हमने जहाँ से प्रारम्भ किया था, वही है क्षितितत्व। तदनन्तर मध्यमा के सेतु को पार करने पर जलतत्व की उपलब्धि होने लगती है। तत्पश्चात् जब वह स्वयं को एक अविकृत तथा शुद्ध ध्वनि और छन्दः आकृति में प्रकट करती है, तब तेजःतत्व का साक्षात्कार मिलता है। जब वह तैजस आकृति (तेजः तत्व) स्वयं को सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्पन्दनविपुलता में परिवर्तित कर देती है, तब वायुतत्व का परिचय मिलता है। और इन सबका अखण्ड-असीम-आधारपट है आकाश। यह आकाश हमारे जगत् वाला भूताकाश कदापि नही है।

हम जब किसी भी वस्तु का अथवा जागतिक व्यापार का विश्लेषण करते हैं तब हम इसी पाँचभौतिक आधार अथवा ढांचे की ही उपलब्धि करते हैं। अब यह शंका होती है कि जो पांचतत्व एकत्रित होकर विश्व की रचना करते हैं क्या वे ही हमारे अध्यात्मजीवन के भी परिकल्पयिता तथा रचयिता हैं ? किसी छन्दःकुशल सर्वज्ञ पुरुष के अभाव में केवल प्रकृति अथवा इस पाँचभौतिक गठजोड़ से ही इस प्रकार के अपरूप विश्व की रचना नहीं हो सकती थी। और जो हमारा अध्यात्म जीवन है, उसकी सुषम परिकल्पना और सुनिपुण रचना के लिये उस अध्यक्षरूप परमपुरुष अथवा पुरुषोत्तम की एक विशेष नियन्त्रयिकता, अनुप्रेरणा तथा परिकल्पना आवश्यक है। इस विशेषरूप अध्यक्ष को ही गुरुशक्ति कहते हैं। विश्व तथा उसके साथ हमारे इस जीवन में ओतप्रोत जो पाँचभौतिक 'गठजोड़' है, उसमें हम वृत्ति द्वय का अस्तित्व उपलब्ध करते हैं। प्रथम परांचि, द्वितीय प्रत्यञ्चि। इन दोनों मे से पराञ्चि (वाह्यभाव) को ही मुख्यतः एवं पूर्णतः उपलब्ध किया जाता है। हमें प्रत्यञ्चि का कोई सन्धान अथवा परिचय, कभी एवं कदापि ही मिल पाता है। हमारे अध्यात्म जीवन की प्रधान समस्या यह है कि जो परांचि वृत्ति मुख्यस्थान में, अग्रगामी रूप से सम्मुख सी रहती है, उसे हटाकर उसके स्थान पर प्रत्यञ्चि वृत्ति को किस पकार से कार्यरत किया जा सकता है ? यदि हम परांचि को ऋणा-

त्मक वेग कहें, (निगेटिव मोमेन्टम कहें), उस स्थिति में उसके स्थान पर पाजिटिव मोमेन्टम, घनात्मक वेग को लाना होगा। यह वेग हमें केन्द्र से दूसरे केन्द्र में केन्द्र भेदन प्रक्रिया के द्वारा ले जायेगा, पूर्व प्रदर्शित Spiral मार्ग से ले जाते हुये परम अभ्युदय में ले जायेगा। यह किस प्रकार से होगा ? यहां भागवती शक्ति के मूर्त्त विग्रह की आवश्यकता है, जो इन सब सर्वत्रग पाँचभौतिक व्याप्ति पर अध्यक्षता करती है ! तब उस गुरुशक्ति की आज्ञा से ही और उसके द्वारा प्रदत्त छन्द: से ही इस सर्वत्रग पाँचभौतिक व्याप्ति का "कारोबार" चलने लगेगा। उस आज्ञा का लंघन कर सकने का इसका सामर्थ्य ही नहीं है। इस प्रकार का एक ऋतायन हमारे जीवन में प्रवर्त्तित होना चाहिये।

इसीलिये कहा गया है कि भूतशुद्धि के अनुष्ठान में इन पांच महाभूतों के अपने घरेलू 'सलाहमशविरे' की आवश्यकता ही नहीं है। इन पाँचों से उर्ध्व जो गुरुधाम (आज्ञाचक्र) है, वहां ह एवं क्ष रूपी महाशक्तिधर वर्णद्वय (रुक्म) द्वारा हिरण्मय पंखों का विस्तार कराते हुए गुरुशक्ति ही साधक के योगक्षेम का निर्वहण कर रही है। हम आगे विवेचना में यह अध्ययन करेंगे। सूत्ररूपेण यह स्मरण रखना होगा कि द्विदल कमल में स्थिति न होने तक साधक के जीवन में चल रहे सभी प्रकार के द्वन्द्व का अवसान नहीं हो सकता ! अभी जहाँ दोनों पंखों में असहयोग तथा विरोध की प्रधानता है, वहाँ विशेषत: द्वन्द्व शब्द का प्रयोजन है। जब दोनों के बीच विरोध के स्थान पर मैत्री और सहयोग का संचार होगा, तब वहां द्वन्द्व नहीं रह जाता। अब इसे युग्म अथवा युगल कहना उचित हो जाता है। इसी प्रसंग में गीता में कहा गया है "द्वन्द्वातीतो विमत्सरः" अर्थात् मत्सर का भाव अथवा पारस्परिक द्रोह का भाव काटते हुये द्वन्द्व के अतीत हो जाना ! अब तक जो आकर्षणी-विकर्षणी, दैवी आसुरी, परांचि-प्रत्यंचि प्रभृति का द्वन्द्व चल रहा था, उन्हें 'विमत्सर' करते हुए मत्सर रहित करते हुये, द्वन्द्व के पार जाने में एकमात्र गुरुशक्ति ही समर्थ है। 'ह' का आश्रय लेने सब कुछ में से अमृत का चरम आहरण होने लगता है।

इसी प्रकार से 'क्ष' का आश्रय लेने पर सब कुछ में से विषभाग का मोक्षण (ट्रान्सफार्मेशन) हो जाता है। चरम स्थिति में 'विषमपि अमृतायते'। अत: विष अमृत के द्वन्द्व को अपनीत करने के साथ वे अन्योन्य, एक दूसरे के परिपोषक युगल में परिणत हो जाते हैं। यही है स्व छन्द रूपी सुषम प्रपूरयिता, सम्बन्धयिता। इस युगल मे अब पारस्परिक विरुद्धान उन पंखों (पक्ष) में पारस्परिक सम्पर्क के कारण दो विलक्षणताओं का परिचय मिलने लगता है। प्रथम है पक्षपातहीन उदासीनभाव। अब आसुरी-दैवी, विष अथवा अमृत, इनमें से कोई भी एकाकीरूप से अपने प्रकोष्ठ में किसी को खींचकर नहीं ला सकता। यही है इनका द्वन्द्व से अतीत विमत्सर भाव !

यहाँ अब मत्सर भाव नहीं है। केवल यहीं नहीं, इस Aspect of transedence के अतिरिक्त भी यहाँ पर aspect of Immanence है। इसकी विद्यमानता के कारण द्वन्द्व का Integration, Synthesis किंवा Sublimation होता है। जैसे विष-अमृत प्रभृति सभी (परस्परतः) विषम तथा विरुद्धान पक्षों अथवा प्रतियोगियों का स्व-स्व रूप से मत्सर भाव की क्रिया करने का स्वतन्त्र शक्ति केन्द्र (सत्त्वा, शक्ति, छन्दः एवं आकृति का नियामक) रहता है, उसी प्रकार परस्परतः मिलाने वाला मित्र तथा सहयोगी रूप से सक्रिय करने वाला गम्भीर, गम्भीरतम, समर्थ तथा समर्थतर केन्द्र भी रहता है।

इन सभी गम्भीर तथा समर्थस्तरीय केन्द्रों को बुद्धिसत्व अथवा सत्व कहा जाता है। जैसे कतिपय Curve (सर्किल, पैराबोला आदि) हैं। इनका सबका नियामक समीकरण (इक्वेशन) पृथक्-पृथक् है। एक अन्य से कहता है "मैं" जो हूँ, वह तुम नहीं हो ! तुम अलग प्रकार के हो !" किन्तु इन सबका नियामक कोई सूत्र (जैसे जेनरल इक्वेशन आफ दि सेकेण्ड डिग्री) मिल जाने पर वे अपना पारस्परिक व्यावर्त्तक भाव छोड़कर एक दूसरे को अपना सगोत्र अथवा बन्धु समझने लगते हैं। 'कामकामी' स्थिति में भी काम के नित्यसत्व केन्द्र का सन्धान मिल जाने पर कोई भय नहीं रह जाता। मूलतः काम क्या है, कैसा और क्यों ? इसके समाधानार्थ नित्यबोधसत्व में जाना होगा। विचक्षण वैद्यगण भी इसी प्रकार से किसी केन्द्र का आश्रय लेकर विष को भी अमृत रूप से प्राप्त करते रहते हैं। ऐसे केन्द्रों की परम्परा है, अतः समस्त द्वन्द्वों का एक मूलकेन्द्र भी है। यही है "विभर्त्यव्यय ईश्वरः।" यही है नित्यसत्व भूमि। विश्व में अनुस्यूत तथा अभिव्यक्त महद्‌बुद्धि (कास्मिक रीजन) इसी नित्यसत्व की भूमि से ही कार्य करती रहती है। अतः केवलमात्र द्वन्द्वातीत विमत्सर ही Transcedence नहीं है, प्रत्युत् "निर्द्वन्द्व नित्यसत्त्वस्थ" भाव तथा भूमि होना अत्यावश्यक है। अन्यथा विषम का द्वन्द्व कभी भी सुषम, सुन्दर युगलरूप ग्रहण नहीं कर सकता। द्वन्द्वातीत तथा निर्द्वंद्व का संयोजक सेतु है कृपा ! आज्ञाचक्र (गुरुधाम) परम कृपामय शक्ति का स्थान है। यह एक ही साथ द्वन्द्वातीत विमत्सर और निर्द्वन्द्व नित्यसत्वस्थ भी है।

कृपा शब्द के दो अवयव हैं कृ एवं पा। 'कृ' अवयव के द्वारा यह सूचित होता है कि साधक के अध्यात्म जीवन में 'निधानं बीजमव्ययम्' रूप से समस्त अघटन घटित कराने और असाध्य साधनार्थ प्रतिश्रुति दी जा रही है। 'पा' से यह सूचित होता है कि साधक की समस्त आन्तरिक आकृति तथा शुभ प्रयास का सन्तान के समान पालन करने का भार उन्होंने स्वयं वहन किया है। यह दोनों जहाँ से हो रहा है, वह स्वयं अव्यय है। प्रथम स्थल पर वे विन्दु अथवा शक्तिरूपेण कियाशील हैं। दूसरे

स्थल पर समस्त अघटन घटित कराने वाली प्रतिश्रुति को साधक से गोपन रखते हुए कहते हैं "तुम को ही सब करना होगा, युद्धस्व विगतज्वर"। महाशक्ति को इसी प्रकार से आत्मगोपित रूप से प्रत्यक्ष करते हैं ! मानो वह पुकार कर कहती है "तुम अपनी भूमि तैयार करो। उसमें खाद दो, प्रचुर जल-आलोक वायु लगाओ। इससे प्रचुर अंकुर, अन्न आदि उत्पन्न होगा ('करे पा')" साधक में एक बलिष्ट धृति तथा उत्साह का संचार करने के लिये ही इस प्रकार का गोपन "बन्दोबस्त" है। फलतः साधक में आत्मकृपा का स्फुरण प्रारम्भ होने लगता है। किन्तु जब समस्त अन्तर को मथित करते हुई उसकी अपनी आकृति उत्थित होती है, और जब वह अपने प्रयास से समस्त कार्पण्य एवं कुन्ठा को छोड़ते हुये फलित होना चाहती है, तब उसे पग-पग पर यह अनुभव होता है कि माँ के समान कोई एक परम कल्याण-मयी शक्ति सब कुछ का पोषण करती रहती है। अतः कृपा शब्द के अक्षर द्वय के इस भाव को ध्यान करते हुये साधक आश्वस्त हो जाता है !

जप के समय 'कृपा' मूर्त्ति का विशेषतः एकाग्रचित् से ध्यान करो। प्रणव अथवा प्रणवपुटित बीज किंवा गायत्री आदि के व्याहरण के समय पूर्व पें तुम्हे नाद के उदय (विस्तार) का जो अनुभव मूलाधार में स्पन्दरूपेण प्राप्त होता है, वही है कृ एवं अग्नि अथवा तेजः (आत्मकृपा)। अन्त में प्रणव के विलय में (विन्दुरूप में) तुम्हारे भ्रूमध्य (द्विदल) में जिस स्पन्द का अनुभव होता है, वह है 'पा' पालनी, पोषणी शक्ति (सोम)। मूलाधार का स्पन्द एक पुलक है और द्विदल का स्पन्द एक आलोक के रूप में स्फुरित होता है। दोनों का मिलन है ज्योति का स्फुरण। पोषणी सोम को ज्योतिर्मुखीन और दीपनी अग्नि को रसमुखीन करने वाला है मन्त्रशक्ति का मन्थन ! यह मानों दोनों को 'पलट' देना है।

अनुभव के प्रथम स्तर में मूलाधार का स्पन्दन और द्विदल का स्पन्दन (पुलक का सिहरन और आलोक स्फुरण) मानों देश-काल को पृथक् कर देता है। अर्थात् जहाँ प्राथमिक स्तर में सिहरन है वहां स्फुरण नहीं है। जहां स्फुरण है, वहां सिहरन का अनुभव नहीं हो रहा है। अनुभव के द्वितीय स्तर में दोनों एक मूल अभिन्न स्पन्द के दो सिरे (Pole) प्रतीत होने लगते हैं। इस स्थिति में अग्नि द्वारा सोम का और सोम द्वारा अग्नि का प्रतिपूरण होने लगता है।

तृतीय स्तर में ये दोनों सिरे अब व्यवहित रूप से न रहकर पारस्परिक रूप से मिलकर एक हो जाते हैं। यह है सम्पूरण। अब अभिन्न ज्योतिरस की उपलब्धि होने लगती है। इस प्रकार से स्पन्द अनुभूति की सूचना होने पर और उसके साथ किंचित पुलक-सिहरन तथा उर्ध्व ज्योति का विकीरण परिलक्षित होने पर उसे द्वितीय और तृतीय स्तर तक अग्रसर होने देना चाहिये। क्योंकि जो पुलक सिहरन तथा रसानुभूति प्राथमिक स्तर में प्राप्त होती हैं, वह चपल है और आविलता के

किंचित स्पर्श से युक्त है। इस पुलक का अनुभव होने पर जप-ध्यान की अग्रगति होने लगती है, फिर भी उसकी चपलता तथा आविलता का उच्छेद करने के लिये उसे उर्ध्व ज्योति के मुक्त, उदार, विमल प्रभाव के शासन में लाना ही होगा। ऐसा न करने पर उसकी आविलता बढ़ती जाती है और एक प्रकार का जड़ नशा अध्यात्म जीवन के स्वच्छन्द विकास को विमूढ़ तथा विभ्रान्त करने लगता है। इसीलिये प्राथमिक स्तर में ही आपूरण का प्रारम्भ हो जाना आवश्यक है। उर्ध्व स्तर से भी इसी प्रकार का प्रतिपूरण होना चाहिये। आलोक की शुभ्रप्रसन्न दृष्टि के द्वारा पुलक की आविलता और मत्तता उच्छिन्न हो जाती है, और इस विमल तथा विमलतर पुलक से ही साधक अपने अध्यात्मजीवन के सत्य आवेग और प्रयास का पूरण कर लेता है। इस आपूरण और प्रतिपूरण का सम्यक् रूप से होना ही परिपूरण है। जब यह अभिन्न और विशुद्ध ज्योतिरूप से परिनिष्ठित हो जाता है, तब वही सम्पूरण है।

संगीत के जिस दृष्टान्त को लिया गया है, उसमें राग की आकृति (Pattern) कतिपय स्वरों के द्वारा निरूपित होने पर भी, चमत्कारित्व और मनोहारित्व होने पर भी, उस राग को चमत्कारित्व और मनोहारित्व आलापन में लाने के लिये राग की आकृति के निरूपक कतिपय स्वरों के द्वारा उनका उपयुक्त रूप से आपूरण, प्रतिपूरण तथा सम्पूरण साधना पड़ता है। ऐसे कतिपय स्वरों का उदगान करने पर राग का शुद्ध ढाँचा तो दिखाया जा सकता है, परन्तु उसे प्राणवन्त रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता।

वर्त्तमान कारिका में भूतशुद्धि का जो प्रसंग प्रस्तुत किया गया है, उस प्रसंग का विस्तार करने पर हमारे सूक्ष्म शक्ति कलेवर के जो केन्द्र तथा चक्र उन्मेषित होते हैं और उनमें गुरुशक्ति की कृपा से जो परिपूरण तथा सम्पूरण होता है, उनका भी एक सामान्य आलेख हमने प्रस्तुत किया है। इस आलेख (विवरण) को और भी विशद करना होगा। चक्रों के अपने-अपने वर्ण, संख्या, आकृति तथा छन्दः के सम्बन्ध में एक विस्पष्ट धारणा की आवश्यकता है। वर्तमान कारिका में जप रूपी याग को पूर्ण करने के लिये मुख्यतः तीन अंगों का उल्लेख किया गया है। प्रथम है न्यास। इसके द्वारा जपयोग के अनुष्ठान का अलसित भाव उच्छिन्न हो जाता है। तदनन्तर भूतशुद्धि है। इसके फल से उल्लास का सन्धान प्राप्त होता है और यह उल्लास क्रमिक रूप से उर्ध्वगामी होकर गुरुशक्ति के प्रसाद से विमल उल्लास तथा परमोल्लास से विभूषित होने लगता है। तदनन्तर जपयोग का तृतीय अंग है प्रेमशक्ति द्वारा साक्षात् रूप से समस्त उर्ध्वगामी प्रवाह के मूल में विद्यमान गुरुशक्ति की कृपाघन मूर्ति का ध्यान।

वह ध्यान कहाँ करना होगा ? कारिका में कहा गया है कि वह ध्यान 'शिरसि कमले' अथवा सहस्त्रार कर्णिका में होगा। यही शास्त्रों का मत है।

यद्यपि द्विदल कमल (आज्ञाचक्र) गुरुधाम है, (वहां उर्ध्वतन key Position रहता है) वहाँ से गुरुशक्ति अध्यात्म जीवन के समस्त केन्द्रों का नियमन करती रहती है, तथापि उनका ध्यान होता है 'शिरसिकमल' में अथवा विशेष निर्देश एवं प्रेरणा मिलने पर हृदय कमल में। द्विदल कमल उनका अपना operative केन्द्र अवश्य है, परन्तु वे भक्त की प्रेमभक्ति के साथ जहां विलसित होते रहते हैं वह है सहस्त्रदल अथवा हृदय। शुद्ध स्थिति में क्रिया की भूमि तथा विलास की भूमि पृथक् नहीं रह जाती। यह अद्वयता होने पर भी, लीलावैभवशाली की लीला का आस्वादन करने के लिये साधक की अभिरुचि के कारण ये दोनों स्थल पृथकतः प्रतीत होते हैं। जैसे घर में बैठने का कमरा अलग है और कार्य करने का कमरा अलग है, यहाँ भी मानो उस आवश्यकता को भूला नहीं जा सका है! प्रेमशक्ति का स्वरूप अत्यन्त रहस्यमय है। वह ऐश्वर्य और उसके प्रकाश को माधुर्य एवं माधुर्य के आस्वाद से छिपाये रखती है। इसीलिये साधक को गुरुशक्ति की ऐश्वर्यभूमि (द्विदलपद्म) में ध्यान-सेवापूजा प्रभृति से भी मानों तृप्ति नहीं मिलती। वह तो सहस्त्रदल अथवा हृतकमल के अतीव शान्त रमणीय परिवेश में अपने प्राणों के निगूढ़ भावों को समर्पित करने के लिये व्याकुल हो उठता है।

इस प्रकार सहस्त्रार (शिरसि कमले) में प्रेमशक्ति के द्वारा श्री गुरु के ध्यान में न्यास तथा भूतशुद्धि का महोल्लास अपरुपभाव से विवर्तित (ट्रान्सफार्म्ड) होने लगता है। अत्र यही है विलास। इसीलिये कारिका में कहा गया है 'प्रेम्ना ध्यानाच्छिरसि कमले श्री गुरोस्तद् विलासो''। क्या यह विलास ही पर्यवसान है?

''हक्षौ यत्र द्वारगोपौ''

यह द्विदल (आज्ञाचक्र) ऐश्वर्य, आज्ञा, प्रशासन प्रभृति का केन्द्र है। सबकुछ जो 'उलटा' है उसे यह पलटकर सीधा कर देता है। 'एतैवाक्षरस्य प्रशासने गार्गि'' इत्यादि कहकर श्रुति ने जिस अक्षर के प्रशासन की ओर इंगित किया है, वही है द्विदल ह क्ष जो वर्णमाला के अंतिम अक्षरद्वय हैं। वर्णमाला तथा वर्ण-मालात्मक स्थूल एवं सूक्ष्म निखिल प्रपंच तथा अधःस्तन केन्द्र समूह की क्रिया इन्ही ह क्ष द्वारा प्रशासित भी होती है। यहाँ पर अधिष्ठित श्री गुरुशक्ति जैसे परम भद्र है, उसी प्रकार महाभीषण भी है। यहाँ पर उग्र, वीर, रुद्र, 'भीषणं भीषणानां' मूर्त्ति पट के अन्तराल छिपी नहीं है प्रत्युत् वह यहाँ पर प्रकटित होकर विद्यमान रहती है। यहाँ पर श्री गुरुमूर्त्ति द्विभुज-द्विनेत्र, प्रसन्नवदन मूर्त्ति नहीं है। यहाँ पर श्रीगुरु त्रिनेत्र, चतुर्भुज शिवशंकर रूप है। प्रयोजन होने पर तृतीय नेत्र की ज्वालाकराल वन्हि प्रमाथी मदन को भस्म करने के लिये प्रस्तुत भी है। यद्यपि दो हाथों में वर तथा अभय मुद्रा है, तथापि अन्य दो हाथों में दो वज्र के समान भीषण उद्यत आयुध भी हैं। एक ओर परम आश्वासन, दूसरी ओर चरम भय!

'द्वितीयाद् वै भयं भवति'—द्वितीय अथवा द्वैत के परपार ले जाने के लिये स्थूल-सूक्ष्म के पार की कारण भूमि भी दिखलाते हैं। 'कारण' नहीं देखा, तब तो देखना ही नहीं हुआ ! अतः 'तस्मिन् दृष्टे वरारोहे'—इसकी प्रतिष्ठा अभी नहीं हो सकी, शेष ग्रंथि का भेद ही नहीं हो सका।

शुंभासुर दैत्य वधकाल में प्रकटित 'द्वितीया का ममापरा' इन देवी में ध्यान लगाओ ! अतः द्विदल है 'सहज में पहुँचने का 'कठिन स्थान'। इस स्थल पर श्रीगुरु ध्यान, मानस पूजा, स्तव, आत्मनिवेदनादि करने का पात्र कौन है ? अतः यहां आवश्यकता है ऐसे एक मणिसरोरुह की जो यही परम उल्लासपूर्ण सहस्रदल है ''प्रशमिताधः कोलाहलम्' जो अपनी परिपूर्णता के महाव्योम में परमशान्त है, नित्यशान्त है। शिवशासनगत् द्विदल के पार समस्त अधः कोलाहल प्रशमित हो जाता है। इस परमोल्लास पूर्ण सहस्त्रदल की कर्णिका में श्री गुरुदेव की करुणाधन मूर्ति की अपरूप माधुरी का विलास हो रहा है। यहाँ अन्तर की समस्त 'साध' मिटाते हुये विमलमंगल श्री गुरु ध्यानरस का पान करना होगा। द्विभुज, द्विनेत्र, प्रसन्नदृष्टि, स्मितानन, वामस्थ स्वशक्ति युक्त श्रीगुरु पादाम्भोज ही अपना सर्वस्व समर्पित कर देने वाला सर्वाप्यायन स्थान है। द्विदल में आज्ञा, यहाँ आप्यायन। द्विदल में शासनवश्यता, यहाँ प्रसाद निर्माल्य ! पादाब्ज स्थल में अब मन मधुकर का गुँजन भी नहीं चलता। मधुमत् से मधुमत्तर और मधुमत्तर से मधुमत्तम् में डूब जाओ। यहाँ श्रीगुरु स्वयं गायत्री ऋक् के 'वरेण्य भर्गोदेवस्य' हैं और उनकी स्वशक्ति है, मधुमती। इस प्रकार नानारूपेण ध्यान लगाओ। आविनाभाव रूप से सामभास्य एवं सामरस्य से ग्रथित !

द्विदल एक चरम सन्धिस्थल है। यहाँ आरुरुक्षु साधक आरुढ़, युंजान तथा युक्त हो जाते हैं। यहाँ जो अंतिम दो पथ मिलते हैं, जैसे वद्री और केदार : निर्विकल्प-निरंजन निर्विशेष ? यह द्विदल गुरुधाम उसकी पगदण्डी है। सहज पथ (किंतु परम दुर्गम) को खोलना ही होगा (रामकृष्ण परमहंसदेव और तोतापुरीजी के वृत्तान्त को याद करो)। अधिकारी होंने पर इस द्विदल का भेद करके सीधे-सीधे निर्विकल्प प्रपंन्चोपशम में चले जाओ। गुरुमुख से महावाक्य श्रवण मात्र से जिन्हें परम साक्षात्कार हो गया था, उनके द्वारा इस 'द्विदल पगदन्डी' को उन्मुक्त करने का विवरण स्मरण करो। ये तो बाल्यकाल से ही भूस्थान में शुभ्र अरूप ज्योति का दर्शन करते थे। इन्होने पगदण्डी को पार करते हुये विन्दु-नाद-कलातीत में प्रवेश किया था। यहाँ समस्त कुछ मिलित हो जाता है, अथवा एक कलित छाया के समान ऊपर आ जाता है। अब यही निष्कलारूढ़ स्थिति है। किन्तु क्या 'पगदण्डी' सहज ही खुल जाती है ? कवयः किंवदन्ति ? अतः गुरुशक्ति प्रथमतः विन्दु नाद साधनलभ्य सविकल्प का पथ पकड़ा देतीं हैं। साधक भी जप ध्यान आदि साधना द्वारा

अनाहत का आभास परिचय प्राप्त कर लेते हैं। यहाँ तक कि दिव्यगन्ध, स्पर्श, रूप रस का भी। इसे श्रीगुरु ध्वनि प्रभृति की सहायता से समस्त भाव तथा शक्ति की सीमा "शिरसि शतदल" तक ले जाते हैं। वे रसोल्लास को वहां भेजते हैं जह रस का परम विलास है, जो रासमण्डल है।

वे सहस्रार की कर्णिका में स्वयं करुणामाधुरीघन मूर्ति में अधिष्ठित रहकर तुम्हारी परम विलास की पटभूमि का अनावरण कर देते हैं। अतएव प्रथमतः मानस ध्यान के पश्चात् उसके प्रसाद द्वारा प्राप्त अतिमानस अनुभव से इसी सहस्रदल में गुरु ध्यान तथा गुरुपादुका पूजन करो। तदनन्तर कृपा द्वारा 'सकल' स्थिति में आरुढ़ हो जाओ। अच्छा, वे जो सकलारुढ़ हैं क्या उनके लिये निष्कल का पथ बन्द हो गया है। ना ऐसा कैसा होगा ? 'शिरसि व्योम्नि' जो सहस्त्रदल प्रस्फुटित होकर अपरूप विलास रस द्वारा तुम्हारा मधु आप्यायन कर रहा है, वह तो परम ज्योति के बाहर' किसी एक अजाना 'निराले' प्रदेश में प्रस्फुटित नहीं होता ! लीला की रसोज्वल सत्ता ने वहाँ सब कुछ को उज्वल मधुर कर दिया है। अतः वह सार का भी सार है। परम सार है !

निर्विकल्प, निष्कल की साक्षात् अनुभूति की 'साध' रहने पर 'शिरसि व्योमपंकज' को प्रथमतः उर्ध्व महाव्योम में उन्नीत करो। अब विदित होगा कि रस की निबिड़ता तो रस की विपुलता में स्वयं को निमज्जित कर रही है ! सहस्रदल का अपरुप विलास अब एक अरुप सागर में निमज्जित होकर मणि मणिक्यों की तरह स्वयं का आत्मगोपन कर रहा है संख्या तथा 'मान' के अतल देश में ! तदनन्तर सविकल्प समाधि की दो भूमियों (सानन्द और सास्मित) पर आरुढ़ हो महाव्योम को परमव्योम के परमसूक्ष्म कारणस्पन्द में ले जाओ। तत्पश्चात् ? 'व्योमातीतं निरञ्जनम्'। निष्कलारुढ़ हो जाओ ! सकलारूढ़ तथा निष्कलारूढ़ मिलकर हो जाते हैं पूर्णारूढ़'। यहां 'पूर्णमिदं 'पूर्णमिदं' का मर्म तुम्हारे सम्मुख प्रकट हुआ ! अब इस का आभास प्राप्त करो कि 'शिरसि कमल' में क्यों गुरु ध्यान पूजा किया और इसका पर्यवसान कहाँ होगा ? यह प्रयोजन जानकर अथवा निर्देश पाकर अब अन्य चक्रों में (विशेषतः हृदय में) गुरु ध्यानादि करो। विशेष करके द्वन्द्व तथा सन्धि-संकट पर आज्ञा में, विशुद्ध समर्थ मान्त्र वर्णिनी शक्ति तथा शुद्ध स्वरोदय के लिये कण्ठ में, भाव का द्वार उन्मुक्त करने के लिये हृदय में, तेज के केन्द्रीण वीर्य की प्राप्ति के लिये मणिपुर में, अधोग स्त्रोत का प्रवाह उलट कर उर्ध्वग बनाने (ओरियेन्टेशन हेतु) हेतु स्वाधिष्ठान में, मातृका शक्ति और अर्धमात्रा जागृति के लिये मूलाधार में ध्यान करो। अथवा क्षिति, जल, पावक, आकाश, वायु प्रभृति किसी भी भूमि में किसी संकटजनक अथवा संशयात्मक परि-

स्थिति का उद्भव होने पर उसी तत्व की भूमि में समूर्ध्वधाम स्थित गुरुशक्ति का आवाहन करो ! उनका अवतरण घटित कराओ !

जैसे अप् तत्व में जप स्निग्ध, सरस तथा सावलील हो गया है, परन्तु गाढ़ता (कन्सन्ट्रेशन) और केन्द्रीणता (फोकसिंग) रूपी आवश्यक सहग (कम्पोनेन्ट) दुर्बल हैं, अतः वह जप तेजतत्व में उन्नीत नहीं हो रहा है। यहाँ श्रीगुरु की अयाचित करुणाधान परमतैजस मूर्ति तथा बीज का ध्यान साक्षात् रूप से संकटमोचन करने वाला सिद्ध हो जाता है। अर्थात् जो घनीभाव तथा तेजतत्व श्रीगुरुत्व में स्वाभाविक है, उसी तत्व की उपासना करो। साथ ही तेजतत्व में सब कुछ एक-एक विशिष्ट रूप अथवा आकृति में योजित होने लगता है। वायुतत्व में जाने के लिये यह योजित मूर्त्तभाव तथा अपने मंत्र-यंत्र-तंत्र, सब कुछ को विपुल के महोत्सव में विलीन कर देना होगा। भगवान की अनुग्रह शक्ति सर्वदा, सर्वथा सर्वत्रगा है। इसी प्रकार से वायुतत्व से आकाश में जाते समय निस्तरंग-निष्पन्द, शान्त-प्रपंचोपशम न होकर शान्त निस्तरंग अथच सूक्ष्मतम मूल कारण स्पन्दभाव होना चाहिये। यह भी गुरुतत्वाश्रय से ही प्राप्त होता है। अतः तत्वसंकट, भाव संकट, वर्ण (शक्ति) संकट, छन्द संकट, सेतु (सन्धि) संकट रूपी संकट पंचक में श्रीगुरु पादाब्जदल पंचक का आश्रय लेना होगा। जैसे 'तिस्त्रोधारा' इत्यादि के द्वारा सेतुसंकट, 'गन्धेन' इत्यादि के द्वारा भाव संकट, 'वाक्बुद्धि' इत्यादि के द्वारा वर्ण संकट और 'प्रत्यङ्ग-निष्ठः' इत्यादि के द्वारा छन्दः संकट और 'भावं' इत्यादि के द्वारा भावसंकट काटना चाहिये।

अब श्रीगुरु की साक्षात् गायत्री मूर्ति का ध्यान करके 'ॐ भूर्भुवःस्वः' पाद द्वारा मूलाधार में प्रणव और स्वाधिष्ठान (विसर्ग त्याग करके स्व = स्वाधिष्ठान) में स्व, इन केन्द्र द्वय (प्रणव + स्व) का उद्दीपन करो। 'तत्सवितुर्वरेण्यं' द्वारा मणिपुर का, 'भर्गोदेवस्य धीमहि' द्वारा अनाहत का और 'धियोयोनः प्रचोदयात्' के द्वारा विशुद्ध (वाक् + प्राण + बुद्धि = धी। इस धी को द्विदल आज्ञा में—प्रचोदयात् = विशुद्धि से लाने वाले केन्द्र में) को एवं गायत्री के अंत वाले प्रणव के द्वारा द्विदल को भी प्रसन्न करो !

पुनश्च, द्विदलस्थ गुरुशक्ति को हंसवती ऋक् और 'त्र्यम्बकं यजामहे' सन्धि विधायिका शक्ति का ध्यान करते हुये प्रथय (हंसवती ऋक् से) से 'ह' वर्ण और 'त्र्यम्बकं यजामहे मुक्षीय' से 'क्ष' वर्ण का आहरण करके द्विदल में स्थापित करो। इन दोनों ऋक् के मिलन से हंस ही हौंसः हो जाता है। त्र्यम्बकं वर्ण मान्त्रवर्णिक दृष्टि से ॐ कार तथा ॐ का यजन है। जैसे त्र्यम्बक = अ उ म। अथवा त्रिमात्रा, अर्धमात्रा एवं अमात्र ! 'सुगन्धि' इत्यादि पद की रहस्य व्यञ्जना है सु + गं + धि।

अब गायत्री तथा मधुमती ऋक् को मिलित करो। इसी द्विदल में मिलाओ। गायत्री की सेतुरूपा धीमहि से 'ह' का आहरण करो। अब मधुमती की जो मुख्या-क्रिया (क्षरन्ति) है, उससे लो 'क्ष'। द्विदल महिमा का अन्त ही नही है। फिर भी इन-इन रूप से ध्यानांङ और सन्धि का सन्निवेश करो !

मातृका न्यास में वर्णमाला को नादविन्दु युक्त करने पर एक-एक वर्ण शब्दद्वय रूप का परिग्रह करते हैं। जैसे कं खं गं आदि। श्रुति ने स्वयं ही 'कं ब्रह्म, खं ब्रह्म' कहा है। खं को भी ब्रह्म मान लेने पर गं क्या है ? वह है आकाश का मूल व्यक्त-रूप ! (गतिरूप)। यही है नाद। नाद साधक अनाहत शब्द का जिस आकृति में अनुभव करते हैं, उस आकृति की शाब्दिक प्रतिकृति है 'गं'। गंङगा = 'गं रूपी इस अनाहत ध्वनि तथा नाद में गमन करने वाली वाक् अथवा मन्त्र शक्ति ! ऐसा गंगा स्नान है "सद्यः पातकसंहंन्त्री"। सद्योदुःखविनाशिनी। 'गं' धारा में पड़ने पर फिर संशय नहीं रह जाता। अब यह देखना है कि सु + गं + धि से क्या ध्वनित होता है ? सु = सुगम। ग = नाद ब्रह्म का नित्यप्रवाह। धि = आगन्तुक प्रवाह नहीं स्वभावतः प्रवाह ! त्र्यम्बकदेव (शिव) अपने शिरः में इसी गं + गा को स्वभावतः धारण करते हैं। अतः वे "सुगन्धि" हैं।

'उर्वारुक' शब्द भी संकेतगर्भ है। उ + रु + आ + रुक्—इस आकृति विश्ले-षण को समझाया जा रहा है। जैसे प्रणव। मध्य मे उ वर्ण का आश्रय लेकर (रु) व्याहरण कर रहा है, परन्तु नाद को सन्धान नहीं मिल रहा है। क्या करोगे ? व्याहरण को (अपने प्रणव धनु की ज्या को और खीचों, आतत् करो) यथाशक्ति सीमा पर्यन्त लाओ। यह है 'आ'। 'उ' को छोड़कर 'आ' को नहीं पकड़ा। -उ' को सीमापर्यन्त 'आतत' किया। 'आ' (र्वा) के पास दो 'रु' (उ + रु + आ + रु) द्वारा यह ज्ञात होता है कि उच्चारण में उसका उ पन (उत्व) तो ठीक हैं केवल उसके क्षेत्र Span को बढ़ाया गया है। 'उरु' की वेधवृत्ति, के साथ 'उरु' की आतत वृत्ति Compounded होकर अर अथवा चक्र के समान एक भेदन करने वाली (Piercing momentum) गति है, वह इसे एक महाचक्र वृत्ति में ले जाती हैं। फलतः साधारण वर्ण की सीमा दूर हो जाती है, वह बन्धन मुक्त हो जाता है। "उर्वारुक मिव बन्धनात"। इसका चरमफल है नादविन्दु की सहायता से ब्रह्म की मूल कलनशक्ति पर्यन्त पहुँचाना। यह है ब्रह्म की पूर्ण आनन्द-कला। यहाँ कला का तात्पर्य अंग नहीं है। यही है स्वाक्षरिक विश्लेषण। इसे ऐसा होना आवश्यक है जिससे वह स्व च्छन्दः में स्वाभाविक स्वारसिक स्वरूप की उपलब्धि कर सके। यह अब कल्पितार्थ नहीं है। अब बुद्धि भी वहुशाखायुक्ता तथा पल्लविता नहीं होती।

यदि कं ब्रह्म से सुख अथवा आनन्द जागृति रूप प्रथम अभिव्यक्ति (व्यंजन मुखता) होती है, उस स्थिति में ('खं' जिसकी आकाश रूपता है) उस आनन्दाकाश में विश्व-प्रापन चलने लगता है। 'गं' रूपी आधार में आनन्द की मूल स्पन्द-रूपता है परावाक्, परमनाद। इस अभिव्यक्ति मुख के द्वारा ऋतःछन्द की कास्मिक हारमोनी के मूल में जो हैं, उसका जन्म होता है। यही है महानटराज का आदिम महाश्चर्य नटन। गति के अर्थ में जो गम् धातु है, वह इसी से भूमिष्ठ होती है। इसी से शान्त मौन आनन्दाकाश से परमव्योम (वियतरूप ओम्) का जन्म होता है। अब शान्त में आता है लीला कैवल्य। आदिम चंचलता। अब मौन को वाणी मिली है। इसी मूलवाणी से व्याहृति सप्तकादि हैं। अतएव इसी 'गं' रूपी तत्व का आश्रय लेकर अव्यय निधान में जाना होगा। हमारे वागमंत्र में उच्चरित 'क' प्रभृति अक्षर बहुधा प्रपंचित होकर सहस्त्रों हो जाते हैं तथापि वे सभी पतित, मृत भस्मत्व प्राप्त हैं। गं+गा का आवाहन करने के बिना उनके उद्धार का क्या मार्ग है ?

भगवान की अपरा, परा तथा परमारूपी प्रकृतित्रय में से पराप्रकृति ही 'जीवभूता सनातनी' है 'ययेदं धार्यते जगत्'। द्विदल के अनुग्रह द्वारा स्वयं को अपरा के 'चंगुल' से मुक्त करके परमामुखीन रूप से 'शुद्ध जीवरूप से' उन्नत होना होगा। द्विदल ही जीव के आमित्व, चिदचिद् ग्रंथि (रुद्रग्रंथि) भेदन का स्थान है। सद्सद् ग्रंथि (ब्रह्मग्रंथि) तथा मुद्मुद् ग्रंथि (विष्णु ग्रंथि) के शिथिल हो जाने पर भी, यहाँ (द्विदल में) उन्नीत हो जाने पर चिन्मयस्वरूपानुभव ही अपनी अंतिम ग्रंथि की 'गांठ' को खोल देता है। अब जीव गुरु कृपा से स्वयं को अमायिक, अप्राकृत, शुद्ध, सच्चिदानन्द सत्ताशक्ति रूपेण उपलब्ध कर लेता है।

परमा प्रकृति के साथ ही "वैजात्य" और 'वैमुख्य' तिरोहित हो जाता है। जड़ एवं भूत समूह में 'शामिल' रहकर परमामुखीनता कैसे हो सकती है ? परम के साथ अन्तरंगता कैसे हो सकेगी ? इसीलिये द्विदल पद्म में श्रीगुरु साधक की भूतशुद्धि करते हैं। इसके पश्चात् परम के साथ जिस किसी भी प्रकार से तादात्म्य हो ! वहीं परमा प्रकृति की परम रहस्यमयी परम सकला, शुद्ध निष्कला पूर्ण सकल-निष्कला त्रिवेणी में 'निष्णान्त' हो जाओ। तुम निष्णान्त हो जाओ, केवल परस्परतः खण्डन कलरवी मनन-विचार की तरंगों से क्रमशः लड़कर "हैरान" होना उचित नहीं है। यदि ब्रह्म के अमूर्त्त-मूर्त्त, निष्कल—सकल—'द्वे रूपे' का मनन करना उचित लगे 'विद्याविद्या विषय' में मन रमें, तब वही हो ! निष्कल के साक्षात् अनुभव में संचरण करो ! वहाँ विद्या क्या और अविद्या क्या ? वहाँ तो केवल 'शिवाद्वैतं तूष्णीम् ! अब पुनः परम का सन्धान करो। यह सम्पन्न हो जाने पर वहाँ जाओ जहाँ सम्यक-असम्यक् का 'नाप जोख' नहीं है। वहां मानो 'तनु' तथा 'भाः' परस्परतः

कह रहे हैं, (उसी प्रकार कह रहे हैं जैसे भानु और तेज: दीप्ति आपस में कहते हैं) "मैं ही तुम्हारे रसरूप के परम घनीभाव में और मैं ही तुम्हारे आधाररूप परम विस्तार में हूँ" । यह घनीभाव तथा विस्तार भी एक दूसरे को भावना और बोल-चाल के क्षेत्र में अलग कर लेते हैं । अन्यथा ज्योतिरस: का तादात्म्य अनिर्वचनीय है ! इसे भेद-अभेद भेदाभेद आदि किसी भी संज्ञा से सम्बोधित नहीं किया जा सकता। पूर्ण में सब कुछ समाप्त होकर 'चुप' हो जाता है !

तब क्या मनन कथन का गला दबा देना होगा ? यह क्यों ? तुम रसिक हो, तुम स्व छन्द की रसानुभूति के रूप में मनन और कथन को साध लो । वे भी परम अचिन्त्य के दरवाजे पर आकर 'छुट्टी' लेते हैं । और तुम प्रपञ्चोपशम के मार्ग पर अपने समस्त विचारों को लेकर चलो । उन्हें ज्योतिषां ज्योति: का बहिर्दिशारी बना कर साथ ले चलो । वे सब परम साक्षात्कार के बहि: भाग पर ही शान्त हो जायेंगे ! 'ज्योतिषां ज्योति: रसानां रसतम:' इन दोनों की त्रिसीमा में कौन जायेगा ? इस अचिन्त्य देश की आह्वान ध्वनि सुन कर और क्या होगा ? तब द्विदल में इस अचि-न्त्य चिन्तामणि के लीलारस अथवा उसकी परम भास्वर शान्तच्छटा अथवा उसकी परम चिद्गगन चन्द्रिका के पथ पर चलना ही होगा । श्रीगुरु ही शिष्य के रसभोग के दोनों दलों की 'परख' करके उसे रस अथवा भास के पथ पर चालित करते हैं । यह करते हैं अन्त में पुन: दोनों को मिलाने के लिये । मिलाये बिना परम शान्ति नहीं मिलती । पूर्ण की पर्याप्ति नहीं होती ।

यह तो ऊपर का समाधान है । इस समाधान की कुंजी द्विदल गुरुधाम में रहती है । निम्नस्थ सभी कुछ का यथार्थ समाधान यहीं प्राप्त होता है । अर्थात् प्राकृत और पांचभौतिक का समाधान ! केवल स्थूल में ही नहीं, प्रत्युत् सूक्ष्म, कारण पर्यन्त प्राकृत और भौतिक की जटिलता पुन-पुन: परिलक्षित होती रहती है । एक प्रकार से यह सब है 'मर्त्तस्य धूर्त्ति:' । इस धूर्त्ति से अमृत भी भयभीत है ! यह धूर्त्ति है ब्रह्माण्ड भाण्डार के संवेगद्वय (मोमेन्टा), प्रथम है योगवाही, द्वितीय है अयोग-वाही । प्रथम इसकी कुक्षि में सब कुछ का जड़त्व (Low of Inertia) जुड़ा रहता है, जैसे कर्मबल, भावकाल, ज्ञानबल । सब कुछ से कहो "तुम हमारे एक्शन-रिऐक-शन और अनुपातकों का पाश काटकर कहाँ जाओगे ? यहीं पर परिपक्व हो जाओ" । द्वितीय—यह उर्ध्वतन लोक की आकर्षणी 'अमृतस्य धारा' से सब कुछ को अयुक्त पारांगमुख तथा परांचि किये रहता है । द्विदल में आते ही ये दोनों संवेग (मोमेन्टा) उलट से जाते हैं । अधिभूत योग अब अध्यात्मयोग में रूपान्तरित होने लगता है । अध्यक्ष का वियोग होता है अधियज्ञयोग में । श्रीगुरु परमद्वैतरूपेण इन दोनो की अध्यक्षता करते हैं । इन आधिभूतादिक को सम्यक्‌रूप से पहचान लो । अधियज्ञ का अर्थ अधिक यज्ञ नहीं है । जो यज्ञ अविराम रूप से सूक्ष्म, स्थूल, कारण में चलता जा

रहा है, उर्ध्वगामी साधकगण जपादि के रूप में जो यज्ञ कर रहे हैं, उस यज्ञ के विभर्त्ता अणुमन्तादि रूप से जो सर्वेश्वर पुरुष हैं,—अधियज्ञ से उन्हीं परम पुरुष अथवा पुरुषोत्तम योग का ही तात्पर्य ध्वनित होता है। शेष तत्व समूह को दो-दो भाव से लेने और मिलाने का स्थान है द्विदल। यह हमारा चमत्कारी यंत्र एक साथ ही Commutator और Transformer है !

भूतशुद्धि प्रसंग में द्विदल से सम्बन्धित यह कतिपय विवरण कहे गये। इस विवरण का समाहार तथा सारांश प्रस्तुत करते हुये द्विदल को निम्नांकित स्त्रोत्रत्रय द्वारा प्रणाम किया जा रहा है :—

द्विदलवन्दनत्रयी

हक्षौ यत्र द्विदलललसिते पंङ्कजे सन्धिगोपा
वाज्ञा प्रत्यक् प्रथयति परमं यत् पराक् तत् प्रशान्ति।
कारुण्यौको नयति सकलं निष्कलं यच्चा पूर्णं
शुद्धं भूताच्छिव सदृशतां नौमि मन्नाथधाम ॥
(भूतच्छुद्धं)
योगायोगौ निरति-विरति-स्त्रोतसोर्वैपरीत्यं
यातो यत्र प्रकृतिपरतां याति जीवोऽपरोद्‌र्धम्।
पन्थानौ द्वौ द्विमुख-विततौ यत्र भासो रसस्य
नित्यं द्वन्द्वादुदित-परमं नौमि सत्वस्थधाम ॥
मूर्त्तामूर्त्ते द्विदलसने यत्र रूपे परे द्वे
सारं यत्रामृतगरलयो रासभासो रसोऽपि।
गन्धः सन्धिः पृथुतनुपरे द्वर्धमात्रा च शब्दः
स्पर्शो ग्रन्थेः सुसुखविलयो नौम्यशब्दादिधाम ॥

जहाँ द्विदल लसित कमल में ह—क्ष वर्ण सन्धिगोप (रक्षक) रूप से रहते हैं, जहाँ आज्ञा (ज्ञ = ज्ञाता), दोनो और दो 'आ' अर्थात् सीमा एवं व्याप्ति (आ + ज्ञा) युक्त होने के कारण ज्ञानादि शक्ति की पराकाष्ठा और निरतिशयता की सूचना दे रहे हैं, अथवा ज्ञ = परमात्मा, जो आद्य 'आ' वर्ण के द्वारा असत्य, तमसा तथा मृत्यु को आवरित-आच्छादित करते हैं और दूसरे 'आ' वर्ण के द्वारा सत्य, ज्योति, अमृत, अभय का अपावरण अथवा अनिराकरण करते हैं, अथवा जो साधक को सकला और निष्कला काष्ठा में प्रतिष्ठित करते हुये पूर्णारूढ़ करते हैं। अथवा विशेषत: ज्ञ = मान्त्रवर्णिनी शक्ति का पूर्ण ज्ञान। (पहला आ = पादमात्रा, दूसरा आ = कलाकाष्ठा) जो इस प्रत्यक् प्रवण को परमता की ओर प्रसारित कर देते हैं, और पराक् को प्रशासित कर देते हैं। यह केवल ज्ञान और क्रियाशक्ति की काष्ठा का केन्द्र ही नहीं है, भावशक्ति की परिपूर्णता भी इस द्विदल गुरुधाम में है। अत:

यह 'कारुण्यौक:' — असीम में जो परम करुणा है, उसका निलय है। उस परमकरुणा प्रसाद से ही साधक का सरल, निष्कल और पूर्ण को प्राप्त करने का अभियान संभव होता है। यह परमकरुणा ही पाशबद्ध जीव के पंचमहाभूतों का बोझ हटाकर उसे पाशमुक्त शिव-सदृश कर देती है। (इस सादृश्य को सामीप्य से लेकर सामरस्य पर्यन्त व्याप्त समझो) द्विदल में सामीप्य होता है, इसके पश्चात् गुरुकृपा से ही प्रारंभ होता है सामारस्य योग। ऐसा जो 'मेरे नाथ का धाम'' है, मैं उसे प्रणाम करता हूँ ॥१॥

भूतभौतिक प्रपंच में प्रवृत्ति (निरति), और जो शुद्धमुक्त (अप्राकृत— अमायिक) है, उससे निवृत्ति (विरति), यही दो प्राकृत स्त्रोत अथवा धारायें प्रव-हमान हैं। जीव इस धारा में पतित है। फलस्वरूप जीव का प्राकृत् से योग और परमार्थ के साथ वियोग (अयोग) होना है। परन्तु इस द्विदल की कृपा से यह प्राकृत योगायोग (विपरीत) उलट जाता है। (वैपरीत्यं यत:) अर्थात् अप-रमार्थ से वियोग और परमार्थ से योग होने लगता है। संकरधारा से वियोग और शंकरधारा से योग। इस विप्रतीप योग ध्यान के कारण अब अष्टधा अपरा से उर्ध्व जीव अपदी शुद्धा सनातनी परमाप्रकृति में प्रतिष्ठित हो जाता है। अब परा मे आकर वह दो ओर प्रसरित दो मार्ग (जिसका संकेत है द्विदल) देखता है। एक है रस (रसिकों का) पथ, द्वितीय है भास (ज्योति तथा ज्ञान) का पथ। मानों दोनों पथ अलग-अलग, भिन्नमुखी हैं। प्रतीत होता है कि अध्वसन्धि में मार्ग अथवा अध्व का द्वन्द्व होगा। किन्तु आपातत: इस द्वन्द्व अथवा पक्षपात के अन्त में जिनकी कृपा 'उदि-तपरमें' में पहुँचा देती है, उस द्वन्द्वातीत, निर्द्वन्द्व, नित्यसत्वस्थ द्विदल श्रीगुरुधाम को मै प्रणाम करता हूँ ॥२॥

ब्रह्म के यह दोनों मूर्त्त-अमूर्त्त रूप परम रहस्यमय द्विदल के लक्षण अथवा रूप है। जो विष-अमृत; रास-भास का सार है, वही है इस द्विदलकमल का रस अथवा मधु। पृथु (स्थूल), तनु (सूक्ष्म) तथा पर (कारण तथा उससे अतीत) की जो पारस्परिक सन्धि है, वह सन्धि ही इसकी गन्ध है। व्यक्त (त्रिमात्रा) तथा अमात्र के बीच जो सेतुरूपा अर्धमात्रा है, वही है इसका शब्द अथवा वांगमय मूर्त्ति, और श्रीगुरु के अमोघ करुणाबल से जब अन्तिम चिदचिद् ग्रन्थि का भी 'सुसुख विलय' साधित हो जाता है, तब ग्रन्थिभेदन के द्वारा जो आन्तरिक सुखरूप ब्रह्म-सन्स्पर्श प्राप्त होता है, वही है इसका स्पर्श। इस प्रकार से अपूर्व रूप सगन्ध स्पर्श-मय धाम स्वरूपत: अशब्द-अस्पर्श इत्यादि प्रकार से ब्रह्म से अभिन्न श्रीगुरु का ही धाम है। मैं इसे प्रणाम करता हूँ ॥३॥

यह द्विदल तुम्हारा ''मन्नाथधाम' है, वहाँ आन्तरिक प्रणाम करने पर प्रशासनमूर्ति रूपान्तरित हो जाती है 'प्रसादमूर्ति' में। उनकी कृपा से तुम अब

सहस्त्रार की कर्णिका में श्रीगुरु का पूजा ध्यान प्रभृति करने चलते हो। वहाँ उस कर्णिका में एक दिव्य रक्तकमल पर समासीन त्रिनेत्र, द्विभुज, वामस्थ विराजिता स्वरूपैश्वर्यमाधुर्य परिसीमा युक्त अपनी सामरस्याभिन्नविग्रहा स्वशक्ति युक्त श्रीगुरु हैं। उनका दर्शन करके धन्य हो जाओ! यह है तुम्हारी अन्तरात्मा का रस विलास स्थान। इस विलास का पर्यवसान कहाँ है, यह भी तुमको दिखलाया गया है। शेष पर्यवसान जहाँ भी जिस प्रकार से भी हो, इस धाम में तुम्हारा जपध्यान स्वयं को चरितार्थ होते देखता है, यह निःसंदिग्ध तथ्य है। यह चरितार्थता है जपध्यान की, जो स्वरस अमृत है, यह उसकी निविड़ता का आस्वादन है। यह आस्वादन किसके द्वारा होता है? यह होता है भास अथवा स्व संविद द्वारा। अर्थात् इस आस्वादन में मोह किंवा मूढ़भाव का लेश भी नहीं रहना चाहिए। यहाँ अनुभूति की उज्वलता और रस की निविड़ता अभिन्न होकर मिल जाती है। "रसो वै सः" जो परमपुरुष है, उसकी ही स्व-आस्वादनरूपा, परमोज्वल रससंविद रूपा ह्लादिनी शक्ति का ही सारतत्व हैं श्रीराधा। इसे भक्त तथा रसिकगण विचार कर समझें। यहाँ की जो परिसीमा है, उसी की बात कहता हूँ। सहस्त्रार में जपध्यान करने पर इसी परम रसाज्वल परिसीमा का आभास मिलता है। तब श्रीगुरु प्रसाद में अपने प्रेम का सम्बल बनाकर इस परिसीमा को पार करना चाहिये। अन्त में (आगे बढ़ने पर) देखोगे कि सकल निष्फल का भेद और व्यवधान यहाँ मिटता जा रहा है यह एक परम अव्यक्तता की परिपूर्णता भूमि है। इसमें उपनीत होने का साधन कारिका में कहा गया है—"भासा··········जापे वः"। उज्वल से उज्वलतर आन्तर ज्योति के दिशानिर्देशन द्वारा निबिड़ से निबिड़तर जपध्यान के स्वरस अमृत आस्वादनार्थ आगे बढ़ो!

प्रधानतः न्यास, भूतशुद्धि तथा जपध्यान इन तीन अंगों के साथ तुम्हारे जपध्यान के सम्बन्ध में विस्तार से कहा गया किन्तु यदि तुम इस प्रकार सांग अथवा अङ्ग सहकृत जपयोग का उपदेश अथवा शिक्षण प्राप्त नहीं कर सकते, तब क्या करोगे? न्यास, भूतशुद्धि, प्राणायाम प्रभृति की शिक्षा न मिलने पर भी क्या तुम्हारी पूर्ण निष्ठा करुणाधन मूर्त्ति श्री गुरु में और उनके द्वारा प्रदत्त नाम में है? यदि यह है, तब श्रीगुरु कृपा को एकमात्र संबल बनाकर नामजप में लग जाओ। श्रीगुरु उस नाम से ही तुम्हें सब कुछ सिखलाने के लिये तत्पर हैं। तुम्हे नाम के प्रति एकान्तिक निष्ठा रखना ही होगा। इस प्रकार निष्ठा के साथ आश्रित होने पर ही (नाम के द्वारा ही) नाम के स्तिमित अलस भाव का परिहार होगा। इस अलस भाव की उच्छिन्नता हो जाने पर नाम विशेष प्रकार से चलने लगता है। तब तुम्हें २--४ हजार नाम जप में भी भय अथवा क्लान्ति का अनुभव नहीं होगा। यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि अभी भी नाम के अन्तर्गत स्थित प्रच्छन्न रस का किंचित् स्पर्श भी

तुम प्राप्त नहीं कर सके हो। श्रीगुरु कृपा पर भरोसा रखते हुये तुम जप करते रहो!

इस अवस्था में नाम में स्थित स्वरस सुषमा अथवा माधुरी की कुण्ठा तथा संकोच को कैसे भंग कर सकोगे? उसका भी उपाय है, यही नाम। नाम रसमाधुरी की कुण्ठा अपगत हो जाने पर तुम्हें उल्लास प्राप्ति होती है और परिणामतः नाम में रुचि तथा रति का उदय होता है। रति तथा रुचि होने पर केवल मात्र धृति की सहायता से जपध्यान नहीं करना पड़ेगा। अतः कारिका में कहा गया है 'नाम्ना नाम्नि स्वरससुषमोल्लास कुण्ठां जहाहि" स्वरसमाधुरी की कुंठा कट जाने पर नाम और नामी के साथ परिचय हो जाता है। यह प्रिय परिचय पुनः स्वयं को विचित्र चारु विलास में लीलायित और रूपायित करने लगता है। अर्थात् अब नाम माधुरी के साथ ही साथ एक दिव्य अनुभूति के देश में प्रविष्ट हो रहे हो। फिर भी यह स्मरण रखना कि इस दिव्य अनुभूति से भी तुम्हारी नामजप यात्रा साङ्ग नहीं हो सकती। जब तक एक परमोज्वल परम मधुर शान्त सामरस्य में तुम्हारा समस्त उल्लास तथा विलास नहीं मिल जाता जब तक तुम्हें विश्रान्त नहीं होना है। अतएव नाम के साथ प्रिय परिचय के पश्चात् चारुचित्र विलास की जो पटभूमि उन्मोचित हो जाती है, उसकी माया तथा आकर्षण को काटते हुये और भी गंभीर तथा विपुल एवं समुज्वलतर स्थिति में जाना होगा। अतएव कारिका के अन्तिम चरण में कहा गया है "नाम्ना नाम्नीममापि जहिहि प्रोज्वले सामरस्ये।" आगे की यात्रा में तुम नाम का ही आश्रय लो।

अतः यह यह विदित हुआ कि रस के अलक्षित भाव को काटने का उपाय है नाम! विलसित भाव के विकास का भी उपाय है नाम और स्वलसित भाव में शान्त समाहित होने के उपाय को भी नाम ही कहते हैं। यदि यह कहो कि श्रीगुरु तो नाम रूप से मेरे ऊपर आज भी कृपा नहीं कर रहे हैं, तथापि भावनिष्ठा के साथ मैं भगवान्नाम अथवा 'गुरु' नाम का जप कर रहा हूँ, तब उस स्थिति में यही नाम यथासमय गुरु रुपेण तुम्हारे ऊपर कृपा करेगा। गुरु को मिला देगा। कैसे? तुम्हारी आग्रह शक्ति को समर्थ भाव से जाग्रत करते हुये, सर्वदा सर्वतोव्यापिनी अनुग्रह शक्ति को मूर्त्त और प्रसन्न करतेहुये, निष्ठा के साथ जप चलाकर। प्रथमतः वैखरी आलस्य से जागरित होती है। तदनन्तर मध्यमा की उपलब्धि होती है उल्लसन्ती रुप से, और पश्यन्ति मिलती है विलसन्ति रूप से। परा स्वयं है स्वलसन्ति।

'तारचक्र समाचरण' का अनुवाद

तंत्र आदि में जिस रहस्यवाणी को सुना जाता है विन्दु से नाद-नाद से विन्दु, इस रहस्य का मर्म है? इसे तब जान सकते हो, जब गायत्री प्रभृति मन्त्र के आदि तथा अन्त में प्रणव के उदय-विलय का व्याहरण होता है। अर्थात् उदय के समय

विन्दु के समान एक सूक्ष्मावस्था से नाद का विस्तार करते हुये आदि एवं अन्त में इस नाम को विन्दु के समान सूक्ष्मभाव पुनः ले आना चाहिये। जैसे बीज से पौधा और पौधे से पुनरपि बीज ! पूर्वोक्त प्रणव के उदय-विलय की तुलना सूर्य के उदय विलय के साथ करने का वर्णन किया गया है। विन्दु से तार अथवा प्रणवरूप जो व्याहरण उदित होता है, वह अ उ म तथा भू र्भुवः स्वः रूपी तीन अर्ण अथवा वर्ण रूप से प्रकट होकर भास्कर रूप धारण करता है। मानों उषा की अरुणता अब प्रभात के भास्वर रूप में प्रकट हो रही है। तत्पश्चात् "तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि" इस प्रकार से वह तार है। जैसे सूर्य मध्यान्ह में पूर्णरूपेण विकसित हो जाता है, मध्यगगन में विराजित हो जाता है, उसी प्रकार ! अतः 'धियो नः प्रचोदयात् ॐ' अन्त में पुनः प्रणव आकर विन्दु में ही अस्तमित हो रहा है !

वाराही शक्ति जिस महाचक्र रूपी दंष्ट्रा से सलिल मग्ना वसुन्धरा का उर्ध्वोत्तोलन करती हैं, उस महाचक्र विन्दु से नाद, नाद से विन्दु रूपी उदय-विलय के आवर्त्तन चक्र का द्योतन होता है। उदय-विलय के छन्दः को सम्यक् रखते हुये यह तारचक्र गतिमान रहने पर मूलाधारस्थ निद्रिता मातृका शक्तिरूपिणी वसुन्धरा में प्रथम स्पन्द संचार होता है और तदनन्तर जागरण होता है। यह है विशेषतः उदय-प्रणव की क्रिया। और नाद से विन्दु में गमनरूप जो विलय प्रणव है, उसके फलस्वरुप सर्वोच्च स्थित द्विदल चक्र में भी प्रथमतः स्पन्द का, तदनन्तर ज्योति का विकिरण होने लगता है। इस प्रकार से प्रणव व्याहरण के द्वारा मूलाधार से द्विदल पर्यन्त षट्चक्रों को आधार बनाकर एक महान् उद्बोधन प्रारम्भ होने लगता है। अधः एवं उर्ध्व स्थल के इस उद्बोधन के कारण अब मध्यवर्त्ती समस्त चक्र उद्बुद्ध होने लगते हैं। यही है वाराही शक्ति द्वारा निमज्जिता पृथ्वी का समुद्धार।

तुम जिस विषम चक्रजाल में पतित होते हो अथवा जड़ित हो जाते हो, उस अशेष जटिल चक्रजाल का छेदन करने में यही तारचक्र समर्थ है। जिस सुषम चक्र का आश्रय लेकर तुम साधन-भजन में क्रमशः अग्रसर होते हो, उस सुषम चक्र की महाश्चर्यकारी शक्ति वृद्धि करने वाला तारचक्र है। और इस भुवनचक्र की जो नाभि है, उसका भेदन किये बिना किसी भी प्रकार से अप्राकृत स्थिति नहीं मिलती। उस नाभि का यह तारचक्र अनायास भेदन कर देता है। अतः तुम अपनी समस्त आन्तरिक निष्ठा के द्वारा इस तार अथवा निस्तार चक्र का समाचरण करो।

जिस चक्रजाल में जीव पतित है, उसका यह छेदन करने वाला है। जपादि साधन के जिस सुषम चक्र का समाश्रय लेकर जीव की निष्कृति होती है, यह उस सुषमचक्र की शक्तिवृद्धि करता है। जिस भुवन चक्र की नाभि का भेदन किये बिना गति अगति के पार स्थित अनपाय धाम की प्राप्ति नहीं होती, उस भुवन चक्र की नाभि का भी भेदन करने वाले "तार चक्र" का स्मरण करो !

जैसे प्रत्यक्ष सविता देवता प्रातः, मध्यान्ह, सायान्ह में आवृत्तिमान होकर रात्रि में (नक्तं) अप्रकट हो जाते हैं, उसी प्रकार से निखिलवाक् तथा छन्द के प्रसविता स्वर (प्रणव) भी विन्दु से उत्थित होकर (प्रातः) नामरुप में पूर्णतः प्रकट होकर (मध्यान्ह), पुनःश्च विन्दु में अस्तमित (सायान्ह) हो जाते हैं। अस्तमित होने के साथ-साथ उदित नहीं होते, अप्रकट हो जाते हैं। यही है प्रणव की (व्याहरणे) रात्रि (नक्तं)। यहाँ प्रणव विन्दुलीन होकर शयन करता है। (शेते)। किस प्रकार से ? 'स्वबीज इव पादपः' बीज से अंकुरादि क्रम विकास की धारा अविच्छेद रुप से फलवान् पादप पर्यन्त जारी है। फल में जो बीज है, उस बीज में आकर कुछ काल के लिये धारा विश्रान्त हो जाती है, मानो पादप अपने बीज में विश्रान्त है। यह निद्रा तब भंग होती है, जब पुनः बीज से अंकुर का उदय होता है। इस प्रकार अन्त में जो प्रणव विन्दु में बीज रुप से सूक्ष्मतः प्रविलीन था, वह बीजरुपी विन्दु में क्षणमात्र के लिये शयन तथा विश्राम करता है। इस विन्दु में लौटकर आने का स्थल है तारचक्र का मेरु। वह इसमें (मेरु में) आकर क्षणमात्र के लिये विश्रान्त हो जाता है।

तारमन्त्र (प्रणव) अथवा प्रणव पुटित जप (जैसे ॐ ऐं ॐ) के अन्त में इस मेरु में आने पर व्याहरण को विराम देकर क्षणमात्र के लिये विश्राम करो (शयीथाः)। कहाँ शयन ? नाद की उसी विलय भूमि अथवा सूक्ष्म अवसान में ! जैसे कोई घन्टा ध्वनि। यह क्रमशः सूक्ष्म होती जाती है। सूक्ष्म ध्वनि जिस सीमा तक ले जाती है, वहाँ किंचित स्थिर हो जाने पर अपने आयास को विरत होने देना चाहिये। इस विराम भूमि में (सुषुप्ति के समान) एक अव्यक्त 'आराम' मिलता है। प्राण तथा चित्त, मानो अविराम स्पन्द से किंचित छुटकारा पाते हैं। इसी आनन्द से सब कुछ "जीवन्ति" है। अतएव नाद की इस विलय भूमि में आकर इस सूक्ष्म ध्वनि रुप बीज में एक क्षण विश्रान्त (शयन) होना चाहिये। अन्यथा मेरुलंघन होगा। इसका परिणाम होगा कि प्राण तथा चित्त श्रान्त हो जायेंगे (प्राणः श्राम्यन्ति वै यतः) अतएव तारचक्र को 'हमेशा' चालित रखने से यह श्रान्ति क्रमशः बढ़ती जाती है और शयन जनित संजीवनरुपी विश्रान्ति सहज स्वच्छन्द नहीं होती। "प्रचोदयात् ॐ" अंतिम ॐ कार को सूक्ष्मघनीभूत रुप में लाने पर क्षणिक विश्राम करना होगा। इस स्थिति में द्विदल स्पन्दन का अनुभव होता है। मानों यह स्पन्दन शान्त आधार में मिलित हो गया। समस्त स्पन्दनों ने तारस्पन्द रहित आधार का साक्षात् स्पर्श प्राप्त किया। इसे बोधान्तर्गत् प्राप्त करना होगा। जैसे सुषुप्ति में ! यह है श्वास वायु के दृष्टिकोण से सहज कुम्भकावस्था। अर्थात् यहाँ आयासकृत कुंभक, पूरक, रेचक नहीं है। सहज है।

अब यहाँ "या निशा सर्वभूतानां" प्रभृति गीता के श्लोक का रहस्य कथित है। गीता में "पश्यतो मुनेः" है। यहाँ बहुवचन श्रवणवतां ('शृण्वतां विश्वे' का स्मरण करो!) भी है। जिन्होंने नादानुसंधान के द्वारा नाद अथवा अनाहत ध्वनि का श्रवण किया है, उनके लिये वही नाद ही दिव्य है। वे इस नाद में ही जाग्रत रहते हैं (जाग्रति)। पक्षान्तर से जो इसे नहीं सुनते (अशृण्वतां) उनके लिये यही दिव्य (नादश्रुति) है रात्रि (नक्तं)। जिस स्थूल शब्द प्रपंच के सम्पर्क के कारण नादश्रुतिमानता (नाद सुनने की शक्ति) निद्रिता है, उसी सम्पर्क के कारण अश्रुतिमान (असंयमीं लोगों की) जाग्रत है। यहाँ तक कि जिस अवस्था में (मूर्च्छा, सुषुप्ति इत्यादि में अथवा वाह्यजगत में निस्तरंग वारिधि वक्ष पर अथवा निर्जन गिरिकन्दरा में) स्थूल शब्द राशि स्तब्ध है, वहाँ भी उक्त अनाहत ध्वनि के सम्बन्ध में अश्रुतिमान लोग निद्रित हैं। इसके विपरीत वे अपने शरीर संचालन, किंवा बहिर्देशीय वायु सन्चालन से उद्भूत मृदु स्पन्दयुक्त दोलायमान शब्द के सम्बन्ध में जाग्रत हैं।

पूर्वश्लोक वर्णित विन्दु विलयरूप (तारचक्र रूप) जो मेरु है, वहाँ जपकारी को शयन (शयीथाः) के लिये संकेत दिया गया है। यह शयन नादविस्मृति अथवा विच्युति नहीं है। उत्थित नाद सूक्ष्म होकर विन्दु अथवा विन्दु धारा (अणुपन्था) में चलता रहता है। अपने आयस को त्यागकर इसमें विश्रान्त (अणु की अणुवृत्ति में) होना ही शयन है। यह जड़ निद्रा नहीं है, जपनिद्रा है। एक क्षण के ही पश्चात् पुनः उत्थान। यह एक क्षण अपूर्व आनन्द जीवन का मुहूर्त्त है। अश्रुतिमान जापक इस मुहूर्त्त में भी शयन करने में अपारग रहते हैं। इसका यह कारण है कि तब जप की स्थूल आवृत्ति के अन्त में जो अणु अनुवृत्ति (अणुव्वाहरण) होती है, वह व्यक्त नहीं रहती। यदि वे इस मेरु पर्यन्त आ सकते, उस स्थिति में (उस विलय, शयन में) उन्हें यह बोध होता है कि जप भंग हो गया है और वे अवान्तर वाह्य ध्वनि सुनने लगते हैं। अतः होता यह है कि इस विलय भूमि में भी उनका जागरण अवान्तर वाह्य एवं स्थूल शब्दों में चलने लगता है। (जाग्रति विलयेऽपि ते)। जो अश्रुतिमान अथच शुश्रुषू जापक हैं, वे यद्यपि वाह्य शब्दों से विक्षिप्त नहीं होते, किन्तु वे लोग अपने आयासकृत स्थूल जप के स्थूल (Gross) सम्वेग (momentum) के वशीभूत हो जाते हैं। वे मानों स्थूल जपध्वनि (यहाँ तक कि मनस् की भी) की प्रतिध्वनि (इकोईंग) सुनते हैं। यह है मध्यम कल्प। यह है Same Level Continuity। ये प्रतिध्वनियां समाहृत तथा संहत होकर एक reqiuiste resonance Effect का गठन करती हैं। (वह तब होता है जब यंत्र के Damping and Scattering moments को सम्यक् रूप से Control तथा reduce किया जा सके)।

इस requisite resonance effect के Integration की एक अवम् सीमा तथा एक चरम सीमा अवश्य है। अवम् सीमा (अ उ म) में Requisite Resonance effect क्या करता है? वह मूलाधार तथा द्विदल में एक चकित स्पन्दन की सृष्टि करता है (Mental reactions भी करता है)। चरम में क्या होता है? (चरम = critical effect)। इस सुषुम्ना तथा पूर्वोक्त 'अणु पन्था:' का उद्‌बोधन होता है! साधक को प्राण की अवस्थिति-परिस्थिति में इस Intigration को सम्यक् रूप से समाधित करना पड़ता है। विश्व प्रकृति में प्रतिनियत रूप से जैसे किया जाता है, उसी प्रकार! यहाँ 'भूलचूक को क्षमा' नहीं है। भूलचूक न होने देने और हो जाने पर उसे ठीक कर लेने का एक परम उपाय भी है। जो सब कुछ के मूल में है, वह है उनमें प्रपत्ति और उनकी सर्व समस्या समाधान-साधिष्ठा कृपा। गुरुगहन गणना की घटा से 'भड़कना' उचित नहीं है। तुम्हारी निष्ठा और उनकी कृपा से सब कुछ 'जल' जैसा हो जायेगा।

जप-पुरश्चरण को संख्या के अनुसार करना विधि विहित है। यह संख्या पूर्वोक्त रिक्विजिट रिसोनेन्स इफेक्ट (अवम-मध्यम-चरम) के द्वारा जप का सामर्थ्य मान (इफीसियेन्सी इन्डेक्स) है। यह विशेषत आलोचनीय है कि यह कैसे बढ़ाता है और अवस्था विशेष मे खर्व तथा व्याहत कर देता है। जो कुछ भी सजीव-निर्जीव, अणु-महान दृष्ट हो रहा है, सबका मूल है संख्या। जैसे ऐटम, प्राणी के जीवाणु (germcell), सौरजगत आदि। संख्या की आधारशिला पर सब कुछ की गति, स्थिति तथा परिणति होती रहती है। विश्वधारा में वस्तु (Mass), शक्ति (Energy) इत्यादि सब कुछ ही अपना स्वरूप बदलती रहती है। यह तो 'वह' हो जाता है। कितने नवीन "पैदा" हो रहे हैं कितने "लुप्त" हो जा रहे हैं, इसे अच्छी तरह कह सकना संभव नहीं है। किन्तु संख्या-संख्यान-सांख्य तो निश्चित है। इस ध्रुव को पकड़े बिना विश्व और बुद्धि के लिये सब कुछ महारात्रि है। दार्शनिक कान्ट से लेकर बड़े-बड़े वैज्ञानिकों को विश्व तथा बोध के इस ध्रुव गणितीय आधार को मानना ही पड़ा है।

सांख्य को केवल "वर्त्तते" (स्टैटिक) रूप में न ग्रहण करके उसे 'परिणमते' (as function Dynamic) रूप में लेना चाहिये। इससे हम सांख्यसमूह का पारस्परिक जन्य-जनकादि सम्बन्ध (Multilateral evolution relation ship) सहज ही देख सकते हैं। फलस्वरूप विचित्र समीकरण आदि तथा रेखाओं की उद्‌भूति होती है। इसे 'संख्यान' कहा गया है। इस संख्यान वैचित्र्य के मूल में जिस मौलिक तत्व की Theory (सिद्धान्त) रहती है, उसे सांख्य कहते हैं। अन्त में यदि एक ही अभिन्न मूल (बेसिक प्रिंसपल—ऋतं बृहत्) से इस वैचित्र्यमय, अथच महा समञ्जस (The Grand Synthesiger अथवा unifier) संख्या

विज्ञान अथवा संख्या की अभिव्यक्ति को देख सको, उस स्थिथि में जिस मूल को जान लेने पर सब कुछ को जान लेना संभव हो सकता है, वह है प्रसंख्यान।

संख्या विज्ञान के अनुसार जो व्यस्त है, रिफरेनशियेटेड है, उसके समन्तीकरण में (रीकन्सिलेशन एण्ड यूनिफिकेशन में) कुछ भी "पटीयान" नहीं है। यदि तुम अब 'व्यस्त' से 'समस्त' होना चाहते हो, तब संख्या का आश्रय लेना ही होगा। कारिका में कहा गया है "सख्यामूलं हि यत्किंञ्चित्"। और स्पन्द को (जैसे वेव पैटर्न) 'संख्यानमूलक:' भी इसी कारिका में कहा गया है। जैसे मौलिक के मूल में इक्वेशन आदि हैं। कौन ध्वनि सुनूंगा, कौन वर्ण देखूंगा, यह कतिपय मूल संख्यान पर निर्भर करता है जो अपने यन्त्रगत् (शरीर यन्त्रगत) तथा बहिरागत् (बाह्यत: आगत) हैं। संख्या ही प्रसंख्यान है। यद्यपि यह सब कुछ को समञ्जस कर देती है, तथापि जैसे प्रथम दो में हमारे मित्र हैं, उसी प्रकार से शत्रु भी हैं। किसी ध्वनि, गन्ध, वर्ण अथवा मनोभाव के द्वारा इसका परीक्षण करे। एक प्रकार की जिस संख्या के रहने पर 'बन्धन' बना रहता है, उसे कहते हैं संख्या वैर। संख्यामैत्र बन्धन से मुक्ति का कारण है। संख्यावैर को काटना होगा। अर्थात् जिस संख्या तथा संख्यान को लेकर तुम अपने यन्त्र, परिवेश (इयवायर्वमेन्ट), वर्त्तमान बन्धन कारक संस्कारों को बनाये रखते हो, उस संख्या संस्थान को बदलना ही होगा। संख्यामैत्र को पाना होगा। अत: निर्दिष्ट संख्या में जप करो।

किन्तु जापक ! सावधान ! जितना मन चाहे उतनी संख्या से कर्म नहीं होता। इससे मित्र भी वैरी हो जाते हैं। तुमको पाद, मात्रा, कला, काष्ठा का प्रसाद प्राप्त करते हुये संख्या को मित्र बनाना होगा। इन चारों का समाचार इसी प्रसंग में दिया जा चुका है। अब चार प्रश्न उत्थित होते हैं :—

(१) क्या जप वैखरी वाचिक नहीं हो रहा है ? अन्य प्रकार से हो रहा है ?

(२) किस मात्रा में हो रहा है मृदु, विलम्बित, उग्र, द्रुत अथवा अन्य मात्रा में ?

(३) किस मुखीन स्थिति में (Phase में) जप हो रहा है ? (जैसे अन्तर्मुख, बहिर्मुख आदि)।

(४) कहाँ तक जप अपनी आकृति-गति ठीक रख रहा है ? (जैसे जड़-चपल भाव, तदनन्तर सावलील, प्राणायामरूप, पुन: चंचल)।

इन चारों का सम्यक् सौष्ठव (कोआर्डिनेशन) होने पर ही संख्यामैत्रम् होता है। अनेक साधनाओं के द्वारा इस संख्यामैत्र को मिलना पड़ता है। संगीत साधक क्या करते हैं ? यद्यपि होमियोपैथी की दवा तो एक चुटकी में चमत्कार (मिरैकिल) दिखलाती है, तथापि उसमें सम्यक् संख्यान (पोटैन्सी) होना

चाहिये। रोग की पृष्ठभूमि में जो निरामयी संख्या रोग से युद्ध करती है, उसके साथ औषधि की संख्या की सम्यक् मैत्री (एलियेन्स) हुये बिना यह अघटन घटित नही हो सका। यह भी वेव मैकेनिज्म में और भी गम्भीर रूप से लिया गया है। सही वेवलेन्थ और फ्रीक्वेन्सी को चुनकर मिलाना होगा। एक ऐटम अथवा जैवकोष के समान प्रत्येक पदार्थ की (जीव की भी) स्वयं की (बीज तथा क्षेत्र सम्बन्धित) वैशिष्ठय नियामक एक संख्या (फारमूला) है। पूर्व जन्मों का प्रारब्ध (रेजल्टेन्ट मोमेन्टम), वर्त्तमान जन्म में बीज, क्षेत्र, राशिचक्रादि प्राकृतिक संस्था (कानफिगरेशन आफ इनवेलविंग आर्डर) के सन्निपात से उक्त संस्था निरुपित होती है। इन चारों के अतिरिक्त दैव रूप एक विशेष नियामक भी है। इन सबकी आलोचना यथास्थान पर होगी। दीक्षाकाल में गुरु को शिष्य की इस निजस्व संख्या जप संख्यादि का विचार होता है। यह तथ्य जापक स्वयं भी जान सकते हैं कि कहाँ वैर है और कहाँ मैत्री है।

अत: कारिका में कहा गया है कि जप को सम्यक् रूप से कौशल के द्वारा संख्यया, संख्यान रूपी संभाव्य वैरस्थान (पासिबिल डेन्जर जोन्स) को पार कर लेना चाहिये। गुरुनिर्दिष्ट प्रणाली से ही इस फंदे को काटना होगा। यह होता है मित्र संख्या के जप से। तत्पश्चात् सांख्य जप। अन्त में चतुर्थ भूमि प्राप्त हो जाने पर जप भी (अर्थात् तुर्यंग होने पर) वज्र हो जाता है। यही वज्र है 'संख्याशङ्काद्रि पाट-नम्'। जब तक संख्या-गण्यगाथा (गिनने की स्थिति) है, तबतक शंका है। जप्य-मंत्र की तुर्यंग अवस्था में शंका नहीं रह जाती है। संख्या का जो संख्यान है उसका अभावनीय सामर्थ्य (इफीशियेन्सी) निर्भर करती है, इन तीन स्थितियों पर—यथा :—

(१) वह सौष्ठव के साथ (हारमोनिकली) चलेगा।

(२) वह पूरन प्रतिपूरणादि रहेगा (कम्पाउन्ड एसिलिरेशन)।

(३) वह किसी निर्दिष्ट काष्ठा तक जायेगा। वहाँ वही उसका अपना चरम मान (क्रिटिकल इफीसियेन्सी) होगा।

जप का एक अत्यन्त मृदु स्पन्दन भी इस प्रकार से चरम मान प्राप्त करते हुये वज्रशक्ति हो जाता है। तब वह पर्वत पाटन में भी सक्षम हो जाता है। अत: मन्त्रशक्ति उद्धारार्थ सौष्ठव, समुच्चय तथा काष्ठाक्रान्ति (रीचिंग दि प्वाइन्ट आफ क्रिटिकल इफिसियेन्सी) रूपी तीन नियमों को मानना ही होता। तुम अपने भाव के घर में तस्करी मत करो। अपनी चेष्टा में कार्पण्य भी मत लाओ। शेष तो तुम्हारे उर्ध्व से अथवा पृष्ठभूमि से 'पूरण' हो ही जायेगा। चरममान अथवा काष्ठाक्रान्ति पर्यन्त स्थिति न होने तक सिद्धि सफलता का मुख आवरित रह जाता है 'मुखं अपि-

हितम्" । कुछ भी समझ सकना सम्भव नहीं होता । बहिः प्रकृति में भी यही देखता हूँ । एक लोहे के तार पर कुछ बोझ लटकाया । जब तक एक निश्चित परिमाण में भार नहीं बढ़ाया जाता, तबतक तार टूटकर नहीं गिरता । जल के बरफ में परिवर्तित होने के दृष्टान्त का स्मरण करो ।

वैखरी में सन्ध्याजप, मध्यमा में संख्यान, पश्यन्ति में सांख्य और परा में प्रसंख्यान । प्रणव में जबतक 'अ उ म' की आवृत्ति है, तबतक संख्या है । नाद के स्फुरण में संख्यान है । नाद—विन्दु तथा कला ही त्रिपाद वितान में सांख्य है और वह वितान तथा विस्तार की प्रान्तभूमि में प्रसंख्यान है । कलातीत में संख्या नहीं है । वह संख्यातीत है ।

अब 'अपाम सोमममृता अभूम' इत्यादि वेदमंत्रों में जो सोम है, उसकी इस रूप में भावना करो । निखिल वाक् में जो मन्थ है, अथवा मन्थनोद्भूत सार है, अथवा निखिल वाक् मन्थनकारी मूलावाक् (नाद) है, उसी मन्थ का (ॐ कार का) याग हम करते हैं । याग में 'सोम' (स ओम रूपी अनाहत् नाद) का हम पान करते हैं । (अपाम) । जो दिव्य ज्योति नाद के आभ्यन्तर में है उस ज्योति में ही गमन करते हैं (अगमाम) । इस दिव्य ज्योति में जो भास्वान (भामतः) है, उन्हें (श्रीगुरु-इष्टदेवता आदि दैवीशक्ति को भी) भी हम जानते हैं (अविदाम) । अतः सोम द्वारा रक्षित (सोमरातान्) हमारी अराति कहाँ हैं, उसका छेदन कैसे किया है बोलो (अकृन्तत्) ? ज्योतिष्मन्त (विभातः) रूपी "अन्धा मर्त्तस्य धूर्त्तिः" अथवा क्या कर सके हो, बोलो ? सोम ने राति (रक्षा) को अराति के पंजे से मुक्त किया है । ज्योति हमें 'तमसःपरस्तात्' उस तमस के पार ले गई है जिस तमस की कुक्षि में मर्त्य की धूर्त्ति की सब प्रकार की "बलजोरी" चलती जा रही है । मन्थन द्वारा 'ओम' ही 'सोम' हो सका है । इस अपूर्व मन्थन में प्रणव का 'अ' है आधार (कूर्म), म कार मन्थन दण्ड है, उकार मन्थन की रज्जु है । नाद विन्दु (विंदु से नाद-नाद से विन्दु) ही मन्थनकारी बाहुद्वय हैं । स्वयं कलाशक्ति ही 'स' कार हैं । इसका फल है अमृत, सोम ! गायत्री—त्र्यम्बक-मधुमती ऋक् के दोहन से अ ऊ म, हंसवती के दोहन द्वारा 'स' और जातवेदसे दोहन से सम्पूर्ण सोम की प्राप्ति होती है ।

इस "जातवेदसे" सोमसवन की कथा अंतिम कारिका में उक्त है । राति तथा अराति का द्वन्द्व तो रहता ही है । जैसे अग्नि अराति (लोकक्षयकृत) रूप से विश्वभुवन का निरन्तर पचन तथा दहन करती रहती है । सोम राति रूप से क्षय के स्थान पर पोषण करता है । जैसे हमारे शरीर में मेटाबालिज्म पोषण करता है, किन्तु इस विश्व द्वन्द्व में अराति को प्रबल रूप में देखता हूँ । अराति प्रबल होती है भग्न करने वाले स्पन्दन के रूप में । इस ग्रसन के फल से दुरित (Mal-move-

ment) तथा दुर्ग (Mal alignment) का उदय होने लगता है। इससे उत्तरणार्थ (नावेव सिन्जु) क्या करूँगा ? "जातवेदसे सुनवाव सोसम्। जो जात है (जैसे राति-अराति का द्वन्द्व) उसे जो जानते हैं 'वेद; (जानते है अतः पार करने का उपाय बताते हैं) उस जातवेदस् में सवन करता हूँ (सुनवाम)। किसका सवन ? पूर्वोक्त मन्थनोदभूत 'स ओम' का। अर्थात् 'स ओम' रूपी परमाश्चर्य साक्षात् अमृत ध्वनि है। सवन किसके द्वारा करोगे ? आन्तरस्त्रुवा—हमारे आन्तर सुव के द्वारा। पक्षान्तर से सुषुम्ना के द्वारा ! सुषुम्ना के बिना कौन सवन कर सकता है ? आन्तर कथा अर्थात् भावभक्ति का दृष्टिकोण !

कृपालववैभव पंञ्चकम्

(अनुवाद के साथ)

सर्वरूपात् परा साचित् कृपया कमलायते।
सर्वगन्धात् परं तत्सत् कृपया सौरभायते ॥१॥

कृपयैकरसो भूमा मकरन्दरसायते।
(अखण्डैकरसो भूमा कृपयाजरसायते।
कामकृमिकुलागारं हृदच्छोदवरायते ॥२॥

(हृदयं पंङ्किलं पंङ्कजाय सरोवरायते)
हेयं हित्वा कषायञ्च मनोऽपि सधुपायते।
(कीटः क्लेदकषायेषु मनो में मधुपायते)
योऽजेशयस्य भृङ्गस्य समृत्युरमृतायते ॥३॥

अतिवासम्भवस्यापि सुसम्भवः कृपालवात् ॥४॥

नमोऽमृतकृपासिन्धु—मन्थपादनखेन्दवे ।
तत्वमस्यादिलक्ष्यय स्वकृपाम्भोजमानवे ॥५॥

सर्वरूपातीत शुद्ध चिदेक स्वरूप।
कृपाय कुटिल धरि कमलेर रूप।

सर्बगन्धातीत शुध सत् निर्विशेष।
कृपाय हईल ताय सौरभ अशेष॥
भूमा एकरस शुद्ध अखण्ड आनन्द।
कृपाय निविड़ हल पद्म मकरन्द॥
कामकृमि-कुलागार हृदय आमार।
कृपाय अच्छोदसवःपद्म फूटिवार॥
कलुष कषाय रसे मत्त निरन्तर।
कृपाय हईल चित्त पद्म मधुकर॥

निशाय मुदित अजे मृगेर मरण ।
से मरण मोर ह्लो अमृत परम ।
एकान्तेई असंभव करे सुसम्भव ।
महाश्चर्य अहैतुक कृपालेश तव ।।

एहेन अद्भुत कृपार सायरे, से निधि आपन मथने ।
उदित नयने राकाशशीसम जुड़ाते अमिय मिनाने ।।
निष्कलंक नव चिर पूर्णकला पदनख दश इन्दु ।
कणाय-कणाय क्षरिवार छले, मिलाल सुधार सिन्धु ।
एहेन कृपा अमृत घन मूरतिते नमि बारम्बार ।
आपनार देया धेयान कमल, चिर भानु येवा फूटिवार ।
"तुमि सेई" आदि शुद्ध वाक्य अवाङ् मनसगोचरयारे ।
दिल सर्वद्वन्द्व नामरूपगुण, भावेर भावना पारे ।।
निजबोधरूप ये परतत्व निजकृपा पराशक्ति ।
निज कृपामल कमल राजित, मन्नाथ लह प्रणति ।।
मोंर पराण लुटानो प्रणति ।।

नित्यस्नानतीर्थपञ्चकम्

व्योमस्नानं भवतु मूलवाणीविताने ।
वातस्नानं बहुलविपुलानन्द हिलकोलदोले ।
तेजस्नानं कनककिरणाधारवर्णालि चित्ते ।
क्षित्यां गन्धेऽमृतमुचि मृतेर्भेषजे चामृतेऽसु ।।१।।

भुवनवीणार मूलतारेते शाश्वत ।
ये आदिम प्राणवाणी हय विस्फारित ।।
सुरेछन्दे लये विश्वे अपूर्व वितान ।
स्वच्छन्द स्थितिर तरे ताय व्योमस्नान ।।
निज वीणाटिरे बांध से महाझंकारे ।
सुर छन्द नित्यबाधा सेतार तारे ।।
(सुरछन्द साधा हवे सहज से तारे)
'मधु द्यौरस्तुनः पिता' अन्तरिक्ष ध्रुवे ।
अन्तहीन यागरत 'सोम' अभिजेवे ।।
शुये विश्व चितानले निखिल दहने ।
रक्षा पाओ ताहा हते स्नाने सोमस्वने ।।

यद्यपि जातवेदसे सुनवाम सोम ।
यागेर समिध हवे अमृत परम ॥

× × ×

"एष आकाश आनन्द" श्रुति अनुभवे ।
से आनन्द समाधिर जागरण यवे ॥
समाहित मौनभंगे प्रशान्त कल्लोल ।
शान्त आनन्देर माझे आनन्द हिल्लोल ॥
अस्पर्श अमेय हलो मात्रास्पर्शरूप ॥
'मधुवाता ऋतायते' मन्त्रेर स्वरूप ॥
'मधुवाता' परशेर मधु सिहरण ।
अणुमहानेते मधु दोल विकिरण ॥
प्रतिटि रेणुते "मधुदोल' मधुच्छन्द ।
से 'मधुच्छन्दा' स्नाने केन गो विरत ॥
अनृसेर 'अरातिर' फेलि आवरण ।
मधुदोल माधुरीते कर वातस्नान ॥

☒ ☒ ☒

विश्ववर्णालिर छवि आपन आधारे ।
ये कुहकी फुटाईल टूटिया आंधारे ॥
ये हिरण्यरेतसेर कथ वेदवाणी ।
मूर्त्ततेज सवितार स्वरूप लावामी ॥
उषा सन्ध्या 'अपावृत' हिरण्यकिरणे ।
स्निग्ध हऊ रजस्तप्त ! सद्य भर्गस्नाने ॥
'मधु मां' अस्तनः सूर्यः भर्गो वरेण्यम् ।
मधुमती गायत्रीर सम्पुट परम ॥
ए मिलने मनप्राण देहटि मिलाओ ।
झरा शुष्कताय नव मंजरी फुटाओ ॥
'आपोज्योतिरसोऽमृतं" मन्त्र शिरोमणि ।
'ज्योतिषी परमात्मनि' आपेरे 'जुहोमि' ॥
'ईशाना वार्य्याणां आपो' वेदमन्त्रेशुनि ।
निखिल भेषजगर्भा अमृतवाहिनी ॥
वरेण्यरे ईशानी मां 'रसोशिवतम्' ।
स्तन्यरसे दिते जार आकृति परम ॥

तारि स्नेह ढाला सर्वदेवी शुचिताय ।
बहिरन्तः शुचितरे संपो आपनाय ।।
'मातर्गंगे' आवाहने ताय आपस्नान ।
'महेरणाय चक्षसे' ध्रुव कर ज्ञान ।।
'आततम् चक्षुः' हेरे जे पद परम ।
'आत्मविद्याशिव' तत्वे येथा आचमन ।।
'मधु क्षरन्ति सिन्धवः'' मधुमति ऋके ।
विन्दु मधुरिमसिन्धु मिलये स्नातके ।।
विश्व तर्पणेर तृप्ति जार तुष्टिरूपे ।
विरजा विशोक स्नान जाहार स्वरूपे ।।
भुक्ति-मुक्ति पुष्टि-तुष्टि गलित करुणा ।
करुणा वरुणालया मायेर भजना ।।

(विभिन्न media, विभिन्न विजुअल कैमरा में विभिन्न वर्ण प्रतिभात होते हैं । जगत् सविता में 'आदित्य' रूप जो प्रकाश है, उसमें जिस प्रकार से 'स्वाभाविक शब्दाकृति' रहती है, उसी प्रकार उसकी स्वाभाविक वर्ण आकृति भी है । यही है आदित्य का 'कलर प्रोटोटाईप' अथवा प्लेटो की भाषा में 'कलर आईडिया' । इसे श्रुति ने तथा अनुभव ने हिरण्य, हिरण्मय, रुक्म इत्यादि कहा है । उषा तथा सन्ध्या रूपी सन्धि में इस हिरण्यरेतस का आभास प्राप्त होता है । वर्णालि (स्पेक्ट्रम) के अधः (इन्फ्रा) तथा उर्ध्व (अल्ट्रा) ग्रामसमूह क्या वृत्ताकार घूर्णित होकर इस हिरण्य में मिलते हैं ?)

उर्वारुक फल यथा छोड़ निज त्वक् ।
तेमनि अमृत छाड़े मृत्युर निर्मोक ।।
जार वरे, से 'सुगन्धि' स 'पुष्टि वर्धन' ।
सेई 'राति' भद्रगंगे कर क्षिति स्नान ।।
'मधुमत् पार्थिवं रजः' पृथ्वी भद्रगंगा ।
तृणे, पुष्पे, मृद्धिकाय गन्ध मधुच्छन्दा ।।
गन्धे उषा उल्लसित नक्त विलसित ।
गो, औषधि- वनस्पति-गन्धे सुवासित ।।
चितागन्धा[1] नासापुटे मृत्यु अविराम ।
से नासारे देओ चिरमद्रार आघ्राण ।।

(१) कास्मिक कम्बस्चन, इन ट्रापी

जे पृथ्वी अदितिरूपा-'हंसः शुचिषत्'[२] ।
भूमिष्ठ जाहार गर्भे[३] हय ऋतं-बृहत्'[४] ।।
से जे मा-टीं माटी नय परम कल्याणी ।
से मृन्मयी मातृतीर्थ सर्वार्थेर खनि ।
धन्य धरि बुके तीर्थ-रज-स्पर्श मणि ।।

जपे विनियोगः

आसनाद्यैर्जपे सांङ्गोऽभ्यासाद्यैः केवले जपे ।
वैखर्याद्यैर्जपे स्थात्यै लसिताद्यैर्जपे रसे ।।
वाकिकाद्यैः क्रियाक्रान्त्यै कोर्मादिभिश्च साहसे ।
मूलाद्यैरध्वनः क्रान्त्यै क्षित्यादि-स्नानपंञ्चकम् ।।

पांच (मधुमती, गायत्रो, हंसवती, त्र्यम्बक, जातवेदस) परमा ऋक् का, विशेषतः मधुमती का सार संदोहरूप जो व्योमादि पंच स्नान प्रसंग हैं, उन्हे जपानुष्ठान में इस प्रकार से समझ लो :—अंग सहित जप में आसन, न्यास रूपी अंग द्वय द्वारा क्षिति स्नान करे। अर्थात् इन दोनों का क्षितिस्नान अनुकल्प है। आचमन, आवाहन, आप्यायनादि मन्त्र व्याहरण तथा भावना द्वारा अप् स्नान करे। गुरुध्यान और भूतमुद्धि के द्वारा विशेषतः तेजस्नान करे। प्राणायाम में सुषुम्ना तथा कुण्डलिनी उद्बोधन पूर्वक वातस्नान होता है। नादविन्दु का आश्रय लेकर समाहित जपध्यान ही व्योमस्नान है। इसे करे, अर्थात् तत्र जप और ध्यान नाद में और नाद भी सूक्ष्मरूप विन्दुध्यान में मिलित हो गया है। जैसे प्रणव जप में अर्धमात्रा सेतु को पार करना पड़ता है। यह परम अव्यक्त का पूर्णभाव है। विविध कलन रहित कलाशक्ति की सामान्य में स्थिति, तदनन्तर कलातीत।

केवलजप में यह क्रम —

(१) आयास द्वारा अभ्यास अथवा आवृत्ति = क्षितिस्नान
(२) अनायास सुगम जप = अप (जल) स्नान
(३) मंन्त्राक्षर शक्ति के स्फुरण से वीर्य तथा तैजस जप = तेजः स्नान

---

(२) आदित्य या प्राण as per idia or Arche type (undifferentiated)

(३) पृथ्वीतत्त्व में प्रविष्ट होकर प्राण की विचित्र बहुधा अभिव्यक्ति (विशेषतः मनुष्यसृष्टि में) मानो स्वयं को परितृप्त करती है।

(४) प्राण अथवा आदित्य As basic Cosmic Energy, infinitely differentiating to a Cosmic Basic छन्दः and Pattern.

(४) जपशक्ति की व्यष्टिरूपता छोड़ते हुये सूक्ष्म अथच महती व्याप्तिरूपता के आविर्भाव में व्याप्तिस्नान = वातस्नान

(५) आनन्द तथा ज्योतिरूप आकाश के प्रथम स्पन्दरूप में जो मूलजप है, उस मूलजप में (कलाशक्ति में yet undifferentiated-though "eager to become"—Power Continuum-(अनन्त शक्ति-मातृका) स्थितिरूप जप = व्योमस्नान

३, ४, ५ वाले स्नान में क्रमशः वीततमाः, धूतरजाः तथा वीतरजाः स्थिति होती है। तदनन्तर वैखरी, मध्यमा, पूर्व पश्यन्ति, पर पश्यन्ति तथा परारूपी पंच-भूमिक जपद्वारा जप ख्याति (जपमहिमा प्रकाश) हो जाती है। इन्हें भी क्रमशः क्षिति, जल, अग्नि, वायु, गगन स्नान जानो और लसित, उल्लसित, समुल्लसित, विलसित रूपी जपरसानुभूति के भूमिपंचक की क्षित्यादि स्नान पंचक रूप में भावना करो।

इस प्रकार वाचिक, उपांशु, मानस, तनुमानस, अणुमानस अथवा महामानस एवं अतिमानस रूपी क्रान्ति (क्रिया) जप में पूर्वोक्त स्नान पंचक की भावना करो। जप शक्ति के प्रकाश में कूर्म, मीन, वराह, नृसिंह तथा उस क्रमरूपी पंचशक्ति का यथाक्रमेण ध्यान करो। क्षिति से व्योम पर्यन्त पंचशक्ति में इन पंचव्यूह शक्ति का अनुग्रह जानो।

अन्त में मूलाजार से विशुद्ध तक पांच चक्र के उन्मेष में अध्वक्रान्ति (Objective Mystic Ascent) तथा इस अध्वक्रान्ति के सहग जप द्वारा भी परपर उक्त पंचस्नान सम्पन्न हो जाता है। अर्थात् जब जिस केन्द्र में जिस प्रकार से जप चलता है, तब उस केन्द्रक्रिय तत्व में स्नान होता है। मूल मंत्र को पकड़ने पर उसके (नादविन्दु-समाश्रित) व्याहरण द्वारा व्योमस्नान, अन्तर्भावना (मंत्रशक्ति एवं मन्त्रचैतन्य की सर्वव्यापी प्राणरूपा भावना) से वातस्नान इष्टगायत्री जप द्वारा तेजः स्नान, स्तव तथा फल समर्पण से अपस्नान, जपरक्षा-कवच आदि से क्षिति स्नान सम्पन्न हो जाता है। यहां क्रम वर्णन विलोम किया गया है। इसे लक्ष्य करो।

द्वितीय अध्याय

महामाया (सर्वसूत्रयोनिः)

सति तत्वसत्त्वत्वे सर्वादिशक्तिमत्ता महामाया ॥
सा भगवत्ता परब्रह्मणि ॥

पूर्वपाद में लक्षित तत्व एवं सत्व रूप में सर्वरूपा, सर्वेशी इत्यादि जो शक्तिमत्ता है, वह महामाया है ॥ यही है परब्रह्म की भगवत्ता ॥

सूत्र का यही 'आदि' शब्द कारिका में यथासंभव स्पष्ट किया जायेगा। आदि का अर्थ 'इत्यादि प्रभृति' भी होता है। साथ ही आदि = आद्या अर्थात् सर्वत्र सबकी जो आद्याशक्ति है। सर्व का विश्लेषण अनेक प्रकार से पूर्वग्रंथ में किया गया हैं और आगे भी किया जायेगा। सत्ता, शक्ति, छन्दः, आकृति, पाद, मात्रा, कला, काष्ठा, वाक्, अर्थ, प्रत्यय, क्रिया, कारक, फल इत्यादि। द्वितीय भाग में चरमसूत्र की कारिका में 'ॐ तत्सत्' इस ब्रह्मवाचक मंत्र के ब्राह्मीतनु तथा शाक्तीतनु का वर्णन किया गया है। महामाया में उक्त दोनों तनु सम्मिलित हैं। इनमें 'महा' द्वारा विशेषतः ब्राह्मीतनु तथा अमाया (जो स्वरूपतः अमेय की अनिर्वाच्य स्वरूपमेयता का कारण है) रूपी भाग द्वारा शाक्तीतनु उद्दिष्ट होता है। प्रकारान्तर से ब्रह्म की भगवत्ता महामाया है। वेद के देवीसूक्त, रात्रिसूक्त इत्यादि में, उपनिषद्, तन्त्र, स्मृति, पुराण आदि में बहुधा कीर्त्तिता, मन्द्रिता तथा वन्दिता महामाया को मात्र "महती माया" नहीं समझना चाहिये। ये हैं साक्षात् ब्रह्ममयी मां। मह = महामहिमामयी, मा + या = जो माया हैं। इनकी महिमा को कोई भी पार नहीं कर सकता। (चण्डी में इन्द्रादि देवताओं द्वारा गायी स्तुति, देवीसूक्त देखो)। कारिका में कहा गया है कि मां नाम एकाक्षर महामंत्र है। यह भी कारिका में कहा गया है। अ-उ-म–नाद–विन्दु-कला- कलातीत रूपी सप्तसिन्धु भी एक (मां) में मिल जाते हैं।

इस महामाया सूत्र को सर्वसूत्रयोनि कहा जाता है। क्यों ? यह समझना होगा। विकल्पसूत्र में महामाया की भगवत्ता (जन्माद्यस्य यतः इत्यादि) का स्वतंत्र रूप से लक्ष्य किया गया है। इसके द्वारा इस शंका का परिहार किया गया है कि महामाया ब्रह्म (भगवान) की आद्याशक्ति होने पर भी भगवत्ता नहीं हैं। महामाया को मात्र शक्तिरूपेण मानकर उनका शक्तिमान के साथ भेद है अथवा अभेद, इस तर्क में अप्रतिष्ठानभाक् नहीं होना चाहिये। इसीलिये शक्तिमत्ता सूत्र को कहा गया है। इसके अनन्तर कारिकावलि के अर्थानुध्यान का यत्न करो।

ब्रह्मणो भिद्यते नैव मूर्तामूर्त्तात् कथञ्चन ।
अविशिष्ठाद् विशिष्ठाद् वा निष्कलात् सकलादपि ।
नाप्यध्यस्तादधिष्ठानादाभासाद् भासकान्न च ॥१॥

इनमें निर्व्यूढ़ समग्रत्व (Absolute wholeness) है, अतः ये स्वयं अमूर्त-ब्रह्म से भिन्न नहीं हैं । मूर्त्त ब्रह्म से भी भिन्न नहीं है । निर्विशेष (अविशिष्ठाद्) से भिन्न नहीं हैं । सविशेष से (विशिष्ठाद्) भी भिन्न नहीं हैं । यहां तक कि वे निष्कल एवं सकल से भी भिन्न नहीं हैं । जिसे हम अध्यस्त मानते हैं, उनसे भी भिन्न नहीं हैं । यह एक परमाश्चर्य समग्रत्व अथवा सर्वत्व है । यहां 'कथंञ्चन' का प्रयोग इसलिये किया गया है कि भेद, भेदाभेद प्रभृति कोई भी फारमूला इसमें प्रयुक्त नहीं किया जा सकता । यह है Alogical Absolute whole Fact, जो सब है और जिसमें सब हैं । 'तस्य सर्वस्य या शक्तिः सा त्वम्' इत्यादि । क्या केवल शक्तिकला ? (Aspect as power ?) नहीं, वह नहीं । इसे तभी शक्तिमत्ता कहा गया है । मूर्त्त कहने पर विशेषतः आकृति (Form-pattern) समझना चाहिये । विशिष्ट अर्थात् गुण । सकल = शक्ति, लीला, छन्दः । अध्यस्त = मूल सत्ता का विवर्त्त । आभास = मूल प्रकाश के मान भासादिरूप प्रकाशमानता का लक्ष्य ध्वनित होता है । ब्रह्मसम्पर्क में महामाया को इस प्रकार से प्रदर्शित करते हुये जीव एवं जगत् सम्पर्क का प्रदर्शन किया जाता है :—

न जीवाद् भिद्यते कुत्र व्यष्टितो वा समष्ठितः ।
मुक्तादवद्धान्मुमूक्षोर्वा विभूतश्नाणुतोऽपिवा ॥२॥

अव्यक्तादपि च व्यक्ताज्जगतो नैव भिद्यते ।
न रणोर्वा विराजो वा हेतोर्व्वा हैतुकादापि ॥३॥

अन्योन्याभावमात्रस्याभावस्य भावरूपता ।
अविनाभावरूपेण यत्रैव परिनिष्ठिता ॥४॥

सर्वरूपा महामाया जीव से किसी भी प्रकार से भिन्न नही हैं । व्यष्टि (विश्व तैजसादि) से भी भिन्न नही हैं । समष्टि (विराट हिरण्यगर्भ) से भी भिन्न नही है । बद्ध तथा मुमुक्षु जीव से वस्तुतः भिन्न नही हैं क्या ? नही ! वह बद्ध जीव के रूप में स्वयं ही स्वयं को विस्मरित कर देती हैं (भ्रान्तिरूतेण संस्थिता), वे स्वयं ही स्वयं को पहचानने लगती हैं (चेतना-चिति) । जीवात्मा को विभु वस्तु (सर्वव्यापक) कहने पर तुम्हारा विचार विभ्रमित नही होता, परन्तु यदि उसे अणु (जैसे उसे अनेक भक्तिसिद्धान्तों में कहा गया है) कहें तब क्या होगा ? उससे भी तुम्हारा विचार विभ्रमित नही होता ! उन्होंने स्वयं ही स्वयं को विभुत्व, अणुत्व में व्यपदेश किया है । वे ही अणु हो गई हैं, यदि यह सुनकर तुम खुश होते हो तब हुआ करो ! तुम्हारा मिथ्यात्व भी तो उनके (सर्व से) बाहर नही है । यदि जीव

के इस अणुत्व को सांसिद्धिक अथवा नित्य मानना उचित लगे, तब बहुत अच्छा ! उनकी चरमता में जीव का यह अणुत्व 'नित्य' रूप से विद्यमान रहता है। इस स्थिति में तत्वमसि प्रभृति महावाक्यों के शोधन-बोधन से क्या लाभ ? तुम विचार कर कहोगे – लाभ यह है कि त्वं पदार्थ को त्वं रूप में रखना ही तो यह परम समीकरण नही होता ! तुम शोधन में 'त्वं' रूपी आवरण को फेक दो। तब निज अव्यक्त बोधरूप कुछ प्राप्त होगा। यदि यह त्वं रूपी मुखौटा तुम्हारे 'भागत्याग' में इस प्रकार से त्यक्त होने पर भी विश्वव्यवहार में 'वातिल' (उपेक्षित) न होकर विद्यमान ही रहता है, उसमें आपत्ति क्या है ? जैसे तमः—प्रकाश में विरोध है, उसी प्रकार से अविद्या तथा विद्या भी विरोध से युक्त हैं। अतएव विद्या की स्थिति यदि ऐसी कहो तब तो उचित है।

जिस विद्या द्वारा निखिल प्रपंचोपशम घटित होता है, वहाँ पर जीवत्व का प्रसंग कहाँ है ? प्रपंच का लोप अन्य के सम्पर्क द्वारा अथवा स्वतः नहीं होता। दृष्टि की सृष्टि द्वारा क्या इन सबका लोप करोगे ? सृष्टिकुहक कुशलिनी की वह सृष्टि क्या है और किसकी है। वस्तुतः वह तो महामाया की दृष्टि है। यदि मूल में एक ही जीव है, तब भी महामाया ही वह एक जीव हैं। वह एक जीव है महामाया का एक विन्दु अथवा महाविन्दुरूपी लीलायन। ये विन्दुरूपा हैं। अर्थात् विन्दुमाया हैं। महाविन्दु ही महासिन्धु है। जिनको भिन्न-भिन्न जीव कहा जाता है, वे सब इस महा विन्दु की ही भिन्न-भिन्न रूपता हैं। महाविन्दु तथा उसका वितान इस विभिन्न महाविन्दु समूह का विनाशरूप नहीं है। क्योंकि इस विन्दुरूप में ही परब्रह्म अथवा महामाया निखिल सृष्टि में अनुप्रविष्ट रहती हैं। महामाया के प्रसाद से प्रपन्चोपशम मुक्ति मिलती है। तब (In regard to that position) इस प्रकार से प्रसज्यमान (Practically relevant) जीवत्व तथा जगत् तिरोहित हो जाता है। फिर भी जीव जगत की आधाररूपा और हेतु रूपा कलाशक्ति तथा विन्दु एवं नाद की त्रयी उक्त प्रपंचोपशम मुक्त के सम्पर्क में अप्रसज्यमान होने पर भी स्थित रह जाती है। संकल्परहित अवस्था हो जाने के कारण उक्त त्रयी अब जीवत्व के (पंचकोष अथवा सप्त कोषादिक) विशेष-विशेष संघात की सृष्टि नहीं करती। अतः विदेह मुक्त अवस्था प्राप्त हो जाती है। संघात (देह) के विनाश से विन्दु का विनाश नहीं होता। यदि कहें कि यह विन्दु ही बीज अथवा कारण है, तब पादप का विनाश हो जाने पर बीज के सद्भाव के कारण पादप की सम्भावना अवशिष्ट रह जाती है। इसका समाधान यह है कि विन्दु स्वयं (As such) बीज नहीं है। अविद्यासंस्कार के उपादान की स्थिति होने पर (जैसे प्रकृति और पुरुष दोनों) ही विन्दु बीज बनता है।

तब यह परिलक्षित होगा कि अणु अथवा विराट के किसी भी संघात में उनकी नाभि अथवा केन्द्ररूप में (प्रभवः प्रलयं स्थानं निधानं बीजमव्ययम्) विन्दु

को (विन्दुमायारूपी ब्रह्म को) पाना ही होगा। अन्यथा कोई भी संघात का प्रभव नहीं होगा। जैसे केन्द्र-फोकस द्वारा ही वृत्त अथवा वृत्ताभास की उपलब्धि होती है। यहाँ यह ज्ञात होता है कि संघात की आकृति-प्रकृति के सम्बन्ध में विन्दु स्वयं निरपेक्ष है, Neutral है। उक्त आकृति-प्रकृति अनादि कर्म संस्कार जनित वद्ध वासना अथवा विशेष क्षेत्र में जीव जगत् के हितार्थ शुद्ध संकल्परूपा मोक्ष वासना द्वारा निरूपित होती है। इस प्रकार जब कोई प्रपंच से मुक्ति प्राप्त करता है; तब वह बहिप्रज्ञ-अन्तप्रज्ञ घनप्रज्ञरूप संघातत्रयी से मुक्त हो जाता है। नाभि स्थित विन्दु विन्दुमाया रूप में ही विश्रान्त हो जाता है। यदि कोई मुक्त जीव भी जगत हित के लिये संकल्प की रक्षा करते हुये मुक्त हो जाते हैं, तब इस विन्दुमाया को नाभि बनाकर उसे अपने आवश्यक संकल्प कलेवर में पाना होगा। भागवत के 'आत्माराम' वाले श्लोक में उक्त है कि निर्ग्रन्थ मुनिगण श्रीहरि की अहैतुकी भक्ति के रसास्वादनार्थ ऐसा ही करते हैं। विन्दुसूत्र में कहा गया है कि जहाँ शून्यता तथा पूर्णता मिल जाती है, वही विन्दु है। विन्दुवासिनी महामाया एक साथ ही सर्वनाशी एवं सर्वा हैं। वहाँ समस्त विचित्र अभिव्यक्ति रेखा शून्य हो जाती है, अथच निखिल कलन शक्ति की गाढ़ता की पराकाष्ठा (पूर्ण) रहती है। इस प्रकार शून्य तथा पूर्ण के युग्म केन्द्र की उपलब्धि के अभाव में कोई भी कलना नहीं हो सकती। मुक्ति में जाग्रदादि निखिल कलन की शून्यता घटित होती है, तथापि शून्य तो शून्य ही रह जाता है। शून्य के अतिरिक्त यह आश्वासन कौन देगा कि अब प्रपंच का लेश भी नहीं बचा है। शान्तम् शिवम्। यही है पूर्ण की "गारन्टी"!

अब जगत् सम्पर्क में जगन्माता का ध्यान करो। प्रलयादि में जगत् का जो अव्यक्त (unmanifiest) (असत्) भाव है उससे महामाया भिन्न नहीं है। वे जगत् के व्यक्त (manifiest) भाव से भिन्न नहीं हैं। क्षुद्र रेणु से अभिन्न हैं और विराट भी उनसे अभिन्न है। जिसे तुम क्षुद्र रेणु समझते हो, वह क्षुद्र नहीं है और रेणुमात्र भी नहीं है। आधुनिक विज्ञान की दृष्टि में भी यह कारवारी क्षुद्रत्व और रेणुत्व भी Crude pragmatic Convention or Fiction रूप से कार्यरत है। और आगे बढ़ने पर देखोगे कि यह रेणु भी अतीत अनागत निखिल ब्रह्माण्ड का एक विशिष्ट दहर संस्करण (micro-Cosmic resume) है। वह विन्दु वासिनी इस रेणु में भी निवास करती हैं। जिन विन्दु वासिनी को देखा, उसने रेणु में अशेष— विशेष रूप 'सर्व' अथवा 'सर्वा' को ही देखा है। तुम्हारे हमारे कार्य को चलाने के लिये इस रेणु की नाभि में जो रहती हैं, वे अपने संख्यातीत 'अर' तथा सीमाहीन 'नेमि' को ह्रस्व करते हुये उसे इतना सा ही (छोटा सा) करके दिखला रही हैं। यही है महामाया की माया। इसकी चर्चा अगले सूत्र में की जायेगी। वह असीम, अपरिमेय कलन शक्ति (कला-काली) विन्दुरूपा परम धनी भाव प्राप्त करके मानों

कहती हैं "अतीत-अनागत निखिल विश्व (देश-काल-कार्य-कारण का संघात) के व्यक्त (As manifested) भाव को उच्छिन्न (The Circumference and all the radii reduced to zero) तथा आत्मसात कर लिया है। शून्य कर लिया है (यथोर्णनाभः सृजते गृह्यते च), किन्तु सब कुछ को शून्य करके भी मैं अपनी कलनशक्ति अथवा काली रूप में वही पूर्ण ही हूँ। 'पूर्णमदः' मन्त्र का यह एक परम रहस्य है।

नामरूप में जो अशेष विस्तार अथवा वितान है, वही पूर्ण (पूर्णमदः) है। विन्दु रूपेण (अशेष वितानरूप अव्यक्त में आने पर) जो परम धनीभाव है, वह भी पूर्ण है। देखो, विन्दु रूप पूर्ण किस प्रकार से नामरूप में पूर्ण अभिव्यक्त हो रहा है। (पूर्णात् पूर्ण मुदच्यते) (उत्+अच = गत्यर्थ में) इस प्रकार विन्दु रूप में अथवा नामरूप में जो पूर्ण है, उस पूर्ण को लेकर (पूर्णस्य पूर्णमादाय) भी वे पूर्ण ही रह जाते हैं (पूर्णमेवावशिष्यते)। आदाय तथा अवशिष्यते पद का विशेष रूप से चिन्तन करो ! आत्+आय (गति) = आदाय, इस प्रकार से यह 'साधा' जाता है। आत् = आ वर्ण, यह व्याप्ति तथा काष्ठा को सूचित करता है। मध्य में विन्दु माया को रखकर विश्वभुवन में एक सार्वभौम महासमास (कास्मिक इन्टिग्रेशन) चलता है। बुद्धि की दृष्टि से इसकी दो काष्ठा है—अवम् (शून्य) तथा चरम (अशेष)। प्रथम है विन्दु, द्वितीय है नाद। जैसे शून्य के सान्निध्य से (Approximation) से अशेष की ओर (अर्थात् अनुलोम) कोई नैकटिक (एप्राक्सिमेट) समीकरण घटित होता है। यदि इसे हम कहें + oc, और विपरीत क्रमेण (विलोम) समीकरण को — oc कहें तब इनके योग से शून्य ही उपलब्ध होगा, किन्तु उसकी और चिन्तना करने पर वह अशेष ही है। जैसे e = एक अन्तहीन क्रम सिरीज। तब —e है इस सिरीज के अन्तर्गत व्यष्टिराशि (Terms) का ऋणात्मक अवस्थान। अब e + (—e) क्या हुआ ? प्रथमतः एक-एक धनराशि दूसरे के अनुरूप ऋणराशि को काटते हुये चलती है। यह अशेष "काटाकटी" है ! इस अशेष का विचार जप के प्रसंग में एकान्ततः वाह्य नहीं है। अब देखो + oC से — oC का यदि वियोग किया जाये, तब भी तो यही अशेष ही है ? इसका फल होग २ oC द्विगुणित अशेष ! अतः "आदाय" क्रिया का अनुलोम अथवा विलोम रूप से जो भी समीकरण किया जाता है, उससे इस अशेष को शेष नही किया जा सकता !

यहाँ उदाहरणार्थ पूर्णमदः को दिखलाया गया है। कालान्तर में इनकी विशद विवेचना होगी। उपर्युक्त 'सान्निध्य'—'नैकटिक' शब्दों को लेकर यहाँ विचार करने की आवश्यकता नहीं है। आरम्भ होता है एक क्षुद्र रेणु को लेकर। इसकी परिसमाप्ति कहां है ? रेणु का जो रेणु है, उसमें भी विश्वभुवन पूर्ण "कानू का गीत" ही तो बज रहा है। The unbroken unabriged theme of song Di-

vine ! यही तो Miracle है ! यदि कोई मिराकिल (चमत्कार) है, तो यही है। महामाया के आधार में यह रेणु ही महाशक्ति चतुर्व्यूह का द्योतन कर रहा है। महा-कलनशक्तिरूपा महाकाली, महाविन्दु शक्तिरूपा विन्दुवासिनी महेश्वरी, महानाद शक्तिरूपा महालक्ष्मी (रेणु में जो अनवद्या श्री है, परफेक्ट हारमोनी) एवं महा-सरस्वती (अकुण्ठिता ख्याति—परफेक्ट मैनिफीस्टेशन)। इस चतुर्व्यूह को हमें पहचानना होगा।

चतुर्व्यूहा महामाया इस चार प्रकार से नित्यपूर्णा हैं। वे कालादि निखिल कलन की 'आद्या' (Prime Elan) रूप में नित्यपूर्णा हैं। निखिल के विन्दु में अधि-ष्ठातृ रूप से वे नित्य पूर्णैश्वर्यमयी हैं। निखिल के वितान में आकृति-कृति-छन्दः रूपी त्रितय का जो अनवद्य सौष्ठव है, सुषमा तथा अपरूप माधुरी है, उस रूप से वे परि-पूर्णा श्री हैं। निखिल प्रकाश और बोध की परिसीमा रूप में वे नित्यपूर्णा ख्याति हैं। वे इन चारों में से किसी में भी महाअमेया, मेया, मायोपहिता नहीं होतीं। मानो महामाया स्वयं से ही प्रश्न करके स्वयं उत्तर दे रही हैं—"इस समस्त की परम अधीश्वरी कैसे हूँ ? महाविन्दु अधिष्ठिता महेश्वरी रूप से। इन सब की आकृति-क्रिया-छन्द में इतना सौष्ठव-मधु तथा रस किसने दिया ? मैं महालक्ष्मी हूँ। इन समस्त का परिपूर्ण सत्यबोध एवं ख्याति, निवेदन एवं आस्वाद कहाँ है ? मेरे महासरस्वती रूप में।" इन नित्यपूर्णा चतुर्व्यूहः महामाया का 'क्रीं ह्लीं श्रीं ऐं' महाबीज रूप में ध्यान करो।

यदि एक रेणु से भी महामाया अभिन्ना हैं, तब वे उक्त चतुर्व्यूहात्मक रूप से भी रेणु में स्थित हैं। वस्तुतः वे तो रेणु नहीं है। वे हैं "चिरवेणु हाथ में लिये हुये चिररेणु"। इस वेणु में निखिल का समस्त स्वर, छन्द नित्य ही बजता रहता है। एक ही घर में नहीं, समस्त लीलायन में बजता है। शहनाई के दोनों साज बजते हैं। हमने-तुमने इसे सुनने वाले कानों को खो दिया है। यही है महामाया की माया। हमारी भान सामग्री (Experience as a whole) ही पूर्ण भास अथवा पूर्ण ख्याति नहीं है। पहले हमने मर्शपंचक और भासपंचक में देखा है कि अखण्ड अमेय भी मानों खण्डित होकर धूलिरेणु हो रहा है। एक प्रकार से यह है आभासिक अर्थात् ग्रहीतृ विशेष के अपने भान (Experience as fact) द्वारा किसी भास भाव को ग्रहण करने वाले संस्कार की छटाई करना, उसे Pack करना, एक अलग सामग्री की 'लेबल' उस पर लगाना। सामग्री के समग्रत्व की लुप्तता के कारण वह हममें-तुममें-वैज्ञानिक में-योगी में-पृथक्-पृथक् सामग्री है।

अच्छा। यह 'आभासिक' सामग्री भी (जैसे भी हो) हमारे स्वाधिकार में नहीं है क्या ? यह तो 'सर्व' से वाह्य नहीं है। महामाया की माया का को आभा-

सिक भाव भासित हो रहा है, यह क्या उससे भिन्न है ? ना, ऐसा नहीं है। महामाया ही हमारे रूप में हमारे भान और भास आदि के रूप में भासित हो रही हैं। वास्तव में महामाया का पूर्णत्व कहीं भी वाधित नहीं हो रहा है। वे शुद्ध 'अस्ति-भाति प्रियम्' रूप से सर्वत: सर्वथापूर्ण हैं (सूत्र की प्रथम कारिका में यह दर्शित है): वे विन्दु (यत्रैकत्र शून्यत्वपूर्णत्व) रूप से सर्वत्र अनुप्रविष्ट रहकर रेणु को भी दहर-विश्व बना देती हैं। (Liebuitz और White head के लेख इस प्रसंग में पठनीय हैं) अतः वे इस भाव से भी पूर्ण ही हैं। वे रेणु में मात्र एक परम आकृति (Perfectly Realized universe pattern) के रूप में हैं, ऐसा नहीं है। वे इस रेणु में अपनी ख्याति की पूर्णता प्रतिष्ठार्थं धारारूप (इवाल्यूशनरी पैटर्न) धारण करती रहती हैं, और इस धारा के अन्तर्गत वे प्रत्येक जातक को (Evolvent) पूर्ण यथार्थ मान और आंशिक आभासिक मान से चालित करती रहती हैं। इस धारारूप में भी उनकी पूर्णत्वहानि नहीं होती। पूर्ण विन्दु से पूर्ण नाद में जाने के लिये यह रेणुका धारा भी स्वत:पूर्णा है। हमारे जगत् की रेणु स्वल्प है, तुच्छ आभासिक है यह पूर्ण स्थिति रूप और पूर्ण धारारूप पर पड़ा आवरण है, भ्रान्तिपूर्ण दृष्टि। यह भ्रान्ति भी 'वे' ही हैं। फलत: एक udfounded Cosmic Event भी 'यहाँ' 'वहाँ' की घटना हो जाती है। जो Fact है वह हो जाता है Fact-section। इस प्रकार के section रूप में वह मृत, स्थाणु तथा भग्नांश रूप भासित होती है। स्थिति रूप में वह मृत, स्थाणु तथा भग्नांश रूप भासित होती है। स्थितिरूप में (इन ए स्टेटिक कानफिग्रेशन अथवा को एक्सिस्टेन्स) यह स्थाणु भी समग्र से विच्छिन्न प्रतीत होता है, परन्तु धारावाहिक रूप से समग्र के साथ ग्रथित, अन्वित तथा अंगीकृत है। इस दृष्टि से यह रेणु, यह शिशिर कण, यह अज्ञातनामा घास का फूल, सब कुछ इस विश्व के ऐक्यतान की एक-एक तान है।

इसीलिये यह कहता हूँ कि यद्यपि महामाया विश्व के प्रत्येक रेणु को धारा रूप से 'छवि' के समान 'आभासित' कराती हैं, तथापि उसे एक महासंगीत (कास्मिक हारमोनी) में एक रसनिविड़ तान के समान ग्रथित भी कर देती हैं। वे महासंगीत की बलि देकर, उसके टुकड़े करते हुये उसमें एक निज निविड़ अथच सर्व संवादिनी चमत्कारिता भी भर देती हैं। अत: वह पूर्ण हो जाता है। यदि ऐसा न होता, उस स्थिति में पूर्ण रूपा माँ को स्वयं पूर्ण रूप में देखने की आशा अपूर्ण ही रह जाती। भगवान तो नित्यपूर्ण हैं, किन्तु जीव के भक्त होने पर, उसकी भक्ति के कारण भगवान को "द्वितीय" होना पड़ता है। रसवस्तु की पूर्णता दो के सम्मिलन से होती है। उसमें नित्य नवायमानता का संचार होता है। इसी दो (युगल) के लिये जीव को 'अंश' 'कण' 'तटस्थ' होना पड़ता है। अन्यथा भगवान् भी पूर्ण हैं, भक्त भी पूर्ण है। भगवान को चुप होकर रहने दो। वे मधुर हैं, तब भी उनमें अशेष वैभव और अनन्त ऐश्वर्य है। उनके सामने हम 'इतने से' रेणु के भी रेणु हो गये हैं। अब मधुर को रस

की झरी होकर उस अझर को मधुर रस का झरण कराने दो। उसके हाथों में वेणु दो। अब वह मोहनिया किशोर नटवर हो गया। जो ऐश्वर्यावस्था में 'चुप' था वह 'इतना सा' हो गया। और यहाँ तो रेणु में वेणु बज उठा। क्या अब वह रेणु है? मोहन की वेणु की पुकार जितनी बढ़ती है, रेणु का आकर्षण उतना ही बढ़ता जाता है। इस बढ़ने की "बढ़ती" किधर होती है? इस अशेष के नव नव "निरालाकुंज" की ओर। जो रेणु अब तक अपने को ही नहीं समस्त विश्व ब्रज को वितत देखती थी, वह रेणु यदि पूर्ण नहीं होती, तब तुम्हारे इस विश्वमोहन की वेणु ही उनके हाथों में न होती। यह पूर्णता निबिड़, अशेष नवायमानता की पूर्णता है। इसीलिये अपनी रसलिप्सा की एक शून्य गगरी को नित्य भरने के लिये सुबह शाम कालिन्दी तट पर जाते हैं। भरी गगरी को खाली करके पुनः उसे भरने जाते हैं। दोनों एक दूसरे के सामने स्वरूप पूर्णता को आवरित करते हुये यह खेल खेलते हैं (दोनों= जीव+भगवान्)।

भक्त कहते हैं मैं तुम्हारा कण हूँ। भगवान कहते हैं इस कण के ही कारण मैं चिद्घन-निरंजन हूँ। जैसे रसाश्रित लीला में एक ओर पूर्ण ऐश्वर्य पर आवरण है। उसी प्रकार दूसरी ओर भक्त के रसास्वादनार्थ इस अशेष नवायमानता रूप पूर्णता पर भी आच्छादन है। महामाया अथवा भगवत्ता द्वारा अपनें पूर्णत्व का लीलायन इसी प्रकार से होता है। इससे भक्तिरसिक के मन में क्या आयेगा? विन्दु और सिन्धु कहते हो? किन्तु लाखों लाख युगपर्यन्त "हृदय" में अथवा नयनों में खोजने पर भी यह विन्दु एक बार भी नहीं बोला यही तो विचार करके देखता हूँ। जो भरपूर हो गया, तृप्त हो गया, उस विन्दु को कैसे विन्दु कहूँगा? सिन्धु को अपने हृदय में खींचने पर वह कहता है "मैं शून्य हूँ मेरे नाथ! 'माह भादर घोर बादर, शून्य मंदिर मोर"। विन्दुरूपिणी महामाया एक साथ ही शून्या तथा पूर्णा हैं। यह अघटन घटित होते भी देखता हूँ। यह पहले भी कहा जा चुका है कि महामाया केवल माया ही नही है। जो श्रीभगवान् "योगमाया मुपाश्रितः" हैं उनका परमोत्कर्ष है रास। उसी के विस्तार के लिये जो "रन्तुं मनश्चक्रे" है, वह है योगमाया, महामाया अथवा भगवत्ता का एक विशेष प्रकाश।

प्रपंचोपशम पक्ष वाले "माया" के कारण और 'तत्त्वातत्त्वाभ्यामनिर्वचनीया' मिथ्यात्व के कारण कुछ विव्रत होते हैं, किन्तु महामाया के सम्बन्ध में उतना विव्रत होना उचित नही है। यह विचार इस समय नहीं किया जायेगा। रेणु का प्रसंग उठा था जीव तथा जगत के साथ महामाया के अभेदत्व प्रदर्शनार्थ। वह रेणु ही हमें "कानू का गीत" सुना गई। इस समय वेदान्त की महाभेरी का तूर्यनाद सुनने से कर्ण बधिर हो सकते हैं, तब और कुछ भी सुनना संभव नहीं हो सकेगा! यह रेणु कारिका के अन्त में है "हेतोर्वा हेतुकादपि!' महामाया हेतु से भिन्ना नहीं

हैं। हेतु-हैतुक को परस्परत: कार्य-कारण भाव से देखो। विचार में सत्कार्यवाद-असत्कार्यवाद प्रभृति है। यहाँ सभी वादों को छोड़कर भी जिसे छोड़ा नहीं जा सकता, वह क्या है? वह है समग्र-अखण्ड पूर्ण भान (Absolute fact)। इसमें हमारा तुम्हारा 'कारोबार' चलाने के लिये हेतु रूपी खण्ड हैतुक खण्ड से भले ही अलग हो, इसमें आपत्ति नहीं है। किन्तु वस्तुत: ? यह समग्र अखण्ड भान एक प्रकार (Sense) से देखने पर हेतु है, अन्य प्रकार से यही हैतुक है! उक्त भाव (Sense) ही 'कारबारी' है। कारबरी = प्रैगमेटिक, कनवेन्शनल।

जिस प्रकार यह रेणुरटन (Existence as Particle or point) महामाया को विन्दुरूपा विन्दुवासिनी रूप से प्रदर्शित करता है, उसी प्रकार रेणुरणन (अणुस्पन्द = action as Point Event) ने हमारे समक्ष महामाया का स्वरूप अखण्ड समग्र धारारूप (as complete cosmic Event) में प्रकट किया है। तुम "रटन तथा रमण" दोनों को ही सीमाबद्ध करके (लिमिटेशन आफ डेट) उनका टुकड़ा-टुकड़ा करके (क्रास सेक्शन साइड सेक्शन रूप से) अपने संसार तथा भाव (Theory का) का 'कारोबार' स्वच्छन्द रूप से चलाओ। किन्तु वह सम्यक् रूप से 'स्व' छन्द में नहीं चलता। देखता हूं 'डाईनेमिक्स आफ पार्टिकल' 'वेव मैकेनिज्म' में डुबकी मारकर गोता खा रहा है! यह 'सीलमोहर लगा' विश्व कार्यकारणवाद की संभावनाओं के सिद्धान्त में गलता जा रहा है! फलत: हेतु-हैतुक को लेकर अन्ध गुलामी अचल है। 'रेणुरटन' (पाइन्ट एक्जिस्टेन्स एण्ड पाईन्ट ईवेन्ट) में महामाया निगूढ़रूप से छिपी रहती है। मानो रेणुरमण रेणु विन्दु में रहते हुये कहते हैं "तुम प्राण हो, तुम रस हो, तुम आनन्द और लीला हो।" अत: चाहे कितने बड़े इक्वेशन की गांठ क्यों न बंधी हो, सबका फन्दा निमेषमात्र में टूट जाता है! किस Lagrange (वैज्ञानिक का नाम) का एनेलेटिकल मेकैनिक्स एक रेणु के अटन-रटन के हेतु-हैतुक का पूरा अथवा असली हिसाब 'दाखिल' कर सका है? किस लाप्लेस (वैज्ञानिक का नाम) का सेलेस्टियल मेकैनिक्स यह स्पर्द्धा करेगा कि हमारा यही संख्या-संख्यान ही ब्रह्माण्डावबोधक है, अत: जब एकेश्वर जादूगर है, तब भगवान् नामक अन्य अज्ञातकुलशील जादूगर की क्या आवश्यकता! साविकी (unconditional Invariable antecedent 'अन्यथासिद्धिशून्यस्य नियता पूर्ववर्त्तिता, इत्यादि) अथवा हालि, बर्ट्रेडरसेल, ह्वाईटहेड इत्यादि का मत अथवा नव्य न्याय वेदान्तादि का मत) प्रभृति किसी के भी फारमूला द्वारा परिक्षण क्यों न किया जाये, काफी 'खींचतान' से भी किनारा नहीं दिखलाई पड़ता।

जिसे हेतु कहते हैं, वह इस समग्र अखण्ड ब्रह्म कृपा का ही एक 'स्व' कटाक्ष है। हैतुक है एक 'कृ' कटाक्षा। स्व कहता है कर अथवा करना। कृ कहता है देखो करता चल रहा हूं। स्वयं हेतु हो, अत: शक्ति पिण्ड को समर्थ करो। यह है स्व।

जैसे मेघ। हैतुक—उसे छोड़ दो, विकीर्ण यही है क्र। जैसे वर्षण (बरसात)। यही है, अर्थात् क्व-क्र है विन्दुरूपा महामाया की संकुचात् प्रसरत आकृति। यही मौलि में नादविन्दु को स्पष्टत: धारण करके है क्रीं रूपी महाबीज (कालिकाबीज)। यहां दीर्घ ऋकार है दीर्घ ईकार।

एक में (संकुचत्) में (क्व में) निखिल का लय हो गया। दूसरे (प्रसरत् में क्र में) में निखिल की सृष्टि हो गई ! जो परम चिदानन्दरूपा है, वे अपने आधार में देश-काल-निमित्त की मिलित त्रिपुटी का विस्तार कर रही हैं। इस पटभूमि में एक विन्दु शिशिर पड़ता हैं, एक फूल खिलता है, एक Island universe लुप्त हो जाता है, अलग-अलग होता है। दूसरे की 'परवाह' किये बिना, कुछ भी नहीं हो रहा है। एक फूल खिला उसने समस्त सृष्टि को नूतन किया। एक बुलबुला फूटा, समग्र सृष्टि ही मग्न हो गई और उत्तर सृष्टि की भूमिका का जन्म हुआ। अत: किसके बल पर इस फूल खिलने को और बुदबुद फूटने को अखण्ड पूर्ण से खारिज करते हो ? पूर्ण की यह पटभूमिका सब कुछ के रटन, रणन अथवा अटन के पीछे रहती है, तभी दीक्षा-जप-पुरश्चरणादि में राशिचक्र आदि, तिथिनक्षत्र आदि का विचार किया जाता है। जिस समग्र-अखण्ड-पूर्ण शक्ति अथवा इच्छा के आधार पर सागर के वक्ष स्थल पर ज्वार-भाटा का उदय होता है, रवि-तारा-नीहारिका आदि का विजय-विप्लव घटित होता है, उस एक अखण्ड समग्र तथा पूर्ण आधार पर ही तुम-हम प्रभृति फेन-बुदबुद के समान उदित होते हैं, स्थिति प्राप्त करने के पश्चात् विलीन हो जाते हैं। इसमें कहीं भी व्यतिक्रम नहीं होता। व्यतिक्रम करने का अवसर ही नहीं रहता।

ब्रह्म-जीव तथा जगत् के द्वारा महामाया का अभेद प्रदर्शन वाली करने वाली कतिपय कारिकाओं के पश्चात् यह कहा जा रहा हैं कि अभेद कैसा है ? घट कभी भी पट नहीं है, पट भी घट नहीं है। यदि इस प्रकार के पारस्परिक अभाव को भेद कहा जाये तब यह भेद कहाँ रहता है ? (अन्योन्याभावमात्रस्याभावस्य)। यह दो स्थलों में नहीं रहता जैसे ऐकान्तिक शून्य में तथा ऐकान्तिक निर्विशेष में। किन्तु 'नास्ति-अस्ति' इन दोनों में अन्वित जो शुद्ध अस्तिता है, उसे किसी प्रकार से भी अलग नहीं किया जा सकता। घट तथा पट को लेकर 'नेति' करण (इलिमिनेशन आफ डिटरमिनेन्टस्) करके देखो ! घट-पट के विशेष-विशेष धर्मो को छोड़ दिया परन्तु कतिपय धर्म ऐसे भी हैं, जिनमें घट तथा पट दोनों है। इस प्रकार क्रमश: जाते-जाते द्रव्य पर्यन्त जाओ (द्रव्य = Thing की कैटेगरी)। और भी चलो-द्रव्य-गुण-कर्म-सम्बन्ध, यह सब तो है। अभाव भी तो 'नहीं है' इस पर्याय रूप से स्थित रहता है। (अर्थात् किसी वस्तु के न होने को अभाव कहते हैं अत: अभाव भी 'नहीं है' के रूप में व्यक्त एवं स्थित है)। शेष सब है 'सत्ता' अथवा 'स्थिति'।

यहाँ सत्ता तथा स्थिति यदि पूर्णतः निर्विशेष है, तब यहां स्वगतादि कोई भी भेद नहीं हैं। एकान्तिक शून्यता कल्पना आदि के योग्य नहीं है, उसके सम्बन्ध में (परिहारार्थ) कारिका में कहा गया है 'भावरूपता'। फलतः महामाया अपने शुद्ध निर्विशेष निरंजन सद्रूप में, चिद्रूपा, आनन्दरूपा सर्वभेदातीतरूपा और भेद-भावाभावरूपा स्थिति में रहती है। घटपटादि कोई भी यह नहीं कह सकता कि 'मैं तुमसे अतिरिक्त हूं'।

किन्तु क्या यही है? महामाया प्रत्येक व्यष्टि, समष्टि, अणु महान् पदार्थ में अनुप्रविष्ट सी रहती हैं। वे रहती हैं कला-विन्दु-नाद की त्रयीरूप में, अथवा महाकाली-महेश्वरी-महालक्ष्मी तथा महासरस्वती रूपी चतुर्व्यूह के भगवत्तारूप में! इसका फल क्या होता है? प्रत्येक का वैशिष्ठ्य (इन्डिविजुयैलिटी, (Differentium) पारस्परिक बोध अथवा व्यवहार में, किंवा दोनों में अभिव्यक्त (रीयैक्टिव मैनिफीस्टेशन) होने के कारण प्रत्येक (जैसे यह रेणु!) वस्तु समूह वस्तु-शक्ति-छन्द-आकृति निरूपक पूर्णभान (In perfect experience or supreme synthesis) में पूर्ण हो जाते हैं। अतः पूर्णरूपा सृष्टि के अशेष-विशेष में कहीं भी अपना शुद्धत्व-पूर्णत्व तथा समग्रत्व नहीं खोते! उक्त विन्दु प्रभृति-महाकाली प्रभृति, प्रणवादि बीजशक्ति, मीन कूर्म आदि क्रम, क्रान्ति-शक्ति आदि और अखण्ड समग्र पूर्णत्वरूप ब्रह्मत्व के निखिल परिच्छेद और विशेष का उद्भव भी नियत विद्यमान रहता है। इनका कहीं भी Negation (नकारात्मिकता) नहीं होता। अतः अभेद की दूसरी व्यञ्जना है अविनाभाव। जैसे समस्त भेद उनमें अस्तमित हैं, उसी प्रकार अभेदरुपा मां की उनके 'प्रभवः प्रलयः स्थान' रूप से उपलब्धि किये बिना, किसी भी भेद की (जैसे यह-वह-उसका) वर्त्तना नहीं हो सकती। इस प्रकार की भेदवर्त्तना भी उस मूल एवं तत्वतः अभेद को विताड़ित नहीं कर सकती। अभेद ही संगृहीत और संरक्षित रहता है। इसी कारण कारिका में कहा गया है कि भेदमात्र के अभाव की जो भावरुपता (As fundamental Affirmation) है, वह अविनाभाव रूप (As negation of Fundamental Negation) महामाया में ही परिनिष्ठिता है।

अतएव अभेद की इस पंच रूप से भावना करते हुये महामाया तत्व का ध्यान करो।

(१) शुद्ध निर्विशेष निरंजन में सर्वभेदों का अभाव।

(२) परम तथा महान् समन्वय रूप से (साइन्थिसिस एण्ड हारमोनी रूप से, परमसुषमता रूप सर्वभेदों का अभाव।

(३) समष्टि व्यष्टि प्रत्येक की नाभि में बिन्दु ब्रह्मरूप अधिष्ठान में अभेद।

(४) केवल प्रत्येक के स्वभाव संस्था में बीजरूपेण ही नहीं प्रत्युत् प्रत्येक (समष्टि-व्यष्टि) की परिणति में जो धारारूप (इवाल्यूशनरी प्रोसेस) है, उसमें भी शक्तिसम्भाव्य परिपूर्णता रूप से भी अभेद है। अर्थात् प्रत्येक में वस्तु-शक्ति-छन्द आकृतिगत् और पाद-मात्रा-कला-काष्ठागत निर्व्यूंढ़ निषेध (Thus far and no farther) नहीं है। यह अभेद प्रत्येक में स्वभाव तथा सम्भाव्यपूर्ण है।

(५) वस्तु, आकृति-प्रकृति और पादमात्रा में जो अपनी विशेषता अथवा भेद (अभ्यासिक भेद) है, वह पूर्णप्रज्ञा में नही है। वह अपूर्ण बोध में ही भाषित होता है। अपूर्णबोध = इनकम्पलीट, पार्शियल एप्रिसियेशन। यह इसलिए है क्योंकि यह महामाया के नवधा भ्रान्तिरूप का ही एक रूप है।

इस आभास और भ्रान्ति से पुनः पूर्णता में लौटाने वाली अधिरोहिणी गति भी वे ही हैं। वे दशविद्यारूपा हैं, यथा भ्रान्ति-छाया-शक्ति-जाति-लज्जा-श्रद्धा-बुद्धि विष्णुमाया एवं चिति। इनमें से प्रथम विद्या भ्रान्ति ही वास्तविक 'भान्ति व्याप्ति' है। यही इसकी विद्यारूपता है। शेष अन्य भी इसी प्रकार दश विद्यारूपा महामाया है।

इसके पश्चात् कारिकाओं को संक्षेप से कहने से भी तात्पर्य हल होगा—

अमात्रमानमेयत्वे ब्रह्मणों भूममानता।
अणीयस्त्वं महीयस्त्वं गूढ़त्वं दहरता यथा॥
निदिध्यास्यादिदृश्यत्वं वाच्यत्वं प्रणवाक्षरैः।
अमेयापि ह्यमेयस्य ब्रह्मणो मानदा यतः॥
अयोनिर्या महद्ब्रह्मालिङ्गा बीजप्रदः पिता।
भेदाक्लृप्ता महामाया माया या भेदकल्पना॥ ५-७॥

जो अमात्र अथवा मात्रारहित परम मान है, उस परममान में अभेद ब्रह्म के सम्बन्ध में श्रुति तथा अनुभव कहते हैं "तुम परममान भूममान, भूमा हो।" और इसी प्रकार से "अणोरणीयान् महतो महीयान्" मान भी माया ही देती है! ब्रह्मरूपा स्वयं ही स्वयं इस प्रकार का मान देती हैं। 'गूढ़ सर्वेषु भूतेषु' रूपी गूढ़ तथा गह्वरेष्ठ मान भी वे ही हैं। दहराकाशरूपी दहरमान भी महामाया ही है। यहाँ पर गूढ़ तथा दहर का स्वरूप सम्यक् रूप से हृदयंगम करो। प्रथम हैं संवृत मान (enfolded) द्वितीय है विवृतमान (unfolded)। अर्थात् गूढ़ = संवृत् मान। दहर = विवृतमान। यह सूक्ष्ममान है। (In the sense of the infinitesimal)। 'आत्मा अरे द्रष्टव्य' साक्षात् या श्रवण अथवा श्रवण के अनन्तर यथायोग्य मनन-निदिध्यासन द्वारा आत्मा अथवा ब्रह्म द्रष्टव्य या दर्शनयोग्य मान प्राप्त करता है। यह

द्रष्टव्यमान भी महामाया है। "ॐ मेकाक्षरं ब्रह्म' रूप से ओंकाराक्षर द्वारा अवांग-मनस गोचर रूपी वाच्यमान भी वे ही हैं। इस प्रकार से वे एकान्त अमेय (ह्यमेयस्य) ब्रह्म को मान देने वाली हैं। वे स्वयं पूर्वोक्त भूयमान, अणिष्ठमान, महिष्ठमान निगूढ़तममान, दहरमान, द्रष्टव्यमान तथा वाक्यमान को मान देने वाली ब्रह्मरूपिणी हैं। वे स्वयं अयोनि हैं, तथापि 'मम योनिर्महद्ब्रह्म,' रूप से वे ही योनिरूपा भी हैं। स्वयं अलिङ्गित होकर भी अपनी योनि में बीजप्रदरूप 'पिता' भी वे ही हैं। इस योनि लिंग तत्व को कियद् परिमाण में द्वितीय खण्ड मे में कहा भी गया है। प्रसंगतः 'मम योनिरपस्वन्तः समुद्रे' का स्मरण करो। 'समुद्र' 'अम्भः' तथा 'अप्सु' की व्यञ्जना कलाशक्ति, विन्दु तथा नादरूप से भी अवश्य है। अतः विन्दुशक्ति = योनि। कोई भेदकल्पना न रहने पर (भवाक्लृप्ता) वे हैं महामाया। वे ही भेद-कल्पना रूप से माया हैं।

'ब्रह्मैवेति महामाया न माया महती मृषा' ये महामाया ब्रह्मैव हैं, ब्रह्मरूपा और ब्रह्म से अभिन्न भी हैं। 'महतीमाया कहना उचित नहीं है, क्योंकि माया = अभेद में भेदकल्पना अर्थात् मिथ्या (मृषा) यह माया का तात्पर्यार्थ समझा जाता है। इस समीकरण के अनुसार महामाया = महामिथ्या, महामृषा हो जायेगा। ब्रह्मैवेति = ब्रह्म + एव + इति। इन तीनों द्वारा भूमत्व, पूर्णत्व तथा शुभत्व सूचित होता है। अर्थात् परब्रह्म की भगवत्ता में इन तीनों का संकोच-परिच्छेद घटित नहीं होता। 'मायोपहित ब्रह्म' तथा ब्रह्मरूपा महामाया एक पर्याय नहीं हैं। यह स्मरण रखना होगा !

यहाँ कतिपय श्रुतियों तथा अनुभवों का विशेष उल्लेख किया जाता है—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन।
एकमेवाद्वितीयञ्च बहुधैकञ्च वेद सत् ॥
अन्तर्यामी पुमानेष साक्षी चेतापि निर्गुणः।
ईशानो भूतभव्यानां ज्ञानादि शक्तिरूपकः ॥
भूमैकरसश्चात्मा प्रियः पुत्रात् प्रियोऽखिलात्।
संगच्छेरन् हि वाक्यानि पूर्णमद इति श्रुतौ ॥ ८-१० ॥

कतिपय प्रसिद्ध (आपात विरुद्ध) श्रुति तथा अनुभव के 'पूर्णमदः' मन्त्र में महामाया के स्वरूप विरोध का परिहार कैसे होता है और वह कैसे सुसंगत (संगच्छेरन्) होता है, यह इन कारिकाओं में वर्णित है। यह सब (इदं सर्वं) अवश्य ही ब्रह्म है। ब्रह्म में (इह) नानात्व अथवा बहुत्व, विशेषत्व प्रभृति कुछ भी (किंचन) नहीं है। वह द्वितीयरहित एक ही है। उसमें द्वैतलेश भी नहीं है। एक ही सद्वस्तु को विप्रगण 'बहुधा' कहते हैं (यहाँ द्वैत अथवा बहुरूपी कोई न कोई भाव आ

जाता है)। यह 'पुरुष' समस्त का, निखिल का अन्तर्यामी है। वह साक्षी, चेता और निर्गुण है (अतः उसमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं हैं)। यह भूत तथा भव्य का ईशान (प्रभु शक्तिमान ईश्वर) है। वह ज्ञानक्रिया प्रभृति समस्त शक्ति भी है) वह अखण्ड, एकरस भूमा भी है, और वह 'प्रियं पुत्रात् प्रियो विद्यात् प्रियोऽन्यस्मात् सर्वस्मात्' भी है।

प्रथम में तारतम्यता; अपूर्यमानता नहीं है। वहाँ परम पर्याप्ति है। द्वितीय में प्रिय, प्रेयान्, प्रेष्ट है। यहाँ एक ऐसी आपूर्यमानता है, जिसकी कोई पर्याप्ति ही नहीं है। अतएव भक्तरसिक अपने प्रियतम की प्रियता, मधुमत्ता की शेष पर्याप्ति कभी भी नहीं पाते। तभी उनका प्रियतम 'नवलकिशोर' है।

यहाँ उदाहरणस्वरूप कतिपय श्रुति तथा अनुभव का वर्णन किया गया। वेद तन्त्र पुराण में इस प्रकार का आपात द्वन्द्व कहीं स्पष्टरूप से; कहीं आस-पास, कहीं पर आभास अथवा इंगित रूप में किंवा विक्षिप्त रूप में अजस्त्र स्पन्दित होता रहता है। इस सबकी संगति अथवा समन्वय के लिये विभिन्न मतवाद और सम्प्रदाय प्रवृत्त होते रहते हैं। जैसे अद्वैत वेदान्त का विवर्त्तवाद और उसके अंगीभूत आभासवाद आदि। कहीं पर अचिन्त्यशक्तिवाद तथा अचिन्त्य परिणामवाद परिलक्षित होता है। इन सबको पढ़ना—समझना यहाँ अप्रासंगिक सा है। आंग्लभाषागत 'Mahamaya; ग्रंथ में भी यह चेष्टा की गई है। यहाँ इतना ही कहना है कि वर्त्तमान सूत्र तथा कारिका में महामाया जिस भाव से भावित हुई हैं, उनमें ही ('ॐ पूर्णमदः' मन्त्र की साक्षात् स्वरूपा जो हैं) समस्त द्वन्द्व का सम्मिलन तथा सुसंगति हो जाती है। इसी कारण महामाया तत्वतः अयोनि एवं अलिंग है, अतः महामाया परब्रह्मरूपा भगवती और परब्रह्मरूप भगवान् हैं।

इस परब्रह्मरूप भगवत्ता को शुद्धमाधुर्य, ऐश्वर्य और ऐश्वर्य ◆ माधुर्य के मिलित रूप में पूर्णतः प्रस्फुटित होने दो। हे महामाया ! यह सब तुम होने दो ! जिससे तुम्हारी माया के परिमाप से तुम्हारी अपरिमेय परमपूर्णता का अपलाप न हो सके !"

विहाय मा तु मा मासीः सङ्कुच्छथा मदन्वितम् ।
मायेति वाप्यमायेति महापूर्वं द्विधान्वयम् ॥
तन्मायोपहितं ब्रह्म स्वतः शुद्धं निरञ्जनम् ।
नोपाधेया महामाया स्वकालाव्यासम्भवात् ॥
स्पर्शानां स्पृशमन्त्याञ्च प्राणानां शेषशक्यताम् ।
स्वराणां यान्तिमव्याप्तिं माति काष्ठाकलादिभिः ॥ ११-१३ ॥

उक्त श्रुति तथा अनुभव, प्रत्येक मे महामाया पुकार-पुकार कर कह रही है "मुझे छोड़ कर कोई भी परिमाप प्रभृति मत करना (मां मासीः), मै ही समस्त

वाक्य, अर्थ तथा प्रत्यय हूँ। इस निश्चय के साथ बोध में संगति प्राप्त करो। यह जान लो कि मेरा यह महामाया नाम महा के साथ 'माया इति', और 'अ-माया इति' इस दो प्रकार से अन्वित हुआ है। यदि जो अमेय है उसे 'मान' देने वाली को 'माया' कहते, उस स्थिति में मेरे परब्रह्मभाव का भूमादिमान मै ही होती। भगवत्तारूपा परममान भी मैं ही होती। किन्तु निखिल मानदा रूप मुझे कौन मान देगा?" तभी यह कहा गया है कि स्वतः-शुद्ध—निरंजन ब्रह्म भी मायोपहित हो जाते हैं, किन्तु महामाया कदापि उपहिता अथवा उपाधियोग्या नहीं होती। (नोपाधेया)। क्यों? उन्हीं की कला है उपाधिरूपा माया, उनकी अपनी हीं कला है। जो पूर्ण तथा सर्व है, वह किस प्रकार अपनी कला द्वारा व्याप्त होता है? (स्वकला व्याप्तासम्भवात्)।

'महामाया' नाम के अक्षर समूह का इस प्रकार से विश्लेषण द्वारा प्रणिधान करो। जो स्पर्शवर्ण समूह का अन्तिम अथवा शेष स्पर्श है (स्पृशं अन्त्यां), उसे (मकार को) वे मान देने वाली हैं (या माति)। वे प्राणिसमूह की शेष शक्यता अर्थात् महाप्राणवर 'ह' को भी मान देने वाली हैं। स्वर वर्ण समूह में जो व्याप्ति की अन्तिम सीमा (परिसीमा) है, उस 'आ' स्वर को भी वे ही मान युक्त करती हैं, अतः इस प्रकार से म + ह + आ + मा + या = महामाया! केवल वर्ण के दृष्टिकोण से ही नहीं, प्रत्युत् स्पर्श, स्पृक्, प्राण, स्वर के और भी सूक्ष्म भाव पर ध्यान दो। जैसे जो यत्किंचित मात्रा बहिःकरण एवं अन्तःकरण का स्पर्श करने में सहायता करती है, उसकी सीमा कहाँ तक है, अस्पर्श तथा स्पर्शातीत क्या है और कहाँ है? यह है सूक्ष्म स्पर्शमानता। तुरीय में कोई भी स्पर्श नहीं है। किन्तु सुषुप्ति में? शुद्ध निरंजन में स्पर्श नहीं हैं, किन्तु भगवत्ता में? इन सबकी निरूपिका नियामिका है महामाया!

> माति या च मिमिते च मायते वाप्यमानगा।
> परस्मै चात्मने वाप्यभ्यासेन सकृत् स्वयम्॥
> अस्पृग्व्याप्तिञ्च मर्यादां स्पृशां च स्वे महिम्नि या।
> विनाऽविनेति भावौ च समापयति सर्वथा।
> मेत्थमेति च पूर्णे का नेतिता वाप्यनेतिता॥
> यतसाम्नां शान्तिपाठेऽस्ति 'मा मा ब्रह्म निराकरोत्'।
> 'मा मा ब्रह्मेति' तत्रैव महामायेति मन्त्रितम्॥
> मायाभिर्मा तु मा मासीर्मातु मातुर्महादया।
> 'मा मा' इति महामाया मामयते मनुस्वरात्॥ १४-१७॥

'मा' धातु के त्रिविध रूप में भी महामाया है। प्रथम अदादि परस्मैपद में आति। इससे क्या सूचित होता हैं? यद्यपि महामाया स्वयं अमानगा (मानगम्या

नहीं हैं) हैं, तथापि वे अन्य किसी के निमित्त से (जैसे जीवादि सृष्ट पदार्थ) व्यावहारिक मान देती हैं (परंमै माति) । हवादि आत्मनेपद में 'मिमीते' । यहाँ विधि के अनुसार धातु का अभ्यास किया जा रहा है । इससे क्या विदित होता है ? महामाया स्वयं अमानगा हैं, तथापि वे स्वयं को भी विविध मान देती हैं । वे मान को भी मान (जैसे पालयिता विष्णु, उनकी शक्ति वैष्णवी, उनका अस्त्र शंख, चक्र, गदा, शार्ङ्ग इत्यादि) देती हैं (अभ्यासाद्) । अन्त में दिवादि आत्मेन पद में 'मायते' । इससे प्रकट होता है कि विश्व व्यवहार का मान बहुधा 'अभ्यस्त' होने पर भी एक मौलिक मान (यह उनका एक कटाक्ष है) निखिल मान वितान में चल रहा है । जैसे ओम अथवा मा । यद्यपि इसमें समस्त समर्थमान है, तथापि साधन भजनार्थ ओम-ओम किंवा मां मां मां, के रूप में आवृत्ति की जाती है, अभ्यास किया जाता है । मां धातु के इस रूपत्रय में समग्र मामतत्व (प्रिंसपल आफ मेजर एण्ड डिफिनीशन) का रूप उपलब्ध हो जाता है । अतः मान-मेय-माता को मिलाने से यह एक है 'मा' ।

अच्छा ! अब 'मा मा' इस अभ्यास के रूप की भावना करो । 'म' स्पर्शवर्ण वर्ग का अंतिम वर्ण है । इसके द्वारा मात्रा स्पर्श आदि समस्त स्पर्श के शेष का उद्देश्य प्राप्त होता है (जैसे प्रणव में अ उ म) । उद्देश्य अवश्य प्राप्त होता है, किन्तु यह कहाँ तक शेष है, यह शेष क्या है ? यह खोज तो बाकी रह जाती है ! तभी अर्ध-मात्रा "आ" उद्बुद्ध होकर 'म' को अपनी मर्यादा देती हैं, नाद-विन्दु कला का विस्तार करती हैं । 'आ' स्वर 'म' के साथ युक्त होकर मर्यादा दान करता है । किंतु जब तक समस्त स्पर्श के पार-जो अस्पृक् (अम) है, उसकी सर्वतोव्याप्ति (Total Immanence and absolute Transcendence) इन दोनों से नहीं मिलती तबतक निरतिशय पर्याप्ति नहीं होती ! इसी कारण 'आ' स्वर में आने पर यह परमा व्याप्ति हो जाती है । अब मन्त्र का रूप यह है माऽमा ! अतः प्रणव के सप्तपाद भी महामाया के मा अथवा माऽमा; इस परमरहस्यमय नाम में मिलित हो जाते हैं । म को इस प्रकार की व्याप्ति को मान में दान करते हुये महामाया 'स्वे महिम्नि' में विराजिता रहती हैं । इस-महिम्नि' से 'महा' का दोहन करो । मध्य में प्राप्त किया स्वयं 'मा' । अन्त में 'या' । जो है अर्थात् जो हैं । मा + या = जो मा हैं ।

यदि कहें कि यदि मा निषेधात्मक अव्यय है, तब ? उससे क्या हानि है ? वैसा होने पर म = निषेध, नेति । अमा = अनिषेध, अनेति । एक है विनाभाव, द्वितीय हैं अविनाभाव । इन दोनों को महामाया ने अपनी परम पूर्णता में सर्वथा समाप्त कर दिया है । (समापयति सर्वथा) । मानों निषेध और निदेश (निगेशन एण्ड एफरमेशन) अपनी परमपूर्णता में कहते है "यह हमारा 'शेष' है, हमारी सीमा, चरमता तथा परमता है ।" जैसे प्रपंचोपशम रूप तुरीय में जाते ही समस्त प्रपंच यह कहने

लगते हैं 'नहीं, कभी नहीं !' यह है नेतिधारा अथवा क्रम की चरम स्थिति। अब मानों प्रपंचोपशम तुरीय भी कहता है "समस्त बहिःप्रज्ञा प्रभृति प्रपंच मैं ही हूँ। मेरी अधिष्ठान भूत स्थिति के अभाव में तुम में से किसी की भी स्थिति नहीं रह सकती। (यहाँ तक कि आकाश कुसुम आदि की भी कल्पना नहीं हो सकती !) यह अविनाभाव की भी चूड़ान्त अवस्था है। अतः यहाँ पर निषेध तथा पूर्ण निदेश एकत्र हैं। शिवशक्ति, रामकृष्ण रूपी नित्ययुगल को अपना कर सत्ता, प्रकाश तथा रस रूप से निषेध— निदेश की व्याप्ति एवं समाप्ति की भावना करो।

यहां अन्य प्रसंगों का उल्लेख नही करना है, मात्र जप के ही प्रसंग एवं दृष्टान्त का वर्णन किया जा रहा है। वैखरी जप नादविन्दु में लीन हो जाने पर ही नेति है। वैखरी जप के सम्बन्ध में भी यही परिलक्षत होता है तथा क्वचित्-किंचित अनुभूत भी होता है कि नाद 'अस्ति' है। (विन्दु की सूक्ष्मता में सहसा अवगाहन नहीं हो सकता)। नाद ज्योति में लीन हो जाता है, ज्योति लीन होती है रस की सरणि में। रस की लीनता 'युगल' में होती है (जैसे राधाकृष्ण सीताराम, शिवशक्ति युगल)। तत्पश्चात् अव्यक्ता द्वैतलीन और परमलीन अवस्था भी है। इन सभी क्रमिक भूमियों में नेति और अनेति (निगेशन और एसर्शन) की अन्योन्यता (म्युचुअल इम्प्लिकेशन) तथा आपूर्यमानता (इनक्रीसिंग फुलफिलमेन्ट) का सन्धान करो। इन दोनों की परस्परापेक्षा जिस प्रकार से कार्यरत हैं, उससे पुनः यह प्रतीत होता है कि ये दोनों (नेति-अनेति) स्वयं को शुद्ध करते-करते अन्ततः एक पूर्ण निरपेक्ष (एब्सोल्यूट) में जाकर समाप्त हो जाते हैं। इसीलिये कारिका में कहा गया है "मेत्यमेति (मा + इति + अमा + इति) च पूर्णैका नेतिता वात्यनेतिता"। इस जप के दृष्टान्त का विस्तार यहां नहीं किया जा रहा है।

यदि कहो कि एक 'मा' निषेधात्मक अव्यय है, और दूसरा 'अस्मद्' शब्द की द्वितीया के एकवचन का पद है, उस स्थिति में सामवेदीय शान्तिपाठ की भावना करो। 'ॐ आप्यायन्तु' इत्यादि। इसमें है 'माहं ब्रह्म निराकुर्याम मा मा ब्रह्म निराकरोत्'। इस मंत्र में दो बार मा मा द्वारा "मा मा ब्रह्म' व्याहृत हुआ है। यह है महामाया का मान्त्रवर्णिक रूप—'तत्रैव महामयेति मन्वितम्'। यह मा मा महाबीजद्वय बहुधा भावित होता है। यदि कहो कि एक 'ना' का और दूसरा 'मेरा' का वाचक है, तब इस प्रकार से भावना करो—तुम्हारी अशेष कुहक कुशलिनी माया द्वारा (मायाभिः) हमें वृथा मान मत दो (मा तु मा मासीः)। तुम्हारी जो परमाश्चर्य दया (महादया शब्द से 'महा' एवं 'या' का आहरण करो) है, उसके द्वारा हमें मातृमान प्रदान करो (मातृ यातु महादया)। मातृमान मिलने पर जो अघटन घटित होगा, वह यह है कि इसी 'मा मा' रूपी महामन्त्र की पुकार से (मनुस्वरात्) महामाया हममें आयेगीं (मामयते)। गीतोक्त 'मामेव ये

प्रपद्यन्ते' की भावना करो। कठश्रुति के 'यमेवैषवृणुते' इत्यादि। 'हममें आयेगी' का तात्पर्य? 'सर्वं ब्रह्मौपनिषदम्' 'सभी उपनिषद् ब्रह्म की अनुभूति का दान करके! सभी मा हैं, सभी वे हैं, इस परम उपलब्धि को प्राप्त करने के दो मार्ग का सन्धान उनसे प्राप्त होता है, वह है ज्योति और रस। अन्त में दोनों मिलकर एक! परम सरणि में शरणागत का जो मान है, वह है मातृमान। इस मातृमान की प्राप्ति होते ही यातुधान (राक्षस) पलायित हो जाते हैं। अब प्रणव में 'मा' रूपी महामंन्त्र, महामनु का उद्धार करो :—

प्रणवस्याक्षरे आद्ये मकारं विशत: परम्।
नादविन्दुकलाव्याप्ति र्मा इति चकलातिगम्॥
तारबीजस्य बीजत्वमेकाक्षरं महामनुम्।
सतारं केवलं चापि 'अ उ म' पूर्वकं श्रयात्॥
हेति सेति विशेदाद्यं मायेति परमं विशेत्।
न जहाति मामायाति तच्च तत् परमे स्थितम्।
एकं द्वे त्रीणि वा मेति संख्यायोगवियोगदम्॥ १८-२०॥

प्रणव के 'अ उ म' में प्रथम दो अक्षरों के पश्चात् म-कार है। प्रथम दो अक्षर म कार में ही प्रवेश कर रहे हैं (इसे व्याहरण द्वारा देखो) प्रायश: यह व्याहरण 'म' में ही शेष हो जाता है, किन्तु तब अर्धमात्रा प्रसन्ना होकर क्या करेंगी? वे इस 'म' का विस्तार नाद-विन्दु-कला में करती हैं। उस विस्तार की सीमा (मर्यादा) कहां तक है? आकलातिग—कालातीत अवधि पर्यन्त यह विस्तार तथा परिसीमा संभावित होती है 'म' में 'आ' स्वरयुक्त होने पर! अर्थात् 'मा'। अत: 'मा' नाम में प्रणव के समपाद सम्पुटित रहते हैं। सभक्ति व्याहरण से ध्यान रस में तथा भावलोक में उसे प्रस्फुटित होने दो।

जिसमें तार बीज का बीजत्व निहित है, उस एकाक्षर महामंत्र को तार के साथ (अर्थात् ॐ मा) अथवा केवल (मां) अथवा अ ऊ ओ मा का आदि मे आश्रय लो अर्थात् अ-मा, उमा एवं ओमा तीन नाम मिले। प्रणव की अहवेला अथवा त्याग द्वारा यह एकाक्षरी बीज विहित नहीं रह जाता। वाग्दोह रूपी प्रणव है, उसका पुनश्च दोहन होता है इस एकाक्षरी में। अत: प्रणव जापक को पूर्वोक्त दोहन में इस एकाक्षरी को मिलाना चाहिये। पक्षान्तर से मानों भावभक्ति के साथ 'मा' नाम को लेने में प्रणव भी ससंभ्रम कहता है "यह तो मैं ब्रह्म के वाचक रूप से स्थित हूँ। तुम मेरे दोहन द्वारा सार (नाद-विन्दु-कला) तथा सारात्सार (कलातीत) को स्व छन्द में प्राप्त करो"। अन्य बीजों तथा नाम के साथ प्रणव का सम्बन्ध विशेषत: प्रणिधान योग्य है। यह देखोगे कि तारा और राधा नाम में ओ कार को शक्ति-

ख्याति तथा रसख्याति में ले जाने की परम योग्यता है। परम उपयोगिता है। यह भी देखोगे कि प्रत्येक अक्षर, नाम, बीज इत्यादि में एक साधारणी अशेष अर्थ-प्रत्यय शक्यता भी है। इसी तरह इनमें असाधारणी शक्यता भी है। असाधारणी शक्यता के त्रिविध रूप है :—

(१) उद्भावनी (What is patent or actully Manifesting)

(२) सम्भावनी (What is latent)

(३) परिभावनी (Completely Manifest)

अब यह देखो कि महामाया नाम किस प्रकार से 'मा' के साथ सम्पुटित हो रहा है ! इस नाम से जो 'हा' है, वह आदि स्थिति 'म' में प्रवेश करे (हेति मेति विशेदाद्यं)। जो परवर्ती शब्द (महामाया में) मायारूप से स्थित है अथवा मा+या, यह भी म में (परमं) में प्रवेश करे। अब प्राप्त किया मा। 'हा' धातु=त्याग, या=गमन, चले जाना। 'आ'=आना। अतः महामाया नाम के पूर्वरूप के संकोच-प्रसार (गुप्त आ वर्ण का प्रसार) के प्रसाद से यह भाव विदित होता है— तत् जो है (यह नाम), मेरा (माम) त्याग न करे (न जहाति), और वह आकर परम में स्थिति लाभ करे। एक-दो-तीन बार 'मा' नाम लेने से क्या होता है ? होता है संख्या शंङ्कोपनयन रूप (अस्ते)। परम अभय मिल जाता है। अर्थात् एक बार संख्या मैत्र का योग, दूसरी बार संख्या वैर का वियोग और तीसरी बार संख्या शंका का वियोग।

अब इस कारिका में यह कहा जा रहा है कि देवीसूक्त, पुरुषसूक्त तथा रात्रिसूक्त में किस प्रकार से परब्रह्म की भगवत्ता महामायातत्व में निविष्ट है :—

एतावतः स्त्रियां पुंसि महिना महिमेति च।
परं स्त्री च पुमान् ब्रह्म देवीसूक्ते च पौरुषे॥
या 'व्यख्यदायती' रात्रि 'ज्योंतिषा बाधते तमः।'
'मा मे' ति स्तोममस्यै मा 'उप मा पेपिशत् तमः।'
'र' इति यच्च तार्त्तीयं मत्रीति यत् तुरीयकम्।
राति तार्त्तीयशेषाद् वाऽ 'मर्त्या' दुहिता दिवः॥
त्वंस्वाहेति तथा देव्या ययेति चण्डिकास्तवे।
नभो देव्यै तथा मातः प्रपन्नार्त्तिहरे द्वयम्।
सूक्तानि यानि चत्वारि यान्यत्रैवासतैकतः॥ २१-२४॥

देवी सूक्त में कहा गया है—'एतावती महिना सम्बभूव' और पुरुष सूक्त में 'एतावानस्य महिमा' उक्त है। 'एतावत्' शब्द को प्रथम सूक्त में स्त्री, द्वितीय सूक्त में पुरुष से कहा गया है। मानों परब्रह्म स्वयं एक बार पुमान्—और एक बार स्त्री

हो जाते हैं। परम पुरुष तथा परमा प्रकृति, इन दोनों की तत्वतः अभेद भावना करके इस मूल स्त्री पुमान् का ध्यान करो। यह होने पर जो भगवान् हैं, वे ही भगवती हैं, अथवा जो भगवती हैं—वे ही भगवान् हैं। इस परम समीकरण में किसी भी प्रकार की 'समीह' नही होगी। हमारी व्यवहारिक भावना में जो 'स्त्री'पुरुष (पुमान्) आकृति अर्थात् Sex Pattern है, उसकी एक मूल तथा शुद्ध आकृति अवश्य है। वह हमारे जड़ीय शोधन द्वारा लब्ध आकृति अथवा कल्पितभाव आदर्श मात्र ही नही है। मूल में महामाया अथवा परब्रह्म की भगवत्ता स्वयं ही इस मूल शुद्ध आकृति का परिग्रह करते हुये विद्यमान है। (स्त्री च पुमांश्च वभूव—अतीत प्रयोग इसे काल सम्बन्ध से युक्त नही करना)। मूलतत्व में केवल मात्र सत्वरूप तथा प्रकाशस्वरूप ही विद्यमान नहीं है प्रत्युत् रस स्वरूप तथा आनन्द स्वरूप की भी सत्ता वहाँ रहती है।

रस तथा आनन्द ही क्रमशः 'अस्ति' एवं 'भाति' है। जिस प्रकार रस तथा आनन्द स्वरूप में एक अव्यक्त अथच परम स्वलसित भाव है, उसी प्रकार उसके स्वभाव में अशेष उल्लास विलास में लीलायित होने की एक धारा (ध्रुव pole) भी विद्यमान है। उसमें ध्रुव-धारा रूप से अशेष मधुमत्ता की सत्ता रहती है। रस एवं आनन्द में शुद्ध परमता तथा अशेष मधुमत्ता की सत्ता रहती है। रस एवं आनन्द में यह शुद्ध परमता तथा अशेष असीमता भी एकत्र रहती है। रस की इस प्रकार से अभावनीय पूर्णता के प्रकटन, परिशीलन तथा सम्पूरण-परिपूरण का मूल है युगलतत्त्व। तभी न उमाशङ्कर-सीताराम-राधेश्याम ! आनन्द की शुद्ध स्वलसित परमता अव्यक्त तथा अवाङ्मनस गोचर है। परम तुरीय है। मुख को दबाने की आवश्यकता ही नहीं है। अवाङ्मनस् स्थिति में वह स्वतः बन्द हो जाता है। आनन्द तो अपने आप में सत्य है और वह अनन्त ज्ञान में भी अनन्त है। इस आनन्त्य के और प्रकटन तथा परिशीलनादि की अपेक्षा नहीं रहती। महासिन्धु मेघमाला की रचना करके उससे यह नहीं कहता 'ऐ ! तुम रिमझिम बरसकर मेरे इस अतृप्त हृदय में नव-नव पुलक-सिहरन जगाओ। तुम किसी चिरविरही यक्ष का दूत बनकर अभ्रभेदी गिरि-श्रेष्ठ के निराले निकुंज में जाओ। विरह विधुरा तन्वी प्रिया के पास मेरा निभृत मरमी संवाद पहुँचाओ। और वहाँ से शत-निर्झर सरित धारा के समान चिरमिलन विरहरूपी अश्रु जल को समेट कर पुनः वापस आओ। फिर भर दो, वह नितनव स्वादु रस भर दो, मेरी इस आपूर्यमानता की अधीर उद्वेल असीम अश्रुनिबिड़ लवणाम्बुराशि में ! विश्व में जितना मधु है, जितना संगीत तथा काव्य है, वह शुद्ध स्वलसित परम अव्यक्त आनन्द की मौन समाधि भंग होने पर उस वाणी को सुनने के लिये सतत् उद्ग्रीव रहता है।" तभी 'रसो वै सः' रूपी परम मौन से ही यह वाणी ध्वनित होने लगती है 'न स वै रेमे।' इस 'रस' तथा 'रम' को मिला

कर ही मूल युगल है 'स्त्री च पुमांश्च'। रस तथा रम को शुद्धि तथा पूर्णता की परिसीमा में प्राप्त करने पर 'परम युगलतत्व' गठित होता है। यदि 'आ' वर्ण व्याप्ति एवं परिसीमा का सम्यक् निर्वहण करता है, तब उपलब्ध होता है 'रास तथा राम'!

तुम इस सब को द्वैत की बात होने के कारण मिथ्या कहकर अहैतुक भक्त-रसिकों को, युगलरस कांक्षित भिखारी' को अपने 'सत्य' के दरबारे खास' से भगाने में व्यस्त मत हो। तुम यह स्मरण रक्खो कि जो परम तूष्णि है, वहाँ गये बिना जो सब कुछ लिखा-पढ़ा, बोला-कहा जाता है, उस सब में द्वैत स्थिति तथा द्वैत लेश रहता है। यहाँ तक कि 'एक' 'अद्वितीय' 'तुरीय' इत्यादि कहने पर भी यही तथ्य है। और यदि बोलने तथा समझने में द्वैतलेश रखना ही हो, तब शुष्क-नीरसता न रखकर उसे स्वरूप रस के मधुर रस से सिक्त करते हुये क्यों न रक्खें। तुम अपने इस 'ना नकुर' के अन्तहीन श्रान्त विचार का 'इति-शेष' करते हुये एक बार यह क्यों नहीं कहते कि "प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवम द्वैतम्" तो तर्क से तर्क की परिधि से बहुत दूर रह गया! जो आत्मा विज्ञेय है, उसका तो नेतिकरण से दूरीकरण हो गया। निदिध्यासन में बैठता हूँ। अरूप बोध के आलोक में अपरूप आस्वादन का पुलक मिलने से होता है ध्यानरस। रस के मणिकोष्ठ के विचार से 'नकार' के बदले प्राण की तन्त्री में नव बोल बजे 'तूं हूं बिनु। तूं हूं भगवान, श्यामा-श्याम, शिव-राम।' 'न नु चेत् न' 'बिनु चित् न लगे' (तुम्हारे बिना चित्त नहीं लगता)। यह केवल मनगढ़न्त कहानी का मिथक् नहीं है। ज्योति और रस की धारायें आस-पास बह रही हैं। कभी आपस में लुका-चोरी भी करती हैं। अन्त में है अखण्डैकरस भूमा। परमाव्यक्त अभिन्न ज्योतिरस। और भक्तिरसिक! तुम्हारा यह युगल अखण्डैकरस भूमा में 'गल' न जाये, घुल-मिल न जाये, उसके लिये भेदाभेदाभेद इत्यादि वाद से विव्रत होकर मूल (रसवाद) में मत जाना। मनन-विचार, खण्डन-मण्डन, सिद्धान्त स्थापना का यथायथ उपयोग, बुद्धि की शुद्धि और उसकी रक्षा का प्रयोजन अवश्य है। किन्तु अपने सीमान्त में इन्हें क्षान्त होने ही देना होगा। अन्यथा परम में गति नहीं मिलती।

सूक्तद्वय 'एतावती तथा एतावान' पद में परब्रह्म की भगवत्ता के युगलतत्व का प्रसंग आया है। भजन तथा जपध्यानादि साधनार्थ आवश्यक है आन्तर 'आबो-हवा' की सृष्टि करना और अपने उद्देश्य को बचाये रखना। सम्प्रदाय सम्मत क्रम अथवा अन्य सूक्ष्म यौक्तिक विचार यहाँ अभिप्रेत नहीं है। इसके पश्चात् रात्रिसूक्त। पहले दो सूक्तों में (महिना और महिमा) महामाया की असीमं महिमा का रूप है। 'न हा मा' इसमें जो 'आ' है, वह स्वयं को स्वप्रकाश और स्वलसित परमता से अभिव्यक्त करने हेतु और विकास की परमता के लिये 'इ' (गति) हो जाता है।

'य ईं शृणोत्युक्तम्' । रात्रिसूक्त में रात्रि को 'दुहितुर्दिवः' द्यौ की दुहिता कहा गया है । दुहिता अर्थात् पुत्री ? जो दोहन करते हैं । यदि द्यौ की कल्पना गौ के रूप में की जाये, उस स्थिति में रात्रि दुहिता है । वह उसके दो वृन्तों का दोहन करती है । दो विपरीत वस्तु-तमः एवं ज्योतिः का, अन्धकार और आलोक का ।

प्राण-जड़ता, विद्या-अविद्या । जो तमः के आकार से दुग्ध है, वही है पुनः 'पेपिशत् तमः' । 'पेपिशत्' अर्थात् (भाष्य के अनुसार) भृशं, पिशत्, सर्व्ववस्तूषु आश्लिष्टम् । निखिल वस्तु में आश्लिष्ट जो तमः (जड़ता, अज्ञान) है, उसकी जड़ता, अन्धता का अपनोदन रात्रि करती है, ज्योति के "ज्योतिषा बाधते" से । नैश अन्धकार में सब कुछ डूबा है, चाँदनी भरी रात्रि उस अन्धकार का अपनोदन करती है । अब यहीं पर 'बस' नहीं करना है । जो रात्रि हैं, वही 'मुख घुमाने पर' आविः है । द्यौः है सब विपरीत वस्तुओं वाली दोहन सामग्री । यह अग्नि तथा सोम रूपी उभय तत्वों की आकर वस्तु है । The grand matrix of all manifested Polarities रात्रि ही आदि दुहिता है (सृष्टि सूक्त की भावना करो) । उषा उसकी दुहिता है । अतः यह आदिम रात्रि स्वयं पूर्ण अख्यातिरूपा नहीं है (ख्याति तथा अख्याति दोनों का यह दोहन करती हैं । सूत्र के (व्याख्यात्) पद को समझो) अतः रात्रिसूक्त की रात्रि महामाया से अभिन्ना है । महारात्रि, मोहरात्रि, कालरात्रि प्रभृति उसके रूप का नामान्तर है । रात्रि का जो स्तोम अथवा स्तव उद्‌गीथ होता है, उसमें महामाया का यह वास्तविक नाम 'मा मा' है । 'तमसः परस्तात्' उत्तरण के लिये इस नाम का यथायथ भाव से आहरण कर लो । जैसे—उपमा पेपिशत् तमः—हमारे समीप अथवा उपाधिरूप से जो 'पेपिशत् तमः' है उसे तुम प्रकाशरूप से 'मा' अर्थात् निषेध-वाधित करो । जप में प्रणवादि की जो विन्दुलीनता (स्वबीज इव पादपः) है, उसे रात्रि कहा जाता है । यहाँ आकर 'शयीथाः' शयन करो, किन्तु शयन करो रसोज्वल आन्तर चेतना में, तमसा में शयन नहीं करना । तुम्हारे लिये रात्रि ज्योति का दोहन करे ।

तत्पश्चात् रात्रि = र + अत्रि । यह एक प्रकार से विवेचित किया जा चुका है । यहाँ भी इस प्रकार से समझो । आकाश, वायु, अग्नि (रं) विलोम में क्षिति, अप अग्नि । अग्नि अथवा 'र' तृतीय हुआ । लक्षणा मे र = तार्तीय अथवा यत्-किंचित् तृयीयता सम्पर्क युक्त । जैसे अ उ म रूपी त्रिमात्रा में जो अंतिम मात्रा है । बहिप्रज्ञ, अन्तप्रज्ञ, घनप्रज्ञ में जो तृतीय है । इत्यादि । अत्रि = तीनों से अतीत, तुरीय—जैसे अमात्र । अतएव प्रणव त्रिमात्रा + अमात्र = रात्रि । पूर्ण ॐ । अथवा ह्रीं आदि बीज । ह्रीं में हरईम् प्रकट हैं, किन्तु अर्धमात्रा तो नादविन्दु कला क्रम से कलातीता होकर, रात्रिरूपा होकर, जहाँ तृतीयमात्रा शेष है, वहाँ से सब को तमः के द्वारा आच्छादित किये रहती हैं । इन्हें प्रसन्न करना होगा । यह अर्धमात्रा अथवा

योगनिद्रा रूपी रात्रि द्वारा ही "ज्योतिषा बाधते तमः' होता है। अतः कारिका में कहा गया है 'रात्रि (उद्धार करती हैं) तार्त्तीयशेषाद् वा'। जहाँ तार्त्तीय (इम्) शेष हो रहा है, वहीं से, उसका उद्धरण होगा। रात् + र + ई इस प्रकार की आकृति धारण करती हैं। रात्रि अपनी 'राति' क्रिया की कुक्षि में इस तार्त्तीय के शेष (र) को ग्रहण करती हैं। परिणामतः (ईम्) में आकर जो अग्नि 'म' में बुझ गई सी प्रतीत हो रही थी, उसे अर्धमात्रा रूपा रात्रि ने 'अग्निगर्भा शमीव' अपने गर्भ में धारण किया। धारण किया नाद आदि रूप से परिपूर्ण अभिव्यक्ति के लिये। जप के क्षेत्र में इस तार्त्तीयशेष को जान लेने के पश्चात् अन्य स्थलों पर भी सम्यक् रूप से समझो।

अन्त में श्री श्री चण्डी में जो चार महास्तवरूपी सूक्त हैं, उन चारों में ही महामायातत्व ही पर्यवसित है। 'त्वं स्वाहा त्वं स्वधा' इत्यादि योगनिद्रास्तव ही रात्रिसूक्त है। 'देव्या यया ततमिदमात्मशक्त्या' इत्यादि को कात्यायनी सूक्त कहते हैं। 'नमो देव्यै महादेव्यै शिवायै सततं नमः' इत्यादि है देवीसूक्त। 'प्रसीद मातर्जगतोऽखिलस्य' इत्यादि नारायणी सूक्त है। एक महामाया मे ये चारो सूक्त 'एकत्रासते' एकत्र हैं। उक्त रात्रिसूक्त से 'हा' (स्वाहा) कात्यायनी सूक्त से या (यया), देवींसूक्त से म (नमो) तथा नारायणी से मा (मातः) लेने पर इन चार परमाक्षरों का संदोह होता है 'महामाया'। अर्थभावना के दृष्टिकोण से तो कोई बात ही नहीं। उक्त कारिकाओं में पूर्ण परम महामायातत्व का किंचित् दिग्दर्शन मात्र ही कराया गया है। अगाध रहस्यवारिधि की वेला भूमि में हमारी 'वेला' तथा 'बला' हुई!

वेद-तन्त्र पुराण आदि के प्रत्येक अक्षर में वह क्षररहित अक्षरमात्र परिपूर्णशक्ति भावरसवैभव महामाया ही भगवन्तरूप से समुदीरित हो रही हैं, यह निःसंदिग्ध है। जो विश्वभुवन के प्राणों के प्राण हैं उन्हीं का प्राणन् है अक्षर तथा वर्ण, उनका ही निःश्वास "निःश्वासितम्" है। प्राण का स्वभाव है सब कुछ को अपने में स्वीकार अंगीकार (own) करना। व्यवहार में वह अंगीकार हेय अथवा उपादेय होने पर भी वस्तुतः अंगीकार ही है। प्राण तो परार्ध योजन के व्यवधान वाली नीहाररेणु से यह नहीं कहेगा कि "तुम मेरी अपनी नहीं हो; तुम पराई हो, वाह्य बहिरंग हो ?"। सामग्रिक अन्तरंगता ही प्राण का स्वभाव है। अतः अक्षर तथा वर्ण का भी यही स्वभाव है। एक-एक अक्षर में, वर्ण में, निखिल (यूनिवर्स) की समग्र सत्ता, शक्ति, आकृति तथा छन्दः दहरमान में (As a 'monad', microcosm) निपुटित (enfolded) है। उसके जितने भी विशिष्ट रूप गुण आदि (manifested Specificity) है वे तो देश, काल, पात्र के सम्पर्क से केवल परिवर्त्तित होते रहते हैं। वे हैं 'छवि' 'छायारूप'। एक अन्तहीन 'विश्वरील' में उसका

समग्र विवर्त्तन अंकित रहता है। यह अन्तहीन 'रील' महामाया का ही देश-काल-निमित्त रूप है। उसमें भूत-भव्य, दूरान्तिक, हेतु-हैतुक समस्त क्रियाकारक फल समष्टि पूर्णतः अंकित रहते हैं। जो इस पार्थिव रेणु में भूत रूप है, वही नीहाररेणु में भव्य है। जो यहाँ दूर है, वहाँ अन्तिक है। जो यहाँ हैतुक है, वहाँ वही हेतु है।

मैं छवि देख रहा हूँ। जैसे मेरे इस देखने वाली कर्म की पृष्ठभूमि में अदृष्ट (veiling vital) विद्यमान है, उसी प्रकार जो दिखला रहा है, उसकी पृष्ठभूमि में भी अदृष्ट विद्यमान है। मेरे अदृष्ट को 'V' कहा जायेगा तब उसका अदृष्ट भी 'V' है। मुझमें जो वर्त्तमान देश-कालसम्बन्ध से सम्भाव्य है, और जो उसके देश काल सम्बन्ध में संभाव्य है, उन सब को ताड़ित विज्ञान की परिभाषा में Potential कहते हैं। इन्ही दोनों पोटॅन्शियल द्वय की विभिन्नता और अनुपात पर यह निर्भर करता है कि उनसे हमारा लेन-देन (give and take) का कार्यक्रम किस प्रकार से कितना होगा, नहीं होगा और फलस्वरूप उसका कितना मैं कार्यरूपेण स्वीकार करूँगा, और कार्यंतः वह मेरा कितना स्वीकार करेगा ! महामाया के कास्मिक बैंक में इन सबका अनलिमिटेड, असीमित डिपाजिट (कोष) है। फिर भी कास्मिक मुद्रा (करेन्सी) और एक्सचेन्ज (लेनदेन) में कोई तो अधमाधम अधमर्ण है, कोई महामहिम महिमामण्डित उत्तमर्ण है। यह 'कारोबारी' मान आता है महामाया से। इस माया को अगले सूत्र में कहा जायेगा। आज विज्ञान ने एक जड़ रेणु को भी अणुत्व की परिधि में बन्द रखना छोड़ दिया है। अक्षर तथा वर्ण (जो प्राण की साक्षात् क्रिया है) उसे एक Rigid, Inflexible आकृति में कौन रक्खेगा ?

प्राचीन निरुक्त निघन्टुकार (वैदिक तथा तान्त्रिक) ने वर्णो को अभिधा-लक्षण तथा व्यञ्जना प्रभृति से कहीं भी अकारण कुण्ठित नहीं किया था। जैसे समुद्र शब्द के आकाश, परमात्मा आदि अनेक अर्थ होते हैं और हो सकते हैं। इस वर्ण-मूल तथा वर्ण रसायन की चर्चा हममें पहले भी किया है। आगे भी इसकी चर्चा होगी, यह आशा करता हूँ। मूल में है, प्राणब्रह्म स्पन्द। इसकी विपुलता तथा सूक्ष्मता का अन्त ही नहीं है। 'अ' अथवा 'क' का उच्चारण करने पर इस ब्रह्मस्पन्द को किसी विशेष आकृति में 'इतना' कर लेने का एक अदृष्ट संस्कार हममें है। तुममें भी है। यही है माया। माया 'मिमीते'। माया समग्र शुद्ध, ध्रुव ख्याति नहीं है, फिर भी इसका मूल है महामाया। अतः जो विशेष परि-च्छिन्न आकृति 'इतना सा' कर लेने पर प्राप्त होती है, उस आकृति की नाभि में वही बिन्दु वासिनी बिन्दुरूपा होकर रहती हैं। अतः जिस प्रकार से 'क' वर्ण का हरण अथवा शून्यता देखता हूँ, उसी प्रकार उसमें सब कुछ का पूरण तथा पूर्णता (हमारे वर्त्तमान अदृष्ट संस्कार का अव्यक्त भाव) भी विद्यमान है। यह जानकर उत्साह

होता है। अभी मध्यमा में अभिव्यक्त स्फोट का प्रसंग यहाँ नहीं उठा रहा हूँ। यदि इस दृष्टि से 'महामाया' रात्रि इत्यादि इत्यादि शब्दों का प्रचलित अर्थ छोड़कर अन्य अर्थ भी लेता हूँ उससे भी तत्व, तथ्य, ऐतिह्य आदि की मर्यादा क्षुण्ण नहीं होती। तब भी किसी भी अर्थ का आविष्कार करने में पूर्वोक्त नैर्लक्ष्य, वैलक्ष्य, अपलक्ष्य प्रभृति का वर्जन करके संलक्ष्य वृत्तिता में स्थिर होना होगा।

इसके पश्चात् परमविद्या, महाविद्या, श्रीविद्या इत्यादि रूपिणी की भावना कतिपय महाबीजरूपेण भी करो। समग्रता, परमता और सकलनिष्कलता रूपी भावत्रय द्वारा ही महामाया का ब्रह्मत्व भावित होता है। इस त्रिवेणी सम्मिलन में उसकी पूर्णता का चिन्तन एक त्रिकोण के रूप में करो। इस त्रिकोण की भूमि (Base) है सामग्य् (as seamless whole)। साकल्य (Perfect Immanence) इसकी एक भुजा है। नैष्कल्य (Perfect transcendence) इसकी अन्य भुजा है। इन दोनों भुजा के शीर्ष में जो मिलन विन्दु है (Vertex) वह है पारम्य (as supreme absolute)। त्रिकोण को ध्यान में संकुचित करके पारम्य में समर्पण करो। प्राप्त होगा परमविन्दु। सामग्यूरूपी विन्दु को अनन्तवत भाव से प्रसारित करो। प्राप्त होगा परमनाद और जिस अचिन्त्य कलनशक्ति से ब्रह्मत्व की यह मूल त्रिकोणाकृति आविर्भूत हुई है, परमविन्दु तथा परमनाद का इस पराकाष्ठा में जो 'संकुचत-प्रसरत्' (संकोच-प्रसार) हुआ है, उसे कहो परमाकला 'न वै रेमे'। सोऽकामयत्'। परमाकला की यह मूल कामरूपा आकृति है (कामाख्य) कामकला। सृष्टि के मूलाधार में (primal base में) यह आकृति है 'मूल शृंगार' अथवा 'मूल शृंगाटक'। कोई भी बीजमन्त्र अथवा यन्त्र (जैसे श्री यन्त्र) इस नादविन्दुकला रूपा मूलाकृति का ही एक मूल सांकेतिकरूप है। जैसे हाइड्रोजन हिलियम आदि एटमों का दृष्टान्त है। गणित में भी Base Index Co-efficient सब प्रकार की विकास परिणति में Presention, Movement, Veiling, तल, लम्ब, वेध आदि। इन सब को ऋध्यमानता (as continued function) के रूप में लो। प्राप्त हुई अर्धमात्रा। अर्धमात्रा की 'मा' मन्त्ररूपा है, 'त्रा' यंत्ररूप। यह कैसे है, इसे पश्चात् काल में विवेचित किया जायेगा। प्रणव का 'अ' भूमि है। 'उ' 'म' दो भुज हैं। अर्धमात्रा है शीर्षविन्दु।

ह्रीमिति बीजमाद्यस्य क्लीञ्च परमता मनुः।
श्रीं ऐं साकल्य-नैष्कल्ये ब्रह्मण्ये प्रणवः स्वयम् ॥ २५ ॥

समग्रता का वीज है ह्रीं। इस बीज को सहग करने से, अन्य सब कुछ की जो अपनी कार्यकरी शक्ति (Kinetic Energy) है, वह आदि शक्ति के भाण्डार (Primary Power Plenum) से अपरिसीम शक्ति का आहरण करते

हुये अपनी क्रिया तथा सामर्थ्य में सम्यक्, समन्तात् अग्रग्रा हो जाती है। यहाँ महा-प्राणवर 'ह' है भूमि (Base)। 'र' के द्वारा इस महाशक्ति सामान्य में (Equilibrated Power Continum) एक शंखावृत्त आवर्तन (स्पाईरल रोटेशन) संभव हो जाता है। 'ई' कार इस आवर्तन का अक्ष है। इस अक्ष की निम्न सीमा है 'ह' का अन्तःस्थ (तल वृत्तितामात्र सूचक) 'अ', और उर्ध्व सीमा है अर्धमात्रा (नाद-विन्दु-कला)। आवर्तन में जिस घन कोण (cone) का उद्भव होता है, वह उस मूल शृंगाटकाकृति (Bi-conic-Pattern) में घन तथा ऋण रूपेण उद्भूत होता सा प्रतीत होता है। इन घन कोणद्वय (घन तथा ऋण) का ऊपर और नीचे सप्त-सप्त अवच्छेद (सामतलिक) उपलब्ध होता है 7+7 रूपी चतुर्दश लोक तथा मूल चतुर्दश प्रत्यय में। (उपर नीचे = उर्ध्व अधः)। अवच्छेद में कोणिकता (eccentricity) रहने पर उक्त लोक एवं प्रत्यय समूह के विविध भेद हो जाते हैं। यदि इस अवच्छेद में एक त्रिभुज का सन्धान पा सको, तब उसकी भूमि होगी 'ह'। र तथा ई दो भुज होगें। नाद विन्दु शीर्ष होगा। (सब मिलकर ह्रीं)। र ही श्रीं बीज में विशेष रूप से अनुप्रविष्ट रहता है और ऐं बीज में ई विशेषतः निहित रहता है। यह विश्लेषण यहीं समाप्त है।

क्लीं बीज की परमता का विश्लेषण एक प्रकार से किया जा चुका है। अन्य प्रकार से भी इसका विश्लेषण हो सकता है और किया जायेगा। परमता अथवा Supreme Absolute भूमि में (परम श्रेष्ठता तथा परम निःश्रेयस अथवा कैवल्य रूप से) आरुरुक्षु के लिये यह बीज अत्यन्त कामद है। परम रसवस्तु को नित्य-रासरूपेण विलसित करने और उसे अपनी अस्तिता-भातिता स्वलसित करने में क्लीं बीज शक्य है।

श्रीं तथा ऐं बीजद्वय का साकल्य एवं नैष्कल्य में सविशेष उपयोग है। बीज के व्याहरण के द्वारा प्राणनाकृति को लक्ष्य करो। स्वर में जो स्वगत-उद्वर्तन वृत्ति (बेसिक सेल्फ रिवाल्विग फंक्शन) निहित है, वह विशेषत 'ऐं' रूपी वागभव में परिस्फुट है। आदि वाक् अथवा स्वर 'अ' से इस वागभव की उद्भवरेखा (जेनरेटिंग कर्व) को लक्ष्य करो। प्रथमतः अ+ई=ऐ स्वर। इस स्वर ने स्वयं को दीर्घ (अभीद्ध) कर लिया। मानों कोई एक निर्दिष्ट तलज्ञापक सरल रेखा अपने तल से स्वयं को मुक्त करने की गति (इ) प्राप्त करती है। वह कहती है "जिस तल में हूं, उसमें अब नहीं रहना है। हमें इस लक्ष्य विन्दु की ओर चलने दो।" फलस्वरूप तलस्थित रेखा में उच्छूनभाव (Swell) का संचार होता है। यही लक्षित होता है शिष्य में, उसका आग्रहरूप! फिर भी तलका-पाश (ग्रैविटेशनल मूवमेन्ट) तो साथ-साथ नहीं कटता। अतः एक ऐसी वक्ररेखा (curve) प्राप्त होती है, जो उठने के साथ-साथ बारम्बार तल के खिचाव के कारण तल की

ही ओर झुकती जाती है। यही है 'ए' स्वर। तलवृत्तिता के खिचाव को काटने के लिसे इस 'ए' में दीर्घत्व की आवश्यकता है।

अब 'ए' तथा 'ऐ' स्वर का उच्चारण के द्वारा परीक्षण करो। 'ऐ' की उच्छूनता अवांगमुखी है। जैसे Earth से किसी Projectile की। वह Parabola की भंगिमा में पुनः भूपतित होता है, किन्तु जब Projectile का सम्वेग एक 'मेरु' को पार कर लेता है, तब वह पुनः भूपतित नहीं हो सकता। 'ऐ' स्वर उक्त बाधक मेरु को उत्तीर्ण करने का मार्ग दिखलाता है। यह है शिष्य साधक के अपने आग्रह की तीव्रता (दीर्घकाल-नैरन्तर्य-सत्कारासेवन्) और गुरु की दिशा से साधिष्ठ अनुग्रह शक्ति का अवतरण। इसकी कृपा से 'इ' की तलवृत्तिता से पाश-मुक्ति संभावित हो जाती है। इसलिये वागभव ही विशेषरूप से गुरुबीज है। प्रणव में 'इ' के स्थान पर 'उ'। 'इ' में विशेषतः लम्बवृत्ति है और 'उ' विशेषतः वेधवृत्ति का सूचक है। किसी भी बीज को प्रणव से युक्त करने पर इस वेधवृत्ति की साधिष्ठता अर्जित होती है। नादविन्दुरूपा जो अर्धमात्रा है, उसका साक्षात् उपयोग (direct Intimate Appropriation) भी सहग हो जाता है। इस प्रसंग का और अधिक विस्तार यहाँ नहीं होगा।

'श्रीं' बीज समस्त कला तथा समस्त सुषमा को प्रस्फुटित करने के लिये साधिष्ठ है। 'अ' वर्ण किसी भी तल का संकेत देता है, 'त' वर्ण किसी निर्दिष्ट तल का निर्देश करता है। 'श' (तालव्य) महाप्राणता का उर्ध्वतल (Higher Plane of Pranic Function) है। र तथा ई की पूर्ववत् भावना करो। जैसे गणित में Sin A एक Function है। शून्य डिग्री से प्रारम्भ करके दक्षिण अथवा वामावर्त्त में ३६० डिग्री (अथवा किसी भी अभीष्ट डिग्री पर्यन्त) पर्यन्त आवर्तन में हम जो मान ऋण किंवा धन रूप में और एक सुषम आकृति में प्राप्त करते हैं, वही हैं 'श्रीं' बीज का संख्यान सम्बन्धित उदाहरण।

इस प्रकार यदि जप को एक Function कहें, और व्यक्तरूप में जप को (सभी प्रकार के जप को) धन तथा अव्यक्त को ऋण कहें, उस स्थिति में यह 'श्रीं' बीज ही उस जप को :—

वैखरी में वाचिक, उपांशु, मानस
मध्यमा में अवर-वर सन्धि तथा सेतु स्थल
पश्यन्ति में विभिन्न लोकों में
परा में उस उस तल भूमि की उपयोगी आकृति
तथा छन्द में —

और धन एवं ऋण में, कला-कला में, प्रस्फुटित कर देता है। श्रीं बीज के अतिरिक्त विश्व में कहीं भी अथवा किसी में भी श्री नहीं है। सौष्ठव और सुषमा तथा सुदूरवर्ती नक्षत्र से हमारी पृथ्वी पर कोई रश्मिरेखा सूर्य के निकट शून्य पथ से आते-आते यदि टेढ़ी हो जाती है, उससे विश्वभुवन की श्री हानि होने की स्थिति सोचकर विव्रत नहीं होना चाहिये ! हम जिसे महाशून्य कहते हैं, वह परमाश्री के चरणों पर अंकित अल्पना के समान इतना चित्र-विचित्र है कि यदि सुदूर से आती रश्मिरेखा भले ही उस अल्पना की मर्यादा को भूल जाये, तब भी इस विश्व में ओतप्रोत महालक्ष्मी ही हैं महाशून्य ! इसका निष्कर्ष यह है कि प्रत्येक महाबीज इस सृष्टि में सर्वत्र अनुप्रविष्ट है और उदाहृत है।

इसका कारण यह है कि महामाया ही है महाबीजरूपा ! नाम तथा नामी मूलतः एक हैं। किसी शक्ति (क्रिया-ज्ञान-भाव) का संग्रह, समूह तथा समिद्ध करने में ह्रीं बीज का बिशेष उपयोग किया जाता है। आकृति-छन्दः प्रभृति में विषमता (श्री हानि) का निवारण करने के लिये श्रीं बीज उपयोगी है। अर्वाक्-पराक्-तल वृत्तिता उच्छिन्न करने के लिये ऐं बीज का और योग-ज्ञान-भक्ति में इष्ट की परमाविष्टता के लिये क्लीं बीज का उपयोग करना चाहिये। इस बीज का उपयोग अकेले अथवा प्रणव के साथ भी किया जा सकता है। कारिका के शेष पाद में प्रणव को ब्रह्मगावाचक कहते हुये प्रसंग समाप्त किया गया। अतः प्रणव के साथ ह्रीं, श्रीं, ऐं, क्लीं जपे।

विष्णुमाया समग्रस्य साकल्ये योगपूर्विका।
नैष्कल्ये निजमाया च 'मा ये' तिद्वचर्ण वारणात् ॥
सर्वासा मर्य्यदामातृ महामायेति तुर्यगम् ॥२६॥

यह समग्र व्यापिका के सम्बन्ध से विष्णुमाया, साकल्य (निखिल कला के विकास और आस्वाद की) की परिपूरयित्री योगमाया, नैष्कल्य निजमाया है (जहाँ परमवस्तु विष्णुमाया तथा योगमाया से कहती प्रतीत होती है "माया—निवृत्त हो जाओ। योगमाया समाश्रित रासलीला के अन्त में भगवान अपनी अन्तरंगा स्वरूप शक्ति के साथ अन्तर्ध्यान हैं।" कहाँ ? यह कौन कह सकेगा ? मानो वे योगमाया से कह रहे हैं "तुम इस रास मण्डल में ही रहो। और साथ मत जाओ।" ज्ञानी की ब्रह्माकारा चरमावृत्ति की भी चरम बात यही है—'मा या'। जप में पश्यन्ति के पार क्या होता है ?) जो कुछ भी हो, इस सब की मर्यादामात्र है 'तुर्यगम्'। (तुरीय, जो माया से कहती है "तुमने मेरे द्वारा प्रदत्त मर्यादा से ही निखिल सृष्टि को 'मान' दिया है और निरन्तर देती हो, किन्तु यह देखो, मैं अपनी पूर्ण महिमा में हूँ)। तत्व क्या है ? 'महामायेति' यही तत्व है।

क्षराक्षरा च सामग्र्ये साकल्येऽप्यक्षरक्षरा।
नैष्कल्येऽप्यक्षरा योनिः पारम्ये योनिरुत्तमा ॥२७॥

सामग्र्य में क्षरा-अक्षरा दोनों ही हैं। साकल्य में निखिल क्षर भी अक्षरा है (जैसे पूर्वोक्त श्री रूप में as Hormony relation) नैष्कल्य में निखिल क्षर की आधारभूता अक्षरा योनि है। अन्त में—पारम्य में योनिरुत्तमा रूप से 'महामाया' ही हैं। जैसे गीता में ब्रह्म की भगवत्ता 'पुरुषोत्तम' रूप में अंकित है, उसी प्रकार यहाँ भगवत्ता ही (लिंगादिनिरपेक्ष रूप से) 'योनिरुत्तमा' रूप से कथित हैं। और नैष्कल्य स्थल में जिन आधारभूता अक्षरयोनि का वर्णन है, वह केवलमात्र 'अजामेकां लोहित-शुक्ल-कृष्णां' श्रुति के समान जैसा श्रुति में कहा गया है, गुणमयी, गुणात्मिका, अक्षरा नहीं है। वह गुणाश्रया गुणातीता भी है। (प्रथम खण्डोक्त श्री श्री कालिका षोडशी के अन्तिम श्लोक का चिन्तन करो)।

व्यक्तव्यक्तव्यञ्जनाद्ये साकल्ये नित्यव्यञ्जना।
नैष्कल्ये व्यञ्जनाव्यक्ताऽत्याश्चर्यव्यञ्जनाऽन्तिमे ॥२८॥
आपूर्णता समग्रा या सकला परिपूर्णता।
सम्पूर्णता च नैष्कल्येऽन्तिमे पूर्णाच्च पूर्णता ॥२९॥
आद्ये परापरे द्वे स्तः साकल्ये च परोर्जिता।
नैष्कल्ये च पराव्यक्ता परमा प्रकृतिः स्वयम् ॥३०॥

सृष्टि में व्यक्ताव्यक्तादि (व्यक्त-अव्यक्त) रूप जिन भावों को देखा जा रहा है, उनके साथ महामाया के इन सामग्र्यादि भावों को मिलाकर ही देखते हैं। महामाया के समग्रता भाव में व्यक्त-अव्यक्त रूप व्यंजनाद्वय (मीनिंग, इम्पोर्ट) की स्थिति रहती है। अर्थात् व्यक्त (सत्) तथा अव्यक्त (असत्) को मिला कर ही वे समग्रा हैं। साकल्य में सब कुछ नित्य व्यञ्जना रूपेण अवस्थित रहता है। (As Perfectly and eternally realised)। स्थितिरूप (सत्यम्) तथा गति-रूप (ऋतम्) तो साकल्य भाव में अपने को पूर्णतः निमज्जित रखते हैं। नैष्कल्य की जो व्यञ्जना है, वह अव्यक्ता है (शुद्धा अस्मिता भातितारूप से भी और विश्वा-तिगारूप से भी as transcending whatever is manifested or manani-festable)। अन्त में जो अन्तिम अर्थात् पारम्य है, वह अत्याश्चर्य व्यंजना है। इस व्यजना को किसी भी प्रकार से किसी भी संज्ञा-लक्षण-विकृति में नहीं लाया जा सकता।

इस प्रकार की समग्रता के द्वारा विश्व में सर्वत्र आपूर्णता का भाव आता है, इसी को लेकर विश्व में सब कुछ व्याप्ति एवं सीमा (काष्ठा) की ओर अभिमुखीन "आपूरित" होता है। कहीं भी स्तब्धता (Staticity) नहीं है, सर्वत्र आपूर्य-मानता (डाईनेमिक फुलफिलिंग) है। सकलता से ही परिपूर्णता है। सब कुछ की

(वस्तु आकृति शक्ति-छन्दः) एक नित्य परिपूर्णता भूमि अवश्य है। उसी भूमि से व्यक्ता—व्यक्त सब कुछ में वस्तु आकृति-शक्ति छन्द का आपूरण होता रहता है। परिणामतः कुछ भी पूर्णतः रिक्त अथवा शून्य नहीं होता, वरन् उन्मेष विकास की अस्फुरन्त सम्भावना (अनलिमिटेड पासिबिलीटी आफ इनक्रीसिंग इवालूशन) विद्यमान रहती है। यही है कास्मिक रनिंग डाउन में सोम। महामाया का यह साकल्य-भाव है विश्व का 'बीजमव्ययम्'। जो साकल्य की नित्योदिता परिपूर्णता है, उसका व्यक्ता-व्यक्त विश्व में देश काल निमित्त अवच्छेद में (डिटरमिनेशन में) क्रमिक आंशिक प्रकाशादि (ग्रेजुअल एण्ड पार्शियल रिप्रिजेन्टेशन) होता रहता है।

मूल प्रेजेन्टेशन तो आईडिया है, वह कल्पना नहीं है। और यह है घटना ईवेन्ट। इसकी जो पूर्ण व्यंजना है, (Complete meaninig and perfect reason) वह भी मूलस्थ आइडिया में ही है। इसके पश्चात् है नैष्कल्य में सम्पूर्णता (perfect Equiliberated wholeness or Absolutely oniesent wholeness)। 'सर्वतः स्पृष्ट्वा अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्' एकांशेन स्थितं जगत्' इत्यादि। और 'न तद् भासयते सूर्यः, इत्यादि।

दोनों भावों की यह जो आतीत्य (Trancendence) स्थिति है, उसमें इसी लक्षणानुसार सम्पूर्णता आती है। अन्त में जो महामाया का पारम्य है वहाँ है 'पूर्णाच्च' पूर्णता। जो 'पूर्णमदः' मन्त्र पहले कहा गया है, वह परम तथा आश्चर्य पूर्णता वहाँ संगत है। पुनश्च यह कहना है कि वहाँ सामग्र्य भी अपरा-परारूपी प्रकृतिद्वय में संगृहीत है। साकल्य में दोनों ही (परा-अपरा) "परोर्जिता" निरतिशय उत्कर्ष, महिमा तथा सुषमा के साथ उर्जिता हैं। नैष्कल्य = 'पराव्यक्ता' निरतिशय रूप से व्यक्त (मनसा वाचा) न होना (आतीत्य को पहले के समान उसी भावमें क्यों नहीं ग्रहण करते)। जो परमा प्रकृति है वह तो स्वयं महामाया है। यही कार्यकारी होते समय (प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय) विषयीभूता होकर "स्व प्रकृति" भी हो जाती हैं। यही युक्तवेणी (स+उ+आ) (अर्थात् स्वा) पुनः मुक्तवेणी होकर त्रिधारा में (स्व, निज, आत्म) अपने व्यापार का निर्वहण करने के लिये प्रवाहित हो उठती हैं। यह प्रसंग फिर कभी विवेचित होगा !

सप्तर्णादि-मनुस्फोटं कादि-हादि-स्वरश्रुति।
उद्गानं गीयते तस्याः षडध्वाम्नायसन्ततम् ॥३१॥
कर्पूरादौ नवार्णादा-वर्णरोहावरोहतः।
आत्मविद्ये मूर्च्छयन्ति धमति शिवमूर्च्छना ॥३२॥
शिवशक्त्याः प्रकाशस्य विमृशे मैथुनान्वय।
व्यतिरेकोदयास्तादि स्पन्द-विस्पन्द-तायनम्।
धीः कापि कलयेत् तत्त्वं धीरेव कलना स्वयं ॥३३॥

अष्टादशदशार्णादि वेणु-स्वाररसिकस्वरा ।
मदासेवितपादाङ्क प्रेष्ठालीवल्लभाधरा ॥३४॥
अन्तरङ्गान्तरालह्लादाकर्षिकाकर्षको रसः ।
भगवती स्वयं सैव कृष्णः स भगवान स्वयं ॥३५॥

इन्हीं महामाया का ही उद्गानरूप से गायन होता है । "ॐ ह्लीं दुर्गायैनमः" इस प्रकार के सप्ततार्णादि नित्य अव्यय स्फोट रूप से वे उद्गान के आधाररूप में विद्यमान रहती हैं । अर्थात् मन्त्रों का जप मनन आदि हो किंवा न हो, वे नित्य स्फोटरूप विद्यमान तो रहती ही हैं । उसी प्रकार जैसे संगीत में किसी राग अथवा छन्द का अपना रूप । तन्त्रादि कादि-हादि (व्यक्त एवं स्फुट रूप से) उसी उद्गान की ही श्रुति अथवा स्वर हैं । नित्य स्फोट के आधार पर ही कादि-हादि रूपी स्वर श्रुति विन्यास और वितान घटित होते हैं षडध्वा, षडाम्ना इत्यादि मार्गचर्या की पद्धति में ! यहाँ पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या नहीं की जा रही है । षडध्वा के सम्बन्ध में हमारा The philosophy of the tanttra नामक प्रबन्ध विवेचनीय है।

अच्छा ! संगीत का अलाप करते समय आरोह-अवरोह क्रम से मूर्च्छना व्यवहृत होती है क्या यहाँ भी उसका प्रयोग होता है ? द्वात्रिंशत् अक्षरवाले मंत्र (जैसे कर्पूरादिस्तव) में अथवा नवार्ण मन्त्र में बीजव्यूह के आरोह-अवरोह की मूर्च्छना प्रदर्शित की गयी है । यह भी देखा गया है कि प्रणवादि एकाक्षर में भी विन्दु से नाद, नाद से विन्दु, क्षणशयन इत्यादि रूप से मूर्च्छना का अस्तित्व रहता है। अच्छा ! इस मूर्च्छना में तत्वतः कौन मूर्च्छित हुआ है ? आत्मतत्व तथा विद्यातत्व को मूर्च्छित करते हुये (मूर्च्छयन्ती) शिवमूर्च्छना (अर्थात् शिवतत्व की इतर सर्वतत्त्व-मूर्च्छनकृत् परमता) महामाया रूप से मानो स्वयं ही पूर्वोक्तक्रमानुसार नादादि ध्वनि (धमति) कर रही है । (साधन सन्धानरूपी इस रहस्य का कारिकाद्वय द्वारा चिन्तन करो) । शिवशक्ति, प्रकाश-विमृशि (वा विमृश्) के मिथुनीभाव-आसंग के कारण जो प्राथमिक स्पन्द होता है (The primordial thrill of Cosmic Awakening) इस विश्वविपुल उदगान के लिये उसी मूलस्पन्द के स्पन्द-विस्पन्द-परिस्पन्दादिरूप 'तायन' अथवा विस्तार का होना आवश्यक है । केवल यही नहीं, स्पन्द समूह में अन्वय-व्यतिरेक-उदय-अस्त का भी होना आवश्यक है । महामाया स्वयं मिथुनीभूता होकर इस प्रकार से स्वयं को स्पन्द-विस्पन्द विस्ताररूप से प्रदर्शित कर रही हैं । आनन्द लहरी प्रभृति में ऐसे तत्वों का बहुधा गायन किया गया है । "कौन बुद्धि (धी) स्वयं तत्व का कलन इस प्रकार से करेगी ? बुद्धि तो स्वयं उसी की कलना है !"

उसकी भावना स्वयं भगवती तथा स्वयं भगवान रूप से करो । शिवैकतत्वमय मूर्च्छना के स्थान पर वेणुवादनविमोहन मूर्च्छना ! अष्टादशाक्षर (गोपीजन

वल्लभ) अथवा दशाक्षर (जैसे क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय नमः) इत्यादि ही हैं रेणु के स्वरसाकर्षक स्वर। अर्थात् हमारा यह स्वर शुद्ध होने पर (भाव तथा छन्दः में) रेणु का स्वर भीं स्वारसिक होगा। हमारा मन्त्र ही वेणु है। वे स्वयं बजाते हैं अपने 'कानू' (कृष्ण) की वेणु ! और हमारे समान वेणु में वे बजाते हैं अपने नाम अथवा मन्त्र की वेणु ! वे अपने वेणु का स्वर स्वारसिक कर लेते हैं। हमारे और उस वेणु के स्वररूप में भी तुम ही हो ! मैं श्रेष्ठ गोपीजन के चरणचिन्हों का अनुगमन करते हुये उनकी सेवा करना चाहता हूँ, वह मेरी सेवा के सेव्य, हमारे प्रेष्ठालीवल्लभ के अधरपुट रूप भी तुम ही हो। इन दोनों में तुमको उपलब्ध किया हैं "परमा रासोज्वलारूपा"। किन्तु परमरसोज्वलरूप में ? युगलरूप में ? अन्तरंग के भी आन्तर का जो आल्हाद है उस आल्हाद की आकर्षिका ह्लादिनी का सार है श्री राधातत्व। उनके भी आकर्षक परमोज्वल रसस्वरूप "पुमान" भी तुम हो। अतएव यह परमतत्व जैसे स्वयं भगवती है, उसी प्रकार वह स्वयं ही भगवान कृष्ण भी है।

भगवत्ता ही है महामाया। अतः इसे बहिरंगशक्ति, छायाशक्ति इत्यादि मानकर इसके स्वरूप के प्रति विभ्रान्त नहीं होना।

पूर्वखण्ड के अन्तिम भाग में तत् एवं सत् का लक्षण अंकित किया गया है। है। ये दोनों लक्षण शुद्ध निर्विशेष ब्रह्मत्व में निरवकाश नहीं हैं। शुद्ध निर्विशेष ब्रह्म लक्षणातीत होने पर भी पूर्णतः नैकटिक रूप से इन दोनों द्वारा ही लक्षित होता है। इस प्रकार के लक्षण को परमार्थतः लक्षणीयता कहा जाता है और इन्हे ब्रह्म के सर्ष्ट्टत्वादि (सृष्टिकर्त्ता प्रभृति) अन्वय लक्षणों से अलग ही देखा जाता है, किन्तु समग्रत्वादि चार प्रकार से परब्रह्म की जो भगवत्ता सूचित होती है अथवा कही जाती है, उनमें ये दोनों लक्षण बिना किसी भाग-त्याग के सुसंगत प्रतीत होते हैं। 'तत्' सूत्र की "हानोपादानविरहता" निर्व्यूढ़ रूप से स्थित है। तथापि 'माया' और 'मायाविजृम्भित' की स्थिति एवं गति क्या है ? शुद्ध ब्रह्म का बोध काल आदि में संभव ही नहीं है, तथापि रज्जुसर्प का बोध कहाँ और किसका है ? 'बाधमात्र' कहने पर यह बोध स्रष्टत्वादि का है।

स्रष्टृत्वादि से रज्जुसर्प, स्वप्न इन्द्रजाल, स्क्वायर-ट्रैंगल पर्यन्त सभी का बोध होता है। इन समस्त बोध के लिये शुद्ध अस्तिमिति के अतिरिक्त किसी एक स्थान की भी व्यवस्था करना होगा। अन्यथा तुम्हारे द्वारा प्रदत्त आधार अथवा अधिष्ठान स्वयं शुद्ध-निर्व्यूढ (Pure and absolute) होने पर भी सबको आश्रय देने वाला, सर्वभूताधिवास जगन्निवास (All Embracing Self Complate Back ground) नहीं हो सका ! इसी कारण श्रुति तथा अनुभव परब्रह्म को निरतिशय पूर्ण भगवत्तारूप से देखते हैं। यहाँ और विचार करना व्यर्थ है।

२. सामग्रीं मिमीते इति माया ॥

वह सामग्री जो मानार्ह, मानयोग्य तथा मेय नहीं, उसमें जिससे मानार्ह मानयोग्य तथा मेय होता है, वह माया है।

मानेन लक्षणीयत्वं ग्राह्यत्वमपि तेन च।
व्यपदेश्यत्वमेतेन संस्वग्धासङ्गितान्वयः ॥३६॥
पादस्य पद्यमानत्वं मात्रायाश्च निरुप्यता।
कासस्थितिश्च काष्ठायाः कलाकलनवृत्तिता।
चतुः सम्भावनाबीजं ह्लीमिति चतुर्णकम् ॥३७॥

महामाया सूत्र में समग्र, समग्रता, सामग्र्य प्रभृति शब्द बहुशः व्यवहृत हुये हैं। महामाया स्वयं सर्व अच्छेद-परिच्छेदादि रहित, अमेया (महा+अमाया) तत्व है। इस प्रकार से समझने योग्य सामग्री बनाया जा रहा है। मानों जो एब्सोल्यूट एलाजिक है वह परफेक्ट लाजिकल रूप धारण कर रहा है। जो परमतत्त्व धीवृत्ति से अतीत है, वह ऋतम्भरा-सत्यम्भरा, विशारदी प्रभृति धी रूप द्वारा समाधि-ध्यान-धारणा-मनन भावना आदि रूप से स्वयं को 'सजा-धजा' कर प्रदर्शित कर रहा है। यद्यपि बुद्धि का 'देखना' पदमात्रा कला काष्ठा ही है (पूर्ण देखना नहीं है), तथापि जो बुद्धि समस्त संगति-समावृति (को आर्डिनेशन एण्ड सिंथिसिस) देखती है—उसे ही तत्व की संवादिनी, विशारदी कहते हैं। महामाया 'तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गः" रूप से हमारी बुद्धि को ऋतम्-सत्यम् के संवाद से 'प्रचोदयेत' प्रकाशित करती है। वर्त्तमान सूत्र में सामग्र्यादि चारों के संवाद को लेकर (उन्हे) सामग्री कहते हैं। सामग्री स्वरूपतः मान नहीं है। इसे मान देने वाली है 'माया'। महामाया पूर्णतः स्वतंत्र तत्त्व है। माया तो महामाया का ही तन्त्र (Self Emanuating Function) है। इसे स्वतन्त्र तत्त्व अथवा शक्ति मानना उचित नहीं है।

अब यहाँ मान तथा मेयता को सविशेष रूप से भंग करके देखो। इस मान के द्वारा चार मूल बौद्ध व्यापार (Logical) संभावित तथा निर्वाहित होते हैं। सब कुछ लक्षणीय अथवा लक्ष्य होता है (Definable), सब कुछ ग्राह्य अथवा ग्रहण योग्य होता है (Cognisable), सब कुछ व्यपदेश्य होता है (Predicable) और सब कुछ सम्बन्ध+असंग (Patent relation तथा Latent affinity) तथा अन्वययोग्य (Relatable and affiable) होता है। अर्थात् यह सब मुख्यतः बुद्धि का घरेलू कार्य है। बुद्धि कुछ भी ग्रहण करने के उपरान्त अपने आप में, अपने घर में वापस आकर इन कर्मों को करती है, किन्तु वह और भी (बाहरी) चार मुख्य (objectively or self-Projectively) कार्यों को भी करती है। यही है पादमात्र कलाकाष्ठा। पाद की पद्यमानता (इसे पूर्वखण्ड में तपः तथा सत्यम्

सूत्र में विवेचित किया गया है) जिस मान में होती है, मात्रा की निरूप्यमाणता जिस मान में होती है, काष्ठा की पूर्णकासमानता जिस मान में होती है और कला की आकल्य-साकल्यादि की मानता जिस मान में होती है, उसे वर्त्तमान मान के अनुसार महामाया की माया कहा जाता है। यहाँ पादादि का पूर्वालोचित भावार्थ स्मरण करो। काष्ठा के स्थल पर जो काम है, उसे 'विकास' के अर्थ में ग्रहण करना उचित ही प्रतीत होता है। क=व्यञ्जनमुखवर्ण (अर्थात् व्यञ्जना का प्रथम वर्ण) है। इसमें किंवा निखिल-व्यञ्जना बीज में जो 'आस्ते' रहता है, अथवा 'अस्यते' (वह) स्वयं को विच्छिन्न कर देता है, उदार कर देता है। काष्ठा का तात्पर्य है सीमा (लिमिट अथवा लिमिटिंग वैल्यू)। अब यह देखो पूर्व के चार (लक्षणादि) तथा पश्चात् के चार (पद्यमानादि) का बीज है यही सामग्र्य बीज 'ह्रीं'। इसकी कृपा से सामग्री रूप से अमेय और अव्यक्त भी सामग्र्य रूपेण (Progressively measurble ad infinitum and actually realizable to the end) ऋध्यमान, समृद्धमान, समर्थमान, पूर्णमान इत्यादि हो जाता है। यह अनुभूति के दृष्टिकोणानुसार भी पूर्वालोचित अनन्तवत्व तथा ज्योतिष्मत्व आदि है। 'ह्रीं' को मायाबीज भी कहते हैं। ह, र, ई तथा चन्द्र-विन्दु ये चार अर्ण इसमें मिलित रहते हैं। ह=पद्यमानता। र=निरुप्यमानता, ई=कल्यमानता तथा चन्द्र; विन्दु=कासमानता है।

३. अव्यवहारोऽमेयामानामितस्य ॥

जो अमेय, अमान तथा अमित हैं उनमें व्यवहार तथा व्यवहार योग्यता नहीं है ॥

कर्त्तृकर्म्मादिनिष्पाद्या गतिस्थिति घृतिस्तुति।
क्रियाकारकफलत्वेन गच्छेयुर्व्यवहार्यताम् ॥ ३८ ॥
कारकयज्ञरूप: क: क्रियाग्निश्च ररूपक: ॥ ३९ ॥
फलाय यवभीद्धत्वं स्यादीवर्णस्तदेव च।
नादो होता हविर्विन्दु क्रीमिति ह्यखिलान्वयम्।
अयजमानयाजेको यागो यागाय चेज्यते ॥ ४० ॥

'ऋतञ्च सत्यञ्च तपसोऽध्यजायत्' इस सृष्टिसूक्त की भावकथा का पूर्व-पूर्व खण्ड में सविस्तार रूप से निवेदन किया गया है। तप: नामक रहस्य व्यापार को उपलक्ष्य बनाकर मूल तत्व का 'ऋतञ्च सत्यञ्च' रूप से 'अधिजात' होना ही है आदि व्यवहार (Primordial creative Activisation)। यदि हम इस तप: को Primordial Creativity कहते हैं, तब इसे पुरुषादि सूत्र तथा उपनिषदों में आदि व्यवहाररूप आदि यज्ञ भी कहा जा सकता है। व्यवहार तो मान-मेयता से ही होता है। जो अमित है (जैसे कोई आन्तरिक अव्यक्त वेदना अथवा भाव), वह भी सम्यक्-

रूपेण व्यवहारार्ह नहीं होता। जब वह भाव जितने अंश में ध्यान-गान-अथवा कविता में 'पकड़' में आता है, तब वह मित (Measured) होता है। यही है उसकी उतने ही अंश में व्यवहार्यता। इसके पश्चात् ज्योतिर्लीन, रसलीन स्थिति में व्यवहार्यता चली जाती है। अन्त में समस्त 'मान' समाप्त हो जाने पर है परमतूष्णीलीनता। अतः व्यवहार में 'मान' का हिसाब-किताब रखना पड़ता है। जब व्यवहार में आदिमरूप 'ऋतञ्च-सत्यञ्च' स्थिति में 'अधिजात' होता है, तब उसे धारा रूप (as Cosmic Flax) तथा ध्रुवरूप (As Cosmic Constant) युग्म आकृति द्वारा ही कार्यरत होना पड़ता है। धारा में अनुलोम-विलोम, आरोह-अवरोह है और ध्रुव में धृति (Interiorization) तथा स्तृति (Exteriorization) है। कहीं-कहीं यह विन्दुवत् होकर सब कुछ को स्वयं में समेट लेता है। और कभी-कभी उर्णनाभ के समान सब का वाह्यतः विस्तार करता है।

अच्छा, अधिजात का तात्पर्य क्या है ? किसी के अधिकार में और किसी के अधिकृत होकर जात होना। जिसके अधिकार में होता है, वह तो आदि वस्तु तथा आदित्य रूप यजनेच्छा (यियक्षा) है, और जो अधिकृत करता है, वह है संक्षेप में क्रियाकारक फल। क्रिया के साथ जो कर्तृकर्मादि ६ कारक रहते हैं, उन्हें पूर्ण-रूप से जान लेना होगा। इसके अभाव में विश्व की गति-स्थिति-धृति तथा स्तृति का जो मौलिक व्यवहार दृष्ट होता है, उसकी निष्पाद्यता (निष्पन्न होना) नहीं हो सकती। विश्व की समष्टि-व्यष्टि स्थिति में, अणु-महान् में जिसे गति-स्थिति रुप से देखा जाता है, यह उसकी निष्पाद्यताही है। क्रियाकारक निष्पाद्य फल है, साथ ही वह स्वयं ही क्रियाकारक रूप में फलान्तर का प्रसव करता है। इस प्रकार मे क्रिया-कारक फलचक्र नेमि निरन्तर घूर्णित रहती है।

इस चक्र को काटने के ही लिये तारचक्र, जपयज्ञ का समाश्रय लेना चाहिये। अच्छा ! कारक में प्रथम है कर्त्ता। यह कर्त्ता वस्तुतः कौन है ? जो मूल में है, वही 'वास्तव' में भी है। कर्त्ता है एकेश्वर। अतः यदि भजन करना है तो उसी एकेश्वर का ही भजन करो। यदि जपना है, तब इसी एक का ही नाम जपो। कर्त्ता अथवा कर्त्री का एक बीजनाम यहाँ कहा गया है। (यहां व्यवहार में याग सम्पन्न करने के लिये कहा गया है) कारक रूप यज्ञवितान में (यज्ञेन यज्ञं वितनुते) 'क' वर्ण आदि व्यंञ्जन रूप से कल्पित हुआ है। क्रियारूप अग्नि 'र' वर्ण के द्वारा कल्पित है। प्रतीत होता है कि वे ही मूल मालिक (कर्त्ता) स्वयं कल्पना करते हैं। वे स्वयं यज्ञ होकर यज्ञ का विस्तार करते हैं, अतः क्रिया में फल की ओर अभिमुखीनता है।

जो अभीद्धभाव फल प्रसव के लिये है, वही है 'ई' वर्ण। नाद होता है और विन्दु हविः है। इससे प्राप्त होता है क्रीं बीज। यह बीज अखिल विश्व व्यवहार (उस

अनादि तप: तथा ऋतञ्च-सत्यञ्च को सम्मुख रख कर) में अन्वय प्राप्त कर रहा है। इस अन्वय की भावना छन्दोरूप में करो (जैसे पहले किया गया है)। यद्यपि क्रीं बीज का भुवन यज्ञ (जप यज्ञ) रूप में वितान प्रदर्शित किया गया है, तथापि वस्तुत: मूल के 'मालिक अथवा मालिकानी' 'धरि माछ ना दुई पाणी' (यदि दोनों हाथों से मछली नहीं पकड़ते !) तब कहाँ यजमान रहता और कहाँ याजक रहता (अर्थात् द्वैत कहाँ रहता)। अथच देखो न—याग ही याग के लिये स्वयं याजित हो रहा है (यागो यागाय चेज्यते)। आदि यागरूपी क्रीं बीज ही कारक क्रिया फल है। यह होतृ हवि: तथा हवन अपने आप से ही उद्भावित करता है। इस उद्भव में होता अथवा याजक, किंवा यजमान वास्तविक कर्त्ता नहीं हैं। वह नियोग में, By delegation कर्म का कर्त्ता है। अत: क्रीं केवल मूल व्यापार का ही बीज नहीं है। मूल व्यापारी का भी बीज है। ल के साथ यही है क्लीं। पहले हमने दोनों आकृतियों में इस परमता बीज की विवेचना द्वारा उपलब्धि किया है। रसतत्व—शक्तितत्व, रास-भास इन दोनों दृष्टिकोणानुसार इस बीज में परमतत्व है।

४. तस्या अखण्ड-परमतत्वालयत्वम् ॥

तस्या:—उस माया का आलय अखण्ड परम तत्त्व ही है। आलय से क्या ज्ञात होता है ? जिस आधार में वृत्तिता (पाँच वृत्ति सूत्र के एक पाद में यह है) लम्ब अवधि रूप में है, वही आलय है। 'पिवत रसमालयम्' भागवत का आलय भी तुलनीय है। जो अखण्ड परमतत्त्व है, वह पाद के प्रथम सूत्र में विस्तार से आलोचित है। उसे कहा गया है परब्रह्म की भगवत्ता। यही महामाया है। माया ही अमेय अलक्ष्य परम को लक्षणादि-पादादि मान में पारीणादि धी वृत्तिता के वेदादि प्रमाण-प्रमेयत्व द्वारा व्यवहारयोग्य बनाती है। यह है वास्तव में महामाया की निज व्यवहार, स्वव्यवहाराता रूपी स्वावच्छेदकता (Self limitation)।

इसी अचिन्त्यावच्छेदकता के रूप हैं "तप:—काम" आदि। अवच्छेद के (स्वविशेषणीयता—Self Determination) अचिन्त्य, अनिरुक्त होने पर भी 'मान' तो है ही। अत: माया तो महामाया की अपेक्षा न्यून सत्तावाली (न्यूनसत्ताका) न्यूनशक्तिका, न्यूनव्याप्तिका एवं न्यूनव्यक्तिका है। वह महामाया के समान सत्तावाली नहीं है। यह न्यूनाधिक्य महामाया की माया में ही है। अन्यथा 'पूर्णमद: पूर्णमिदम्'। Being, Potency, Extension and Intention (अथवा Conotation), इस चार दृष्टिकोण द्वारा अखण्ड परमवस्तु ने एक न्यूनता मान लिया है। उनकी अपेक्षा न्यूनता स्वीकृत अथवा अंगीकृत होने पर भी निखिल विश्व व्यवहार में (ऋतञ्च-सत्यञ्च से प्रारंभ करके) माया के पार कौन रहता है अथवा कौन गया है ? कौन कहता है कि मैं लक्षणादि में नहीं हूँ ? मूलत: अथवा वस्तुत: कोई भी माया के 'मान' में नहीं है। किन्तु जब तक 'कोई भी' 'कोई' रूप है तब तक तो

माया के मान में है ही। जब निखिल विश्व में व्यापिका होने पर भी परम की तुलना में माया की न्यून व्याप्ति है, तब वह अखण्ड परम तत्व ही है माया की व्याप्ति के लय अथवा विलय की आधार भूमि (आलय)। अतः इस परमतत्व का समाश्रय किये बिना माया को पार नहीं किया जा सकता। उपाय, जपध्यान, मनन-विचार, भावभक्ति द्वारा चाहे जैसे भी हो, इस माया बीज को प्रत्यक् प्रवण करना ही होगा।

पुनश्च, यहाँ माया जिस भाव से लक्षित हो रही है, उस भाव में वह प्रमाण प्रमेयादि समस्त बौद्ध व्यवहार की मूल निर्वाहियित्री है। सत्य-मिथ्या के मूल में भी यही है। विश्व की विशेष प्रसज्यता में माया ही गुणमाया—भावमाया—भोगमाया प्रभृति रूपों द्वारा जीव के साधारण बन्ध व्यवहार का निर्वहण करती रहती हैं। इन्हीं को लेकर जो सम्प्रदायगत विचार-वितर्क चलता आ रहा है, उसकी वर्त्तमान प्रसंग में कोई प्रसज्यता नहीं है। तब भी कई तथ्य कारिका में कहे जा रहे हैं :—

सांसिद्धिकी न वै माया न च नैमित्तिकी पुनः।
नाकस्मिकी न वाह्यापि वैकल्पिकी च नान्तरा।
मान-मेयस्य योनित्वेऽमेया माया स्वयोनिवा ॥४१॥

माया को सांसिद्धिकी मत समझो (सांसिद्धिकी = जो सम्यक्रूपेण सर्वदा सिद्ध है)। उसे नैमित्तिकी (जो निमित्त की अपेक्षा द्वारा वृत्तिमती होती है) भी मत समझो। उसमें unconditionality और Conditionality दोनों ही नहीं है। यह तो निमित्त अथवा कन्डीशनैलिटी की बीज स्वयं ही है। यह आकस्मिकी (अचानक कुछ होना) भी नहीं है। यह वैकल्पिकी (जिसमें अन्य कुछ का विकल्प, रूपान्तर, नामान्तर इत्यादि, Alternationality) भी नहीं है। इसे वाह्य (बाहर से आई हुई, आगन्तुका, अध्यस्त, सुपर इम्पोज्ड) भी मत समझो। यह आन्तरा (अन्तर्निहिता, इनवाल्वड, इमेनेन्ट) भी नहीं है। माया के लिये Externality (वाह्यता) और Internality (आन्तरता), दोनों ही 'एह वाह्य' है।

इस स्थिति में माया को Alogical Logicality or unrooted Root of Logicality कहना होगा। Logic को मूल शब्द Logos के साथ मिला लेता हूँ। जो कुछ मानमेय है, उसकी योनि है माया। फिर भी यह स्वयं अमेय है। तब भी क्या इसका मान 'न्यूनसत्ताका' इत्यादि रूप से परमेश्वर की अपेक्षा न्यून है? सत्य! किन्तु कम अधिक का हिसाब कौन कर रहा है? क्या इस माया के अन्तर्गत कोई प्रमाता तो नहीं है? परम अथवा महामाया की ओर से प्रतिनिधि! वह कहते हैं "केवल मैं मैं ही नहीं, मैं ही माया हूँ। मैं मायारूप से स्वयं को न्यून करता हूँ"। मानो माया से कहते हैं "तुम मुझमें जन्म लो, मुझमें ही लय प्राप्त करो।" अतः परम की तुलना में माया की न्यूनतारूपी मेयता सही तरीके से पकड़ में आ गई!

योनिजत्व भी वही है । इस येन-केन का उत्तर कौन दे रहा है ? इसीलिये कारिका में माया को अमेया और अयोनिजा कहा गया है । यद्यपि माया सांसिद्धिकादि किसी भी आकृति से निरूपता नहीं होतीं (Catagory and Formula), तथापि एक सासिद्धिक तत्व के अतिरिक्त सबकी योनि हैं माया । उस परमता की कोई योनि नहीं है ।

जप के साधारण प्रयोजन में भी इन सब का प्रयोग करो । जो जप वृत्ति प्रारंभ में बाह्य तथा आकस्मिक लगती है, उसे आन्तर तथा वैकल्पिक रूप से प्राप्त करने का यत्न करो । इस प्रकार से कब प्राप्त करोगे ? जब यह उपलब्धि होगी कि 'यह सब हमारे अन्दर किसी के द्वारा भरा नहीं गया है । यह कुछ नहीं है । यह है अपना अपना कर्म' । अब बाह्य भी आन्तर हो जाता है । जपानुकूल वृत्ति अथवा भाव पहले पहल आकस्मिक सा प्रतीत होता है । यहां कब गंगा के ज्वार में उठेगा, इसका कोई भी 'ठीक-ठिकाना' नहीं है ! इसे नैमित्तिक तथा वैकल्पिक रूप से पाने के लिये साधन करना होगा । जप का संकल्प, इच्छा और आवश्यक-योगायोग एकत्र होनेपर जप स्वच्छन्द रूप में चलने लगा । वैकल्पिक जप न चलने पर भी जपानुकूल भाव तो चिन्तना, पाठ, कीर्त्तन सत्संगादि में चल रहा है । इस प्रकार से स्थूल अभ्यारोह में चलते-चलते वह ध्रुवधारा में जाकर प्रवहमान हो जाता है ।

यहाँ पर वैकल्पिक को 'संवादी' कर लेना चाहिये । इस प्रकार से वैकल्पिक होने पर (जप के सांकल्पिक न होने पर भी) भी जप अनुकल्पादि प्रकार-भेद से स्वयं को गतियुक्त रखने की चेष्टा करता रहता है । विक्षेप, कामक्रोधादि ताड़ना, दौर्मनस्य के द्वारा विसंवादी विकल्प होता है । यहां निमित्तरूपी आरंभक, उद्दीपकादि हेतु को अपने मन में तथा अपने बाह्य परिवेश में ले आना होगा । मान लो कि कभी किसी निर्दिष्ट समय में जपसंस्कार जाग्रत नहीं होना चाहता । वह आनाकानी करता है । कहता है कि अभी क्यों, कभी 'फुरसत' होनें पर इसे किया जायेगा ! ऐसी धारणा करता है, यह उचित नहीं है । निश्चित समय पर जपसंस्कार को प्रबल हो जाना चाहिये । ऐसा होने पर यह समझ लेना चाहिये कि अब जप मनमानी छोड़कर हेतु एवं निमित्त की हितकर बातों को मान रहा है ।

५. अपावृत्य प्रत्याकुरुते आविरिति वृत्तिः शुक्ला ॥

अपावरण द्वारा प्रति, अभिमुखीन रूप से आविः आकरण करती है । यह है शुक्ला वृत्ति ॥

जिस प्रकार से माया का वर्णन किया गया है, उसका किसी संकीर्ण अर्थ में तात्पर्यं ग्रहण करना उचित नहीं है । परमवस्तु स्वयं को सत्ताशक्ति, प्रकाश, आनन्द अथवा रस प्रभृति किसी भी प्रकार का 'मान' देकर 'माया' बन जाती है । वह मान प्राकृत एवं मायिक होने से ही माया है, ऐसी कोई 'शर्त्त' नहीं है । यदि महामाया

परमा प्रकृति 'परब्रह्ममहिषी' भगवतीरूपा हैं, उस स्थिति में वह परममान भी उनकी अपनी माया है। इससे उसकी परमता भी परममान रूपा हो जाती है। मानों उन्होंने इस रूप का वरण कर एक परम रहस्यमयी न्यूनता (सेल्फ लिमिटेशन, न्यूनता, न्यून होना इसका तात्पर्य नहीं है) को अपना लिया है। क्यों ? लीला के प्रयोजनार्थं।

परम पुरुष भगवान भी लीलामय होने के लिये ऐसा ही कुछ करते हैं। वे जिस द्विभुज मुरलीधर आदिरूप में लीला करते हैं, उसमें उनकी रसमाधुरी का परम घनीभाव है। किन्तु इस माधुरी का अन्त नहीं है, इयत्ता नहीं है, सनातन पुरातनता नहीं है। नित्य नव, नित्य अपूर्व, नित्य अस्फुरन्त ! उस माधुरी का आस्वादन करके कोई भी यह नहीं कहता कि यहाँ अब मेरी आशायें परितृप्त हो गईं, सब भरपूर है, यहीं अब शेष है ! अतः इस परममान को घेरकर उसकी नित्य नवायमान घनायमानतारूपी परम अमेय वस्तु तो है ही ? यदि तुम परम अमेय के इस परममान को अचिन्त्य स्वरूपशक्ति कहना अच्छा समझते हो तो वही समझो, तथापि इसे निज-माया-योगमाया, स्वरूपशक्ति की परम रहस्यमयी न्यूनता माने बिना कोई उपाय ही नहीं है ! अन्यथा 'परम भरपूर'। इस 'परम भरपूर' के रहने पर लीला कहाँ और लौल्य एवं आस्वादन कहाँ ? (अर्थात् परम भरपूर में लीला, लौल्य एवं आस्वादन नहीं है। रहस्यमयी न्यूनता के अभाव में आस्वादन ही नहीं रहता !)।

इसके पश्चात् मूला माया में दो मूलावृत्ति का उल्लेख किया गया है। केवलमात्र सृष्टि आदि व्यापारार्थं ही नहीं, प्रत्युत् जपादि साधन में भी इन दोनों मूलावृत्तियों का सविशेष उपयोग रहता है। प्रथम है 'प्रति' (टू वर्ड्स् लुकिंग आन, लुकिंग आउट आदि), द्वितीय है 'वि' (इनवर्ड्स् ड्राईंग इन, इनफोल्डिंग आदि)। पहला है अनुलोम, यह है विलोम ! एक है सीधा दूसरा है उलटा ! यह 'सीधा—उलटा' का 'कारोबार' ही मूला माया का कथानक है। अद्वैतविचारी इसे कहते हैं सत्ताविवर्त्त। रसिक इसका आस्वादन करते हुये कहते हैं रस विवर्त्त ! इस मूल-विवर्त्त के लिये कृष्ण ही गौर (गौरांग महाप्रभु) हुये हैं !

अब 'प्रति' तथा 'वि' के साथ आ+कृ (जिससे आकरण, आकृति आकार है) लगाओ। अब होता है प्रति+आकारण, वि+आकरण। जो पहले 'किस ओर' 'किस दिक् की ओर' बतलाने वाला संकेत (Symbol) था, उसने निर्वाह अथवा निर्वहण का रूप धारण किया। अब Symbol होता है Significant, और Form होता है Content। मानों पहले ने यह कहा "मैं ईक्षण करूँगा, स्वयं आविष्कृत आविर्भूत होऊँगा। "अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहम्" इत्यादि। यही प्रत्याकरण प्रवाह-रूप है। किन्तु 'प्रति' तथा 'वि' एक दूसरे को छोड़ कर नहीं रहते। जहाँ एक है, वहीं दूसरा भी है। अब यह प्रश्न उत्थित होता है कि किसके प्रति हाँ अथवा किसके

प्रति नहीं ? किसके लिये सीधा, किसके लिये उल्टा ? प्रतिमुख एवं विमुख। इष्ट प्रतिमुख, इष्ट विमुख ! 'वि' अथवा उल्टा के सम्बन्ध में भी यही प्रश्न ! यदि 'प्रति' को योग मानें तब 'वि' है वियोग ! एक है कनेक्ट करने वाला, दूसरा 'डिस-कनेक्ट' ! यदि 'वि' बाध है तब 'प्रति' साध है। एक है (Basic Affirmation, दूसरा है Basic Negation। यदि एक कहता है क=क, तब दूसरा कहेगा नहीं क=क नहीं ! दोनों मिलकर यह कहेंगे कि कोई कुछ क है, नहीं तो क नही भी है ! बुद्धि का मूल व्यवहार तो इन्ही सब स्वत:सिद्ध के आधार पर चलता रहता है। इन तीनों (अर्थात् 'प्रति' के, 'वि' के और प्रति+वि के) व्यवहार की अन्योन्यापेक्षा (Mutual Implication) है।

इसी कारण आविः सूत्र का प्रथम पद है अपावृत्या, अपावृत करना। जैसे कोई न कोई आवरण अथवा बाधा है, उसे हटाना (अप, श्रुति का मन्त्र है अपावृणु। अ प के दोनों अक्षरों की रहस्यव्यंजना है)। तब होता है पूर्वोक्त प्रत्याकरण। तुम्हारी जो इष्ट वैमुख्य रूपिणी बाधा है, उसे हटाकर तुम्हें इष्टप्रति आकृत-आकारित करना आवश्यक है। रसमार्ग में आकृत होता है 'आकृष्ट' होकर। ज्ञान में 'आजात्' तथा योग में 'आयत्त' होकर। नाम जप चल रहा है। नाद (वेणु, नूपुरादि मधुरस में अथवा अन्य प्रकार से) अभी भी श्रुतिगोचर नही है। कही न कही बाधा है। हो सकता है कि योग-वियोग उल्टा हो ! प्रथमतः 'अपावृणु' हटाना, उसे हटाना जिसके कारण यह वियोग-विच्छेद है। इस विधुरता बोध में प्रबोध देकर योग तथा मिलन को लाना मानो 'प्रत्याकुरुते' है ! दृष्टान्त तो प्रति पग-पग पर है। यहाँ इस प्रकार की जो अपावृत्या प्रत्याकुरुते रूपी मूलावृत्ति है (उसे यदि 'माया' कहने पर 'गुस्सा' होते हो, तब उसे 'दया' कहो) उसे कहते हैं आविः। यही है शुक्लावृत्ति ! इसका साधारण लक्षण यहाँ कह दिया गया। इसकी व्याप्ति है प्रारम्भ से शेष पर्यन्त।

एक बार उस प्रारम्भ तक जाओ। परम अव्यक्त वस्तु प्रारम्भ में अपनी परमाव्यक्तता को हटाते हुये स्वयं का स्वयं ही अविष्कार कर रही है ! अहम् भी नही है, इदम् भी नही है। गाढ़ निंद्रा से उठने के साथ-साथ प्रथम क्षण में यही अवस्था हमारी भी होती है। क्या नही होती ? इसका विवरण पहले दिया जा चुका है। यह मूल अनिर्वचनीय आविः अहम्-इदम् की "प्रति" होने को उद्यत हो रही हैं, अब 'प्रतिकुरुते' हो जाता है प्रतिकुर्वाण ! वाक् के क्षेत्र में परा से पश्यन्ति तक के आविर्भाव की यही स्थिति है। बीज से अंकुर, अंकुर से बीज ! 'प्रति' के साथ 'वि' तो है ही। प्रारम्भ में परम अव्यक्त और परम अमेय स्वयं को व्यक्त कर रहे हैं ! 'प्रति' जिससे होती है उसी के लिये 'वि' भी है। सुषुप्ति, बीज आदि के उदाहरण में भी यही है।

यह नही है कि 'प्रति' तथा 'वि' मात्र इस प्रकार से अन्योन्यापेक्षी ही हैं। वे केवल 'आसपास' ही नही रहते परन्तु साथ-साथ चलते हैं। इसी कारण सर्वत्र एक चक्राकृति (घूर्णन) स्थिति रहती है। कभी-कभी यह दोनों मूलावृत्ति एक दूसरे से संघर्ष न करते हुये कहती हैं, तुम कुछ रुको, मैं चलाती हूं''। इस स्थिति को कहने वाली (चलाने वाली) Dominant हो जाती हैं, दूसरी Recessive (क्षीण) हो जाती है।

इसके फलस्वरूप विश्व में क्रमान्वयित्व (Alterationality) है। एक बार एक चल रही है, दूसरी बार दूसरी चल रही है। इसी कारण स्थूल-सूक्ष्म, अन्तः-वाह्य, सब कुछ तरंगायित (वेवपैटर्न) है। यदि तरंग के उर्ध्वोत्थान विन्दु को (Apex को) 'प्रति' कहें, तब तरंग की उपत्यका (wave vally) है 'वि'। यह संकोच-प्रसार का रूप सर्वत्र है। इसे कास्मिक इलैस्टिसिटी कहते हैं। यहाँ strain है 'वि' और stress है 'प्रति'। सब कुछ एक आवृत्ति के रूप में (cyclicity) चल रहा है। इलेक्ट्रान, ग्रहनक्षत्रादि में सर्वत्र यही है। भीतर जागृति-सुषुप्ति, श्रान्ति-विश्रान्ति इत्यादि। संक्षेप में द्वन्द्वभाव (विवृत्त-प्रवृत्त) और वृत्त-प्रत्यावृत्त भाव विश्व में सर्वत्र है।

अतएव अध्यातम जीवन के जपादि-साधन में इन तीनों की विशेष अपेक्षा रखते हुये गतिशील होना चाहिये। जैसे-जप में सुषम रूप से जपाभ्यास चक्र चलाने वाली चक्रनेमि की विषमता को दूर करना होगा। Essentric cyclicity को उपलब्ध करना होगा Rhythmicity के रूप में। प्राकृत जगत्, तेजी-मन्दी, आधिक्य-न्यूनता, उठना-गिरना' आदि को विजित करने के लिये नादाश्रय लेना ही होगा। यही है अक्षाश्रय ! द्वितीय खण्ड के (क) परिशिष्ट को देखो। अक्ष का पुनः प्राण (नाद), भाव (प्रपत्ति), बोध (स्तितधी) तथा योग (शमदम आदि) रूप से आश्रय लेना ही होगा। अन्त में द्वन्द्व को उच्छिन्न करने के लिये द्विदलस्थ श्री गुरु-तत्व में समापत्ति प्राप्त करते हुये उनके द्वारा परम में समापत्ति प्राप्त करना आवश्यक है। आवि तथा रात्रि इस निखिल द्वन्द्व की चरम भूमिका हैं। जैसे सुषुप्ति कहती है "प्रथमतः मुझे आविः की भूमिका प्रदान करो, तब मैं जाग्रत होऊँगी।" जागृति कहती है" मुझे रात्रि की भूमिका प्रदान करो, तब मैं सुषुप्त हो सकती हूँ"। इन कथानक से अपने सोने-जागने के अनुभव को मिलाओ !

यह प्रणिधान करो कि आविः को शुक्लावृत्ति क्यों कहा गया। एक उदाहरण लो। मान लो एक गहरे काले वर्ण का कागज है। समस्त रंगों का ग्रसन करने पर वह काला है। यदि उस कागज को सब्ज, पीले किसी रंग में रंगना चाहो तब क्या करोगे ? अपावृत्य—उस काले रंग को हटाना होगा। उसे सादा करना होगा। काले में समस्त रंग ग्रस्त (Absorbed) हैं। श्वेत में समस्त वर्ण मुक्त हैं,

Reflected हैं। अतः काला रंग है 'वि', श्वेत है 'प्रति'। श्वेत पर चाहे जो रंग लगा दो!

अन्तःकरण के नामद्वय हैं चित्त एवं चेतः। ये दोनों हैं 'वि' तथा 'प्रति'। संस्कारादि ग्रस्त भाव है चित्त, मुक्त स्पन्दनमान भाव अथवा उस प्रकार का होने की प्रवणता (Proneness) है चेतः। किसी रंग को पकड़ने के लिये सर्वप्रथम चित्त को उसके ग्रस्तभाव से मुक्त करना होगा। उसे चेतः (Prone, Responsive, receptive, reactive) करना होगा। यही है आविरूप, 'अपावृत्य प्रत्याकुरुते''।

अब यह कारिका है :—

अनिरुक्तेनिदानेऽपि   यत्तपसोऽध्यजायत।
तस्य   यदादिसंमानं   मानातिगं तदिष्यते॥ ४२॥

सृष्टिसूक्त में बहुशः आलोचित 'तपसोऽध्यजायत' रूपी परमतत्व के राहस्यिक तपः और अधिजाततत्र (Absolute Being, Prone to evolue and manifest as a system of Relations) के मूल में आविः का आविष्कार करना होगा। यह एलाजिकल एब्सोल्यूट तथा सुप्रिम एलाजिकल में सन्धिरूपेण आविष्ट है। इसमें समस्त सम्बन्ध प्रभृति 'व्यक्तिमापन्न' हैं। फिर भी इसमें सादा कागज की तरह कोई भी रंग नहीं लगा है। इसने किंचित रूप से परमव्यक्तता को उन्मुक्त किया है, और समस्त रंगों के प्रतिफलनार्थ (प्रति + आकरण) मात्र मूल प्रस्तुतिरूप से (Fundamental Preparedness) स्वयं को प्रसरित ही किया है। यहाँ 'मात्र' का उपयोग किया गया है, इसका चिन्तन करो। जैसे व्यक्तिता के लिये उसने अपने गात्र में कोई भी रंग नहीं लगाया है—उसी प्रकार मेयता के सम्बन्ध में भी है। अर्थात् आदिम मान तथा परम अमेय का सेतु रूप है आविः। जो अमेय है, उसने मेयरूपता का वरण किया है मध्य में आविः को सेतुरुप स्थापित करते हुये। अतएव इसे पूर्णतः अमेय एवं मेय न कहकर मानतिग कहते हैं। इसका निदान (हेतु) –The reason why–अनिरुक्त है (बौद्ध व्यवहार द्वारा निर्वचन योग्य नहीं है), यह भी सत्य है।

आवि की उपलब्धि उसके स्वरूप के द्वारा तथा उसके व्यापार (कारोबार) के दृष्टिकोण द्वारा करने पर प्रथम (स्वरूप) को मुख्य वृत्तिता और द्वितीय को (व्यापार को) गुणवृत्तिता कहकर व्यवहार किया जाये, तो उचित होगा। यह कहने पर बीज यह कहता है "मैं अब और अधिक समय तक संकुचित अव्यक्त नहीं रह सकता, बड़ा होना चाहता हूँ।" अब यह उच्छूनता (Swelling from within) है उसको मुख्यवृत्तिता। इसके पश्चात् वह अपने त्वक् आदि आवरण को हटाना है, ताकि अंकुरित हो सके। यह है उसकी गुणवृत्तिता। बीज में अपना उच्छ्वास अथवा आवेग होने के पहले यदि उसके छिलके को हटा दें, उस स्थिति में

वह अंकुरित न होकर नष्ट हो जाता है। जपादि साधना में इसे स्मरण रहना होगा। वाह्य छिलका (रूप, स्पर्श आदि) अपने-आप हटने दो। जो रहस्यमयी हंसिनी नित्य स्वर्णयुक्त अण्डा देती है, उसके पेट को चीरना वृथा है। जैसे संख्या जप। इसे बल प्रयोग से नहीं छोड़ना चाहिये। वह स्वयं छूट जाता है जब एक मेरुसन्धि (क्रिटिकल फंक्शन की) प्राप्त हो जाती है।

यहाँ आविः अथवा आविस् शब्द के आदि में जो 'आ' है, वह मुख्य है। यह है परमबीज का अपना उच्छ्वास। यह सर्वत्र है 'मूल साध रूप'। यह क्या करता है? यह वि=बाधा रूप का (बीज का खोल, छिलका भग्न करते हुये) अपसारण करता है। क्या सम्पूर्णतः ? एक साथ शून्य (Nil) कर देता है ? नहीं, यह संभव नहीं है। क्योंकि परमाव्यक्त ने ही अव्यक्त रूपी (व) बाधरूपता को मानों ग्रहण किया है। अतः यह बाधरूपता भी अमेय और अपरिसीम है। 'आ' भी परम में वही है। किन्तु 'तपोमुखात्' ऋतञ्च-सत्यञ्च रूपता में तथा सृष्टि में उतरकर मानो "आ" अपने पारम्य की न्यूनता को भी नीचे ले आता रहता है। 'व' भी वही है। अतः आ=साध, व=बाध को आयत्त करता है। (अपावृत् इत्यादि)। यह पूर्णता, ध्रुवता में नहीं, प्रत्युत पादमात्रा, कला, काष्ठा (जैसे बीज से क्रमशः पादप का उद्-गम् होता है) में क्रमिक रूप से धारावाहिक रूप से अपावृत् करता है। अतः 'व' ही 'वि' है। यह है अमित बाधरूपता का विशेषण अथवा अवच्छेद।

अच्छा। 'व' रूपी मूल अव्यक्त भण्डार (unfounded primordial Potentiality) से कोई एक परिच्छेद (वि) 'आ' द्वारा वशीकृत हुआ। 'व' में कोई मुखीनता नहीं है, जैसी 'प्रति' में है। 'वि' में मुखीन हो रहा है। तब 'प्रति' एवं 'व' में प्रतिद्वन्द्व (पोलैरिटी) है। मानों कि बीज का बाहरी छिलका भग्न हो गया है। इससे क्या होता है ? जो बाधरूप तिरोहित हुआ, वह वस्तुतः लुप्त नहीं है। वह कार्यकारी शक्ति अथवा तेज रूप में विवर्त्तित (ट्रान्सफार्मड) हो गया है। आविः ने जड़, प्राण, मन इत्यादि मे इसी प्रकार से स्वयं को आविर्भूत किया है। यह तेजः अथवा अग्नि है 'र' वर्ण। प्रकारान्तर से 'स' वर्ण। आविः शब्द में पूर्वालोचित समस्त तथ्य सूक्ष्माकृति में विद्यमान रहते हैं। यह 'आविः' ही हममें आविरूप से आय। (म एधि)। रस-भाव में, योग-याग में, ज्ञान में इस आविः को आविरूप से किस प्रकार से मिलाना चाहिये, इसका विचार करो। अब निम्नोक्त कारिका की चिन्तना करो—

आविरिति च शब्दस्यादिमें या मुख्यवृत्तिता।
माध्यमस्याक्षराद्वतस्या गुणीभावो ररूपता ॥४३॥
अशेषा व्यापिकाव्यक्तिरावर्णेन प्रचोदिता।
वश्चाशेषं यदव्यक्तं वीति व्यक्त्यै विशेषणम् ॥४४॥

आदि में = आ। मध्य मे वि। रूपतः = र। इस प्रकार से गुणीभाव। आ = अशेषा व्यापिका शक्ति (मैनिफिस्टेशन) व = अशेष, अव्यक्त। वि = व्यक्ति के लिये, 'व' का विशेषण।

किसी एक (अव्यक्त की) की व्यक्तिमापन्न होने वाली धारा (एक्सपैण्डिग मैनिफिस्टेशन) चल रही है। यही है 'आ'। यहाँ जब बाधा (बाध) उपस्थित है, तब क्या करना होगा? कार्यतः उस बाधा अथवा बाध को अपसारित करके, उसे पुनः शक्तिधन बनाकर अपने शक्तिभण्डार में जमा करना होगा। आविः है 'तेजी' (जेनरेटिंग तथा गैदरिंग मोमेन्टम) अन्यथा वह है मन्दी! अनेक स्थल पर रेखाचित्र द्वारा इसे प्रदर्शित किया जा सकता है। साधन में यह 'आविः' रेखाचित्र द्वारा सविशेष रूप से अवहित होगी। जैसे डाक्टर का रोग का रेखाचित्र।

आविः मन्त्र के व्याहरण में आकरण को अपेक्षाकृत निर्बाध अनुभव करने पर 'आ' स्वर का लुप्त तथा मुख्य रूप से उच्चारण संगत है। बाध अथवा बाधा को स्पष्ट किंवा प्रबल (जैसे क्रोधादि रिपु) अनुभव करने पर 'विः' भाग पर जोर देना संगत है, किन्तु सत्वर रूप से 'आ' की शान्तवाहिता में लौट आना भी वांछनीय है। जैसे किसी रोग की चिकित्सा करते समय किसी विशेष उपसर्ग की स्थिति में उसे निर्बाध (Counteract) करने की व्यवस्था की जाती है, किन्तु रोगी को जहाँ तक हो सके प्रकृति (Nature) की निरामयी धारा में रखना ही उचित है।

अब रात्रिसूक्त। आविः की परमता भूमि में एकबारगी 'आसपास' की किसी परम रहस्यसन्धि में आदिम आविर्भाव हुआ है। आदिम व्यवहार की भूमि पर्यन्त हम इस आदिम रहस्य को ओतप्रोत तथा उदाहृत होते देखते हैं। रात्रि में रहस्य घटना गहनतरा है। वेद के नासदीयसूक्त मे 'गंम्भीरान्त' के लिये यह कहा गया है कि कौन ऐसी धी है, जो इसमें अवगाहन करके तल का सन्धान प्राप्त कर सकेगी? अथच जैसे आविः की स्थिति है, उसी प्रकार रात्रि भी सर्वभूमि में ओतप्रोत तथा अनुस्यूत है। रात्रि 'महारात्रि', 'मोहरात्रि' इत्यादि प्रकार से परम तत्व की (महा माया की) गहनतम स्थिति है। गहन इसलिये कहा गया है कि रात्रि ही परमतत्व की गहनता को समस्त भूमियों में अनुस्यूत तथा उदाहृत किये रहती है। सब कुछ में (एक क्षुद्ररेणु में भी) रात्रि एक अगाधनिगूढ़ता (unfathomed mystry and Inscrutability) रूप से विद्यमान रहती है। काष्ठा ग्रहण करने पर यही है शुद्धा तामसीतनु। यह त्रिगुणान्तर्गत वाला तमः नहीं है। इस परा तामसी को 'कृष्णा' कहा गया है। रस का, रस माधुरी का जो परम अगाध अनिर्वचनीय रूप है, उसे क्या कहोगे? कृष्ण? परमाश्चर्य नाम। सब भूमियों में गहनता, गंभीरता, निगूढ़ता, अव्याकृत अव्यक्तता रूप से जो विद्यमान है, अविनाभाव रूप से जो विद्यमान है, वही रात्रि है। वेदोक्त रात्रिसूक्त में यही कहा गया है।

परमतत्व एक ही साथ परमप्रकाश तथा परम अव्यक्त है। यदि परमप्रकाश रूप आविः को लेते हैं, तब वह आविः निर्व्यूढ़, निरन्तर निरपेक्ष आविः है। रात्रि इस परमप्रकाशभूमि की परमशून्यता है। अब परमतत्व को परम अव्यक्त रूप से देखो। अमेय, अलक्षण, अनिरुक्त इत्यादि 'नेतिकरण' में देखो। वह तो कुछ भी बोलने समझने नहीं देता। इस प्रकार वहाँ पर रात्रि निर्व्यूढ़ा-निरपेक्षा-निरन्तरा है। आविः के भाग्य में शून्य। तुम क्या बहिप्रज्ञ हो ? ना। अन्तप्रज्ञ हो ? ना। घनप्रज्ञ हो ? ना इत्यादि। शून्य के अनन्तर शून्य !

मानो उसी मूल से कोई उत्तर में 'हाँ' भी कह रहा है। मैं ही सब हूँ-सब होकर सब में पूर्ण हूँ। महायाया सूत्र में यह उत्तर स्पष्टतः सुना है। अतः नां तथा हाँ दोनों को मिलाकर एक निरुक्ति अथवा 'कैफियत' मिल जानी है। मानों दोनों की कोई 'सरासर'-न-स्यात्-स्थिति नहीं होने देना चाहता। इसी कारण परम की इस आविः और रात्रि को पारस्परिक सन्धि करना पड़ा। अर्थात् दोनों में अनन्योन्यापेक्षित्व आ गया। हमने 'प्रति' तथा 'वि' को विशेषरूप से देख लिया। व्यवहारतः सृष्टि के सब कुछ में यही एक आकृति है। हम कुछ समझना चाहते हैं, तथापि समझने का तो कोई अन्त भी नहीं है। बुद्धि एवं वाक् इस अबूझ के साथ एक लुकाछिपी खेल रहे हैं। यही है आविः रात्रि की लुकाछिपी। इसी 'यस्यामतं तस्य मतम्' विज्ञातमविजानतम्' से प्रारंभ करते हुये 'नाम-ना-जाना तृण कुसुम' अथवा "अभी भी तुम्हें नेत्रों से नहीं देखा केवल वंशी सुनता हूँ। सुना है कि उसका वर्ण काला है" इत्यादि तक सब कुछ में आविः एवं रात्रि का यह द्वन्द्व चल रहा है। रस के चरमोत्कर्ष विलास के लिए भी शरदोत्फुल्लमल्लिका रात्रि की आवश्यकता है। कैवल्य दायिनी श्यामा की साक्षात् पूजा के लिये भी महानिशा की अपेक्षा है। अंकुर को बीज की अपेक्षा है। नाद को विन्दु की। ऐसे दृष्टान्त सर्वत्र प्रत्यक्ष हो रहे हैं। जप साधना में केवलमात्र 'काल' के दृष्टिकोण से ही नहीं, प्रत्युत् तत्व के दृष्टिकोण से (As Principle) भी रात्रि की असामान्य आवश्यकता रहती है। बीजाश्रय = तत्वतः रात्रि का समाश्रय। दीक्षा में रात्रितत्व ही परम संभावना शक्तिरूपेण वृत्तिमान होता है। साधन-भजन में उसकी आविरूपता होती है।

नासदीय के 'गम्भीरान्त' का उदाहरण देते हुये 'तल' का उल्लेख किया गया है। 'तल' शब्द के 'त' द्वारा कोई तल अथवा भूमि का द्योतन होता है। यह केवल पारिभाषिक (Conventional) शब्द तल परिलक्षित होता है। केवल 'त' द्वारा स्तब्ध (static) तल परिलक्षित होता है। इसमें लगाओ रफला। स्तब्धता गई। अब static (स्तब्ध) ही Dynamic (गतियुक्त) है। किन्तु विज्ञान में Energy के समान इसका अभी भी कोई Scalar दिक् अथवा मूल नहीं मिला (undirected)। इसमें जोड़ो इ। अब तल अथवा भूमि किसी दिशा अथवा मुख की ओर

गतिशील है। क्रियाशील है। उपलब्ध हुआ त+र+इ=त्रि। सृष्टि की धारा ने त्रि को प्राप्त किया। त्रिदेवता, त्रिगुण प्रभृति इसी मूल 'त्रि' के ही दृष्टान्त हैं। प्रणव की त्रिमात्रा, त्रि महाव्याहृति।

अब यह धारणा करो कि 'रा' द्वारा परमा शक्ति (भगवत्ता) का असीम समवितान (unbounded Homogenous Expansion) द्योतित होता है। इस असीम वितान में शून्यता तथा आधिक्य (शक्ति-प्रकाश तथा रसादि का) अभी भी नहीं है। यह है "निर्दोषं समं ब्रह्म"। निर्दोष और सम ब्रह्म। अत: 'रा' के द्वारा ब्रह्म उपलक्षित है। इस बार इस 'रा' ने 'त्रि' को स्वीकार किया। अर्थात् जो असीम समता की भूमि अथवा तल है, उसमें स्तब्धता अथवा गति मुखीन कोई भी प्रसज्यता नहीं थी। उसमें वह प्रसज्यता नहीं थी। उसमें वह प्रसज्यता आई। परिणाम यह हुआ कि उसमें अब आवरण, गहनता, निगूढ़ता, अव्यक्तता इत्यादि का उन्मेष हुआ। जो केवल परिनिष्ठित (as fact) था, वह हुआ सम्भावना, सत्‌भूति। इसे अच्छी तरह समझो। इस प्रकार विन्दु नाद में, नाद विन्दु में और नाद विन्दु दोनों 'अ उ म' इत्यादि में गूढ़ हो जाते हैं। 'एको देव: सर्वभूतेषु गूढ़:'। यही है रा+त्रि। जो परम रसवस्तु हैं, वे योगमाया की सहायता से (अपने परमलीलायनार्थ) इस मूल रात्रि को अपरूप रीति से सजाकर अपनी सेवा में लेते हैं। इसका स्थान ज्ञान-योग आदि सर्व प्रकार के साधन में अविसंवादित है। जो सर्वदा एक भाव में स्थित रहते हैं, उन्हें गोपन करके (रात्रि) छिपाये रखती है। विश्व की समस्त मुद्रा (currency) का 'रिजर्व बैंक' है रात्रि। शिष्य के द्विदल में स्थित गुरुशक्ति 'रात्रि' से 'त्रि' को पृथक् करते हुये 'त्रि' में स्थित 'र' को खींच लेती है। अब 'त्रि' हो जाता है 'ति'। अत: शिष्य की जो रात्रि (गहन कर्म तथा गहनतर संस्कारों का संचित भण्डार जन्मजन्मान्तर का) है, वह अब गुरु कृपा से हो जाती है राति (रक्षा)। गुरु कहते हैं "सुनो। अब तुम इस र को 'त्रि' से योग करने के उपरान्त अलग मत रक्खो। इसे मेरे "रा को समर्पित करो" राम, तारा, राधा इन महानाम की भावना करो। इनका वर्णन फिर किया जायेगा।

पहले प्रसंगक्रम में रात्रि=र+अत्रि रूप से भी व्याख्यात हो चुकी है। वह भी ठीक ही हुआ है। रात्रि तो स्वयं ही गहनता की, निखिल रहस्य की खान है। रात्रि ही सब कुछ 'रहसि', को समस्त विद्या को गुह्या तथा उपनिषद् करती है। रात्रि न हो तो भावरस का मजा ही न मिले। जपबल, नादबल, ध्यानबल—सबका 'मजा' है रात्रि। रात्रिसूक्त में "व्यख्यदायती पुरुत्रा" इत्यादि द्वारा न जाने कितना 'बखान' किया गया है।

और एक बात ! रात्रि=तम अथवा तमस् नहीं है। चाँदनी रात में किस प्रकार की अपरूप माधुरी रहती है। रात्रिसूक्त में स्वयं कहा गया है "ज्योतिषा

बाधते तमः"। यह स्मरण रखना होगा कि 'रा' भी 'त्रि' आकृति को ग्रहण करने के उपरान्त कभी भी निःशेष नहीं होता। यद्यपि एक 'गुहा' अथवा 'व्यूह' जैसा अवश्य हो जाता है, तथापि उसके आधार एवं आश्रय रूप में 'रा' अवस्थित रहता है। (As (obtaining and Sustaining Plenum)। सब उसी में देखो। नाद अ उ इत्यादि रूप ग्रहण करता है, तथापि वह स्वयं तो है ही। 'त्रि' से होकर इस 'रा' में जाना ही होगा। तमस की क्या आकृति है ? कोई तल उसका अन्तिम स्पर्श पर्यन्त (म) अवश्य दे रहा है, किन्तु उसका अपना तल है प्रान्त में (At the end of the Plan)। जैसे हमारी साधारणी चेतना अथवा नार्मल कान्शसनेस अपनी अन्तिम सीमा, प्रान्त में आकर अपनी शक्ति को मानो छोड़ देती है (अस्) और कहती है Thus far and no farther।

नेत्र कहते हैं मैं और नहीं देखता, मन कहता है कि मैं अब और नहीं समझता, इत्यादि। यही है तम्स्। रात्रि ही तमस् अथवा तमसा को कार्य में नियुक्त करती है, परन्तु वह तमस् नहीं है। रात्रि तमसा को दो विपरीत कार्य में लगाती है। अन्य सब का तो आवरण है ही, इसके अतिरिक्त उसका अपना भी आवरण है। तमसा के द्वारा वह स्वय आवरण में आवृत्त हो जाती है। अन्त में यही आवरण 'योग' 'पूरण' अथवा वियोग हो जाता है। प्रथमतः आवरण यह नहीं जानता कि वह आवरण है (प्रकाशावरण है)। इसे मोहरात्रि कहा गया है। द्वितीय स्थल पर आवरण स्वयं ही स्वयं को जानता, प्रकाशित करता है। वह जानता है कि वह आवरण है (आवरण प्रकाश)। रात्रि का जो 'रा' है वह है उसका 'ज्योतिषा बाधते तमः'। प्रकाश एवं विमर्श, दोनों। यद्यपि विमर्श 'त्रि' प्रभृति आकृति में मर्शन करता है, तथापि प्रकाश तो दर्शक 'रा' रूप से अविनाभावेन स्थित है। जिसे आवरण कहा गया है, उसे पूर्णतः (+ −) 'निरोधिका' शक्ति में प्रविष्ट होने दो।

इस प्रकार निरोधिका के दोनों मुखों में दो विपरीत परिणाम प्रवणता घटित होती है। एक मुख है तमसा, दूसरा है वेदसा (जातवेदसे)। प्रकाश तथा चेतना तमसा के मुख के आवरण को और भी गाढ़तर करते रहते हैं। मनुष्य में आत्मावरण की संज्ञा तथा चेतना नहीं है, यह भी कहा जा सकता है। इस प्रकार यदि हम तमसा की एक काष्ठा को मानें, तब वह काष्ठा है महामाया। प्रकाश तथा चेतना की भी एक उर्ध्वमुखी गति अथवा वेग (झोंका) है। उसकी काष्ठा है महाविद्या। ये दोनों काष्ठायें जिस परा अथवा परम में मिलित, परिसमाप्त होतीं हैं, उसे कहते हैं, पराविद्या अथवा परमाविद्या। यह एक ही साथ आवरण का भी परिपूर्ण आवरण है और प्रकाश का भी परिपूर्ण प्रकाश है और महामाया अवम काष्ठा से लेकर महाविद्या (पराविद्या) रूपी परम काष्ठा पर्यन्त समस्त का प्रकाश है।

वहाँ गहनता का अतल तल भी दुरवगाह नहीं है। वहाँ प्रकाश की परमशुद्धता और उज्वलता भी कुंठित नहीं है। आवरण में भी यह उसके गंभीरतर अतल पर्यन्त अपने प्ररमप्रकाश में विराजमाना है। इसलिये यह है तमसा का महाघोररूप 'तामसी'। 'महामेघप्रभा घोरा'। काली तत्त्व के ध्यान में आवरण की परमता और प्रकाश की परमता, दोनों मिलित है (प्रथम खण्डोक्त कालिका — षोडशी का चिन्तन करो)। विशेषत: जो रसमाधुर्य की परम अनिर्वचनीयता और परम प्रकाश (नित्य तथा लीला, दोनों प्रकार से) है, वही है कृष्ण। कृष्ण ही मूल भगवत्ता का रूप है।

आवरण का भी आवरण तीन प्रकार का है :—

(१) आवरण को पूर्णत: शून्य करके,

(२) आवरण को एकान्तत: पूर्ण करके,

(३) आवरण को अवम तथा परम सीमापर्यंन्त सक्रिय रखकर, अर्थात् इस धारा में जहाँ आवरण कहे कि अब मैं हट रहा हूँ, वहाँ उसे दबाकर रखना, हटने न देना। हटने देने पर तो संसार का जो सार है (सृ है,) वही चला जाता है।

हमने पहले ही अवरोध-प्रतिरोधरूपेण निरोधिका को देख लिया है। जपादि साधन में निरोधिका केवलमात्र राधिका ही नहीं है, वह साधिका भी है। इस सम्बन्ध में विस्तृत रूप से आगे कहा जायेगा। तारचक्र प्रसंग में दिवा तथा नक्त का वर्णन है, और नक्त में शयन करना चाहिये, यह भी कहा जा चुका है। नक्तम—न +व्यक्तम्। इस प्रकार निरोधिका को आवरण और प्रकाशरूप से पहचानकर यह जानने का प्रयत्न करो कि 'रात्रि' वास्तव में क्या है?

६. आवृत्य प्रतिनिरुद्धे रात्रिरिति वृत्तिः कृष्णा॥

आवरण द्वारा जो कुछ सम्बन्ध का अथवा मुख (प्रति) का निरोध करती है (अमित सत्ता, शक्ति प्रभृति) वह रात्रि है, वह कृष्णा है॥

आवि: के ही समान रात्रि की प्रकाशता की हानि नहीं होती। (जैसे सुषुप्ति में भी सुषुप्ति का प्रकाश रहता है)। रात्रि का स्वसम्बन्ध में आवरण नहीं है। तभी सूत्र में 'प्रति' कहा गया। कृष्ण — जो वर्णरूपादि समस्त आवरण (अव्याकृत, Absorb) करती है, समस्त प्रतीति तथा युक्ति में अव्यक्त एवं 'अमत' रखती है। इत्यादि।

अब कारिका कही जाती है :—

अनुप्रतीति मैथुन्यं द्वन्द्वभागवृत्तिताश्रितम्।
व्यतिरेको निषेधश्च ह्याक्रमतेऽन्वयं विधिम्॥४५॥
सूते प्रतिप्रसूयेते प्रतिकुर्वीत कर्मणि।
रसेऽन्तरितमान--विप्रलम्भादि वैभवम्॥४६॥

किसी प्रतीति के पश्चात् उसकी स्मृति इत्यादि रूप से रात्रि अनुप्रतीति देती है (संस्कारादि को आवरित रखकर)। जहाँ 'मैं' 'वह' 'कर्त्ता' 'कर्म' इत्यादि किसी द्वन्द्व गर्भ से वृत्ति होती है, वहाँ उस द्वन्द्व (आसंग आदि) का मिथुनभाव रात्रि द्वारा घटित होता है। व्यतिरेकरूप से अन्वय को, निषेध रूप से विधि को रात्रि आक्रान्त करती है आक्रमण द्वारा ! किसी की व्याप्ति सर्वत: नहीं है, अव्याप्ति रहती है, इत्यादि रूप से इसे समझ लो। जप के अनुव्याहरण, अनुस्मरण से रात्रि का ध्यान करो। रात्रि का ध्यान करके यह चिन्तन करो कि जप में अन्वय व्यतिरेक प्रभृति कहाँ हैं, उनका मिलन संगीत कहाँ है? रात्रि की विशेष कारीगरी है 'मिथुनीभाव—मिलन' आदि। तत्पश्चात् कुछ प्रसृत अथवा प्रसव होता है (सूते)। यहाँ यह भी लक्षित होता है कि प्रसव का पुन: प्रतिप्रसव भी होता है। प्रसव का प्रतिप्रसव भी होता है। प्रसव-प्रतिप्रसव दोनों मिलकर कहाँ से आते हैं? रात्रि से आते हैं। कर्म तथा प्रतिकर्म के सम्बन्ध में भी ऐसा ही है (प्रतिकुर्वीत कर्मणि)

रस के आस्वाद तथा सम्भोग में रात्रि ही 'अन्तरिता' 'विप्रलम्भ', 'मान' इत्यादि चमत्कारी वैभव का सम्यक् रूपेण विस्तार करती है। दृष्टान्त स्थलों का वर्णन संक्षेपत: किया गया है। इनका सूक्ष्मत: चिन्तन करो। मानों साधना में यहीं रात्रिरूपा महामाया प्रसन्न होकर अनुकूल स्वारसिक अनुप्रत्ययादि प्रदान करती है। अत: उनकी परम भगवत्ता के प्रति शरणागत, प्रपन्न हो जाओ। जो सूक्ष्म, गाढ़, गहन, निबिड़, दुर्ज्ञेय, तथा दुसाध्य है, उसे साधे बिना कोई उपाय ही नहीं है।

जपसूत्र में महामाया 'आकर सूत्र' है और आवि: तथा रात्रि 'सन्धिसूत्र' हैं। अब तीन सूत्रों में आवि: एवं रात्रि रूपी अपावरणी तथा आवरणी मूल वृत्ति को द्यौ:, पृथ्वी, अन्तरिक्ष संज्ञक विशेष भाव से अन्वित किया गया है।

७. द्यौ: स्वाराविः शुक्लाऽनुलोमा चापूरणी ।।

पूर्वोक्त आवि: ही 'स्व' आकृति में (आकरण पूर्वक) शुक्ला, अनुलोमा, आपूरणी द्यौ: है ।।

सृष्टिसूक्त में 'ततोरात्रि:' द्वारा क्रम प्रदर्शन किया गया है। आदिम तप:-रूपेण जिस आवि: का आविर्भाव हुआ है, उसकी भी पृष्ठभूमि की परमाव्यक्तता में जो 'रात्रि' है, उसकी तो कोई भी नाम-निरुक्ति इत्यादि नहीं है। तब भी तप: से 'ऋतञ्च सत्यञ्च' का आविर्भाव हुआ, फिर पुन: रात्रि ! यह रात्रि सृष्टिक्रम तथा धारा में प्रवेश करने वाली 'सम्मता' रात्रि है। पूर्वसूत्र में इस रात्रि का ही सविशेष वर्णन है। इसमें भी परम का इंगित है। सृष्टिक्रम का उपसंहार (फाईनल समिंग अप) हुआ है 'पृथिवीश्चान्तरिक्षमथो स्वः'। इस उपसंहार में ही निखिल व्यवहार

संगृहीत हैं। हमने द्वितीय खण्ड के व्याहृतिसूत्र में भूरादि को मौलिक तथा व्यापक रूप से लक्षित किया है। उसे लक्षित किया है 'अयमिति प्रत्ययः' इत्यादि द्वारा। यहाँ द्यौः, पृथिवी तथा अन्तरिक्ष के रूप से उसे विशेषण प्रदान किया गया है। इन तीनों में शुक्ला तो आविः की आकृति (इस प्रकार से आकरण) है। अतः वह देवनशीला द्युतिमति (Radiant) है। सृष्टि का अनुलोम भाव ही द्यौः की प्रकृति है। अर्थात् द्यौः है, तभी सब कुछ सीधा (Direct) सीधा चलता है, (जैसे आलोक रश्मि)। द्यौः ही आपूरणी है। सृष्टि में सब कुछ में सत्ता शक्ति का आपूरण (Filling in and billing up) द्यौः के द्वारा ही होता है। Cosmic Reservoir of Mass Energy Mass का तात्पर्य केवल जड़ के अर्थ में (physically) नहीं लेना चाहिए। केवल पूरण ही नहीं आपूरण भी होता है द्यौः द्वारा। 'आ' स्वर में जो व्यापित्व है, उसे देखो। केवल आपूरण कहने पर प्रश्न उठेगा—कहाँ, किस अवयत्र में, किस भूमि, स्तर अथवा संस्था में पूरण ? द्यौः ऐसी सामग्री है जो सब कुछ के भीतर—बाहर, सर्वत्र भर देने वाली है। द्यौ गति की उस प्रथमाकृति को आश्वस्त (assure) करती है जिसमें यह निर्णय होता है कि 'मैं' सीधे चलूँगा, निरन्तर चलूँगा (Newton's Law of Mation ने जिसका एक रूप प्रदर्शित किया है)। इसे अनुलोमता अथवा आनुलोम्य कहते हैं। द्यौः इन सब को स्वीकृति देती हैं। कारिका :—

> प्रकाशस्य विकाशस्यावकाशसमातार्जवम्।
> लोकालोकौ विभर्त्ति द्यौः स्वधापूर्या महीयसा ॥
> (लोकालोकौ प्रधावेते ह्यापूर्यमाणतालयम्) ॥४७॥

द्यौः सब कुछ के प्रकाश-विकास के सम, ऋजु (उदार) अवकाश (स्कोप) का विधान करते हुये लोक एवं आलोक का भरण करती है। किस प्रकार से ? उसमें जो निखिला अव्यया पूरणी शक्ति न्यस्त है (स्वधा) उसके द्वारा सब कुछ को निरन्तर आपूरित (आपूर्य) करते हुये। लोक एवं आलोक उसके आपूर्यमाणतालय की ओर प्रधावित रहते हैं (Ever billing and reflecting Plenum of Eenrgy में) लोक = मूर्त्त आकृति (एस रेस्ट-इनर्जी) में आविर्भाव। आलोक = अमूर्त्त आकृति (एस रेडियेशन)। यहाँ केवल जड़ पदार्थ का प्रसंग नहीं कहा जा रहा है। सब कुछ को समान (इक्वल), ऋजु (फ्री एण्ड स्ट्रेट), उदार (अनबाउन्टेड) प्रकाश—विकास का सुयोग (अपारचुनिटी) प्रदत्त करके ही द्यौः निरस्त नहीं हो जाता। सब कुछ तो निरन्तर धावित—गतिशील है, 'हैरान' है। उस सबकुछ का 'हरण' भी होता जा रहा है। कौन निरन्तर इस 'हरण' के स्थान पर 'पूरण करेगा ? जो पूरण करेगा क्या उसकी आपूरणी शक्ति इतनी महायसी है ? एक ऐसा विश्वजनीन रिजर्व बैंक है जहाँ एक धूलिरेणु का भी अनलिमिटेड क्रेडिट है। इसके अभाव

में इस निरन्तर विश्वभंगुरता और निरन्तर वर्धिष्णु सर्वरिक्तता में केवल दिवालिया (बैंकरप्ट) होने के अतिरिक्त और कुछ भी 'आशा—भरोसा' नहीं रहता ! अतः ब्रह्म की भगवत्ता की इस चिरदेवनद्योतनामयी, समतार्जनादात्री, अनुलोमा, आपूरणी, महामहीयसी तनु के सम्मुख नित्य उर्ध्वमुख-उर्ध्वकर होकर प्रपन्न हो जाओ। जैसे सन्ध्यावान्दन के समय उर्ध्वमुख होते हो, उसी प्रकार !

"द्यौः शान्तिरन्तरीक्षं शान्तिः पृथिवीं शान्तिः' इस प्रणवपुटित शान्तिपाठ का व्याहरण तथा अनुस्मरण करो। जपादि साधन को शुक्लगति देने वाला, अनुलोम करने वाला, उर्ध्व धारा का आपूरण करने वाला है द्यौः। उर्ध्वधाम से अवतरण धारा में (डीसेन्ट फ्राम एबव) द्यौः ही मध्यम है। इस रहस्य शब्द की 'आकृति' की विवेचना आगे होगी। जैसे किसी भी बीजमंत्र का आदिम स्वर अथवा व्यञ्जन 'पृथिवी' है, उसी प्रकार शीर्ष नादविन्दु अथवा अर्धमात्रा है "द्यौः" और ई ऊ इत्यादि मध्यम स्वर ही 'अन्तरिक्ष' हैं।

जैसे आविः रात्रि की अपेक्षा करती है, उसी प्रकार द्यौः को भी पृथिवी की अपेक्षा रहती है। यहाँ पृथ्वी का तात्पर्य Earth नहीं है। यह द्यौः का एक द्वन्द्वात्मक (Polarity) रूप है। यहाँ द्वन्द्व का अर्थ विरोध (कन्ट्राडिक्शन) कदापि नहीं है। ये दोनों एक महासंगति के परस्परापेक्ष—अन्योन्यसाधक पक्ष (थीसिस—एन्टीथीसिस) हैं। द्यौः में आविः मुख्या है। पृथ्वी में रात्रिः मुख्या है। महासंगति अब परम संगति (सुप्रीम) हो जाती है। वेदोक्त मंत्र 'अदिति द्यौरदितिरन्तरिक्षम्' का यही तात्पर्य है।

अब पृथ्वी सूत्र का चिन्तन करो :—

८ पृथ्वी भू रात्रिः कृष्णा प्रतिलोमाऽहरणी ॥

पूर्वखण्ड में 'भूः' व्याहृति को 'अयमिति प्रत्यय प्रतियोगी' कहा गया है। द्यौः सर्वव्यापिका है, तथापि उसकी प्रतीति 'यह' रूप से होती है। पृथ्वी सर्व व्यापिका है, तथापि उसकी प्रतीति भी इसी प्रकार से होती है। यह है वास्तविक (कंक्रीट) गोचरता तथा व्यवहार्यता की भूमि। इस प्रकार (इस प्रकार के आविर्भाव के कारण) पृथ्वी रात्रितत्वमुख्या (पृथ्वी में रात्रितत्व मुख्य है) होने के कारण कृष्णा है। यह है प्रतिलोमा, आहरणी।

कारिका :—

निरुध्य च समाहृत्यावकाशं वक्रतान्वया।
अवव्यापूर्वकैर्लोपै : पृथ्वी बिभर्ति सर्वगा ॥४८॥

पहले जिस सम, ऋजु, उदार अवकाश का प्रसंग कहा गया है, उस अवकाश को निरुद्ध तथा समाहृत करके सबकुछ के अन्वय (प्रकाश —विकास प्रवणता) को वक्र (कर्व पैटर्न) करने पर भी उसका भरण पृथ्वी द्वारा ही होता है। उनकी जो

स्वच्छन्द अनुलोमता है, उसकी भी प्रतियोगिता करती है पृथ्वी (प्रतिलोमा)। किस प्रकार से ? अवलोप, आलोप तथा विलोप रूपी परिणामत्रय घटित कराकर। यह सब करने पर भी उन सब का भरण करती है। यह पृथ्वी सर्वत्र अनुस्यूता (सर्वगा) हैं। अन्तर्बहिः सर्वत्र इस पृथ्वी का सन्धान करके देखो। पृथु का अर्थ है विस्तीर्ण। इस अर्थ के अनुसार पृथ्वी भी द्यौः के समान विश्वजनीना, सार्वभौमा है। निरोध, समाहार आदि विश्वभुवन में, जड़-प्राण-मन आदि में कहाँ नहीं हैं ? वक्रता तथा वक्रभाव सर्वत्र हैं। किसी भी विज्ञान अथवा विद्या में पृथ्वी तत्व की उपेक्षा करते हुये एक पग भी अग्रसर नहीं हुआ जा सकता ! पृथु का अर्थ केवल गुरु, भारी, स्थूल ही नहीं हैं। सत्ता शक्ति की घनता, गाढ़ता, स्थौल्य, गोचरता (परसेप्टिबिलिटी) इसी मौलिक पार्थिवत्व के ही कारण है। अवलोप = दबा कर (कम्प्रेस) रखना। आलोप = अलग, वियुक्त रखना (स्क्रीनिंग एण्ड स्विचिंग आफ) विलोप = किसी को उसके अपने बीज में लीन कर देना। आंग्लभाषा के Contraction, Commutation, Concentration का व्यापक अर्थ है। कोई भी Physical अथवा अन्य Analysis इस पृथ्वी तत्व की उपेक्षा करके नही की जा सकती। इसके साथ निरोध तथा समाहार (काउन्टर एक्शन और कोआर्डिनेशन जैसे एक केन्द्रीण के चारों ओर इलेक्ट्रान आदि) तो है ही। इसकी पंचवृत्ति आ, अव, नि, वि, सम् उपसर्गों के द्वारा लक्षित होती है।

अच्छा ! द्यौः ज्योतिर्धाम की मुक्तिमयी ऋजुवाणी का वहन करता है। अतः उसमें तो प्रपन्न होना ही होगा। किन्तु इस पंच उपसर्गों के दारुण बन्धन को, इनकी वक्रवारता का जो वहन करता है उसे तो दूर ही रखना होगा। विश्व—भुवन तो इसे दूर रख ही नहीं सकता। यदि रखना चाहे तब विश्व भुवन ही नहीं रह सकता। तुम इसे कैसे दूर कर सकोगे ? तब क्या रात्रि की इस पृथ्वी का रूप एक अलंध्य अन्ध नियति है ? (Blind Brute Cosmic Distiny)। नहीं ऐसा नहीं है ! पृथ्वी में निरोध वक्रता अवलोपादि अवश्य है (यद्यपि यह है सृष्टि की रक्षा और परिणति के लिये) परन्तु पृथ्वी स्वभावतः निरुद्धा, वक्रा तथा अवलुप्तादि नहीं है। यदि ऐसा होता तब तो उसकी भी अपने इस तथा कथित स्वभाव से मुक्ति नहीं हो सकती थी। उसके भीतर जो कुछ है, वह भी मुक्त नहीं हो सकता था ! रात्रि तथा भूः' रूप जो क्रियादि व्यवहार है, उससे अतिगा तथा स्वाधीना है पृथ्वी तत्व। अतएव इस वक्र एवं बन्ध व्यवहार को काटने के लिये पृथ्वी को प्रसन्ना रूप में देखना और पाना होगा। तुममें अनादि जन्मों के न जाने कितने संस्कार, रिपु, भय इत्यादि हैं। अतः आवश्यकता है यम-नियम—प्रत्याहार-संयम-निरोध के अनुशीलन की। वह 'विषभरा बाण सीधा चला आ रहा है,' उसकी गति को घुमा देने पर ही रक्षा हो सकेगी !

जपादि आध्यात्मिक साधना में इन पाँचों उपसर्गों को गुरुकृपा से अपने उपकारक के रूप में पाना ही होगा। गम्भीर मनस्तत्व के दृष्टिकोणानुसार हमारा यह चित्त स्थूल है। मानों गोचरा पृथ्वी की मिट्टी से यह गढ़ा गया है। अब स्तर विन्यास के सम्बन्ध में विचार करना है। इसे भी पहले कहा जा चुका है। 'ॐ पृथिवी शान्तिः। ॐ पृथिवी में प्रसीदतु॥' तुम्हारी निरोधिका शक्ति द्वारा शम दमादि से लेकर निर्विकल्प पर्यन्त सिद्ध हो! प्रत्यावृत्ति (सड़क के मोड़ से वापस लौट आना, उलट देना) शक्ति से प्रत्याहार, समाहरणी शक्ति से संयम (धारणा-ध्यान-समाधि) सिद्ध हो! अवलुप्ति, आलुप्ति तथा विलुप्ति से छूटकर हमारा जप गाढ़-गाढ़तर होते हुये नादलीन हो! केवल जपध्यान भावभक्ति में गाढ़ता तथा निविड़ता ही भगवान की इस पृथ्वीरूपा समाहारिणी शक्ति के द्वारा संचरित नहीं होती, प्रत्युत इन सबका स्थिरत्व और स्थैर्य भी इसी शक्ति से प्राप्त होता है। स्थिरता, स्थैर्य विधान और रक्षण पृथ्वी की मुख्य वृत्ति है। कूर्मशक्ति रूपी आधार क्षितितत्व रूपा होकर सब कुछ के मूलाधार में है। द्यौः से योग का दोहन करो, पृथ्वी से क्षेम का दोहन करो। दोनों को मिलाकर (द्यावापृथ्वी) योग क्षेम! अजपा तथा प्राणायामादि से वायु में स्थिरता आती है। किसी मूर्त्तद्रव्य में भारकेन्द्र, केन्द्रीण (Nucleus) इत्यादि पृथ्वी जनित है। यह समस्त आवर्त्तना में अक्ष है।

रसाश्रित साधन में पृथिवी-रूपा व्रजभूमि में, गोष्ठ-गोवर्द्धन-निधुवनादिरूप से भूमा ने रसवस्तु को पूर्ण सान्द्र निबिड़ कर रक्खा है। यही है आसन की मूला आसनरूपा। पृथ्वी ही यज्ञ की वेदि है। "पृथ्वी त्वया घृता लोकाः"। श्री चण्डी में महीस्वरूपा महादेवी है। ये वस्तु को (वस् + उ) समस्त रूपों से धारण करती हैं, तभी वसुन्धरा अथवा वसुधा है। वसु = value। इसके अतिरिक्त उ = अस = उ, इस प्रकार से भी यह एक रहस्य शब्द है। पूजा के आवाहन का मन्त्र है 'इह तिष्ठ इह तिष्ठ। स्थां स्थीं स्थिरा भव'। यह स्थान स्थिति भी पृथ्वीतत्व है। पृथिवी में जो 'थि' है, यह पृथ्वी की मुख्यावृत्ति का द्योतक है। प = ओष्ठ्य, स्पर्श वर्ण। ऋ = जो आहरण में हृ है। पृ = प्रत्याहार अथवा प्रतिनिवृत्ति की वृत्ति (Let in, let out value)। व = ओष्ठ्य। (storage and safety value)। इसमें ई का (तालव्य) योग करने पर 'वी' = अभीद्धा समाहार वृत्ति। (अभीद्धात्तपसोऽध्यजायत' इत्यादि से अभीद्ध को समझो)।

मध्य में 'थि' में जो इकार है उससे निरोध आहरणी आकृति सविशेष रूप से व्यक्त हो जाती है। इ का लोप होने पर क्षेमंकरी धात्रीभाव है। गाभी, औषधि, वनस्पति—इन तीन रूप से पृथ्वीमाता की धात्रीमूर्त्ति विशेष रूप से परिस्फुट तथा अंकित होती है।

यद्यपि पृथ्वीतत्व में स्थूल और तामसभाव बलिष्ठ (as mass Inertia) है, तथापि वह पृथ्वीमाता का शुद्ध स्वरूप नहीं है। इसके प्रदर्शन के लिये सिंह वीर्य द्वारा मतंगरूपी इस जड़तमस जगद्धात्री रूप को धारण किया है। इन पृथ्वीमाता को मिट्टी में अपना मस्तक भूमावलुण्ठित करते हुये प्रसन्न करो।

अब जो भाव लक्षित हुआ, उसमें यह देखा गया कि द्यौः एवं पृथ्वी, दोनों ही शुद्ध तत्व है। १४ वें सूत्र में 'तत्त्वतोऽवस्थितिः शुद्धिः' कह कर शुद्धि का लक्षण प्रदर्शित किया गया है। उसकी आलोचना कारिका के साथ की जायेगी। 'तत्त्वतोऽ-स्थिति' की कतिपय निश्चला भूमि (ऐसाईनेबल प्लेन्स) है। अन्त में है समता तथा परमता। हमने वर्त्तमान प्रसंग में महामाया से लेकर माया, तत्पश्चात् आविः एवं रात्रि, तदनन्तर द्यौः एवं पृथ्वी का अवतरण (Logically Descend) कराया है। जो Alogical Absolute है, उसी की इस प्रकार की बौद्ध परिक्रमा (Logical Appreciation) है। तन्त्रोक्त षट्त्रिंशत् तत्वों की विवृत्ति में शुद्ध-अशुद्ध का भेद किया गया है। पूर्णतः अथवा उसे एक-दो कुछ भी नहीं कहा जा सकता! कहने-सुनने की छाया लगते ही वह 'अशुद्ध' हो जाता है। वर्त्तमान प्रसंग में शुद्ध उतनी दूर नही है। वे सब कुछ होकर, सब कुछ करने पर भी वहाँ भगवत्ता के स्वरूप में तथा स्वभाव में 'संस्थिता' (विष्णुमायेति संस्थिता) हैं ही। अतः जहाँ पर भगवत्ता के आविर्भाव रूप में प्रपन्न होना पड़ता है, उसे शुद्ध ही कहा जा सकता है। अर्थात् वहाँ अवलुप्ति, आलुप्ति, विलुप्ति के कारण व्यवहारतः स्वरूप स्वभाव का अनवस्थान नहीं होता। यही है शान्तिपाठ में 'अनिराकरणम्'। स्थिति के पंचरूप हैं, अव-स्थिति, संस्थिति, परिस्थिति, उपस्थिति और अनुपस्थिति। उपस्थिति तथा अनुप-स्थिति में व्यावहारतः अशुद्धि विस्पष्ट होती है। परिस्थिति में अशुद्धि का लेशमात्र ही रहता है। इस वर्णना को ध्यान में रखते हुये अन्तरिक्ष सूत्र का प्रणिधान करो।

९. द्वे द्वन्द्वान्तरिते भुवः सन्ध्ये शुद्धाशुद्धे॥

द्यौः तथा पृथ्वी स्वतः शुद्ध तत्व हैं। अन्तरित तथा व्यवहित होकर द्वन्द्वभाव आने पर 'भुवः' है॥ अब सन्धि तथा सन्धिरूपता आती हैं। अब शुद्ध तथा अशुद्ध संभावित होता है।

कारिका :—

सर्वं द्वन्द्वस्थितं येन व्यवधानेन व्यादितम्।
अन्तरिक्षं तदेव स्यादणुतनुपृथुतामितम्॥ ४९॥
सन्तानन्तमुदासीनञ्चेतरच्छून्यमन्यथा।
ह्रस्वदीर्घान्तरीक्षेण सन्धिः सितासितादिषु॥ ५०॥

(व्याप्यन्ते शुद्धतादयः॥)

द्वैत-द्वन्द्व रहते हैं, चाहे जैसे ही हो ! इस अवस्था में द्वन्द्वस्थित पदार्थ (जैसे क ख) जिस निमित्त से पारस्परिक सम्पर्क के व्यवधान के कारण व्यादित, व्याकृत, व्याहृत (Evolved, specially collected and exhibited) होते हैं, उस निमित्त को अन्तरिक्ष (इन्टरवेल प्रिंसपल) कहा जाता है। इस अन्तरिक्ष नामक पदार्थ को अणु (कारण), तनु (सूक्ष्म) तथा पृथु (स्थूल) रूपेण वृत्तिमत देखा जाता है। उदाहरणार्थं सुषुप्ति में स्वरूप के साथ हमारा आणव व्यवधान रहता है। जपकाल में वैखरी से मध्यमा का व्यवधान है तनु अथवा तानव। वाचिक उपांशु व्यवधान है पृथु (यहाँ पार्थिव शब्द का व्यवहार नहीं हुआ)। इसी प्रकार अन्य स्थलों पर चिन्तन करो। व्यवधान सम्बन्ध ह्रस्व-दीर्घ होता है। यहाँ शब्द में जो 'इ' है उसको लक्ष्य करो। अन्तरिक्ष में क्रियमाण (As function) अथवा चिकीर्षु (as Tendency) देखने पर यह प्रश्न उत्थित होता ? किस ओर ? सहः अथवा साहस (इन्टेन्सिटी) का प्रश्न उठता है "कैसे ?"। जैसे जप में बैठने पर वैखरी मध्यमा की सन्धि प्राप्त होती है। अर्थात् योजक अन्तरिक्ष मिला। इस स्थल पर किसी क्रियमाणता (Activisation) का बोध होने पर (जैसे जपजनित आविष्ठता) दोनों प्रश्न प्रकट होते हैं। किस ओर जा रहा हूँ ? पशुनिद्रा की ओर तो नहीं ? यह कैसे हुआ ? एक कुछ का स्पर्श मिला, एक ने छोड़ा, ऐसा नहीं हुआ क्या ?

किन्तु अन्तरिक्ष अथवा व्यवधान तो 'रिक्त' है, तब उस रिक्त का यह सब कृत्य ? अन्तरिक्ष अथवा अन्तरिक्षजन्य यह शून्य (खाली, void) नहीं है। यह है सान्त अथवा अनन्त, यह है उदासीन किंवा साक्षेप। अथवा शून्य किंवा गर्भित (with intrinsic Relations जैसे आईस्टीन वर्णित स्पेस)। इन तीनों विकल्पों में से अन्तरिक्ष का क्या स्वरूप है, यह चिन्तनीय है।

व्यवहारतः अन्तरिक्ष अथवा व्यवधान को सान्त, साक्षेप तथा सगर्भ (with intrinisic scheme or pattern) रूप से ही उपलब्ध किया जाता है। नाम-नामी, भजन-रति, जप-नाद, धारणा-ध्यान, कर्म-अनासक्ति, आयास-प्रपत्ति, श्रवण-साक्षात्कार, भक्ति-भाव इत्यादि में जो कार्यतः व्यवधान है, उसके अनन्त उदासीन होने पर क्या होता ? इसके शून्य और निर्गर्भ होने पर जप-भजन का व्यवहार कहाँ होता ? रसाश्रित साधना में भी व्यवधानादि को वियोग-विरह प्रभृति विभिन्न रस-के रूप में उपलब्ध किया जाता है। 'कलहान्तरिता' यहाँ तो अन्तरिता अन्तर्हित नहीं है ! निखिल विश्व व्यवहार में सान्त साक्षेप सगर्भ अन्तरिक्ष की एकान्तिक आवश्यकता है। जड़विज्ञान-गणित इत्यादि में भी ! सान्त-पाद-मात्रा-कला-कष्ठा रूप से परिमित तथा परिमेय (Masurable) है। सापेक्ष कहने पर यह शंका होती है कि यह अनुकूल है अथवा प्रतिकूल ? मान लो कि उर्ध्वतन अध्यात्मलोक (स्वः—

Higher Spritul Realm) की ओर अभिमुर्खीन तुम्हारी 'कारोबारी' चेतना का उन्मेष हो रहा है। मध्य में जो अन्तरिक्ष है (Hiatus है) उसके (higher openinig) द्वारा तुमने एक अद्भुत अन्तरिक्ष देश (Psychic or Parapsychic Realm) का किंचित् आभास (Glimpses) नादश्रवण, भावलकादिरूपेण प्राप्त किया। यह एक नूतन दिशा प्रदर्शक है ज्योति और रस का। किन्तु सावधान ! यह नूतन दिशाप्रदर्शक तो दिक् भ्रमित करने में भी उस्ताद है। यदि विभूति, सिद्धि आ गई तब ! विद्या की उपासना करने पर भी "तमः (अन्धं) भूयः प्रविशन्ति" ! तभी कहा गया है 'व्युत्थाने सिद्धयः समाधावन्तरायाः"। पथ मिला, अणु पन्था में ऋजु ही चलना होगा।

तत्पश्चात् अन्तरिक्ष की स्वगत (Intriusic) आकृति भी किसी भी द्वन्द्व-स्थित वस्तु सम्बन्ध में विद्यमान रहती है। प्रकृतरूप से यही 'क' 'ख' के सम्पर्क की निरूपिका तथा नियामिका है, जो यह निश्चित करती है व्यवहार विनिमय का निर्णय इनकी व्यवधाननिष्ठ आकृति के द्वारा ही होता है। जैसे पृथ्वी और सूर्य का वर्त्तमान व्यवधान। व्यवधान की जो आकृति (स्कीम) है, उसमें कोई अदृष्ट संस्कार आदि तथा कोई संस्था (पोजीशन) अवश्य है। इसी व्यवधानगत आकृति पर यह निर्भर करता है कि उक्त संस्कार कौन से कर्म को किस प्रकार से प्रभावित करेगा अथवा नहीं करेगा। यह अवचेतना के गतिविज्ञान का, प्रापण विज्ञान का एक प्रश्न है। अन्तरिक्ष अथवा व्यवधान इस परिस्थिति (Contex) में मुख्यतः सन्धि, सेतु और मेरुरूपी आकृति को ग्रहण करता है। इनके सम्बन्ध में पहले विवेचना हो चुकी है।

व्यवहार में इसके सान्त आदि रूप के अतिरिक्त अनन्त, उदासीन तथा शून्य (निर्गर्भ, निर्बीज) अन्तरिक्ष की भी सत्ता है। ज्ञानबल, योगबल, रसबल रूपी साधना की परिसीमा तथा निरतिशय सिद्धि के लिये इन तीनों शुद्धस्तरों को उपलब्ध करना ही होगा। अनन्त व्यवधान से मिथ्याप्रपञ्च, व्युत्थान, विशुद्ध-चिन्मय रस से विमुखीनता को हटाकर शून्य हो जाना चाहिये। कहाँ, कैसे, इसका प्रणिधान करो। सांख्योक्त पुरुष तो उदासीन है, किन्तु मोक्षार्थ प्रकृति-पुरुष के मध्य के व्यवधान का भी शून्य होना आवश्यक है। अन्योन्य "छायापत्ति" संभव नहीं है। 'इत्यादि' !

अतः अन्तरिक्ष तत्व स्वतः अशुद्ध नहीं है। यदि यह स्वतः अशुद्ध रहता, उस स्थिति में अशुद्धि से होते हुये क्रमशः अनुशुद्धि-विशुद्धि-परिशुद्धि तथा संशुद्धि हो सकना संभव ही नहीं था। यह देव अथवा देवता नहीं हो सकता था। देवतारूप से अन्तरिक्ष ही सितासित (शुक्ल-कृष्ण) आदि निखिल द्वन्द्व भाव का सेतु-सन्धि बन जाता है। फलतः शुद्धि तथा अशुद्धि को एक व्यवस्थित क्रमान्वयित्व (डिटरमिनेट ग्रेडनेस) प्राप्त हो जाता है। इसी देवता के लिये सन्धि आराधना (संधि को

पकड़ना), सन्ध्या उपासना (जिससे शोधन कर्म होता है) का विधान है। द्यौः तथा पृथ्वी माता तथा दुहिता हैं। दोनों हैं गौ—कामदुधा ! अन्तरिक्ष है सन्ध्यादि रूप से दोग्धा। प्रथमतः शुद्धि का दोग्धा ! हृदय-नाभि में युक्त होकर इस शुद्धि के दोग्धा की वन्दना करो। स्वयं पृथ्वी भी दुहितृ रूपेण इसी दोग्धा के द्वारा द्यौः का निरन्तर दोहन करती रहती है। वह व्यक्ताव्यक्त रूप से आलोक, ताप, तड़ित, वारि, प्राण-चेतना का दोहन करती रहती है।

१०. साम्यञ्च तयोरनन्तरितशुद्धिसाम्ये ।।

ये दो द्वन्दरूप से अवस्थित (व्यवहित) हैं। उनमें अनन्तरित (अव्यवहित) शुद्धि की समता है। इस समता के होने पर इन दोनों का साम्य तथा समता होती है ।।

अन्तरीक्षेण पार्थक्यमिदं ज्योतिरिदं तमः।
अनवच्छिन्नमेतेन शुद्धौ च समतामियात् ।।५१।।
द्वन्द्वानामपि सर्वेषां तद्वृत्तिभेदजन्यता।
तद्वृत्तिहीनताकाष्ठा साम्यं या परमास्थिति ।।५२।।

किन्हीं दो पदार्थों (कथ) के मध्य में जो अन्तरिक्ष है, उसके ही द्वारा 'यह आलोक है', 'यह अन्धकार है' इस प्रकार का पार्थक्य (शुद्धि-अशुद्धिरूपता) विदित होता है। अर्थात् यही मध्य ही बोल देता है 'तुम आलोक हो, यह अन्धकार है'। और भी कहता है "यह देखो, दोनों के मध्य क्रम (Gradation) है, यहाँ सन्धि है, सेतु, मेरु इत्यादि। यदि इस व्यवधान द्वारा यह सब अवच्छिन्न न हो (विशेषित) उस स्थिति में दोनों में समता तथा स्थिति आ जाना स्वाभाविक है। जड़-प्राण-अन्तःकरण, सर्वत्र द्वन्द्व परिलक्षित होता है (Polarity Contrariety)। उनमें घटकरूपेण व्यवधानवृत्ति भेद विद्यमान सा रहता है। अर्थात् व्यवधान कार्यतः किस 'आकृति द्वारा वृत्तिमान होगा, Interval Function तत्तद् क्षेत्र में कौन सा आकार (Equation) लेकर कार्य करेगा, यह वहीं निर्णीत होता है। अणु-विराट, सब की परीक्षा करो। उक्त व्यवधानवृत्ति की शून्यता की जो काष्ठा (Limit of Evanescence) है, वही है साम्य। इसकी पूर्ण निर्दोष स्थिति में परमता तथा परिनिष्ठित परमता का द्योतन होने लगता है।

केवल अद्वैतमनन में त्वं पदार्थ को तत्पदार्थ क्यों कहते हो, समस्त द्वैतद्वन्द्व की समता के लिये त्वं तथा तत् दोनों को ही शुद्धि की समता में स्थापित करना होगा। इसके अभाव में दोनों का सापेक्ष (कन्डीशनल) समीकरण (इक्वेशन) तो हो जाता है, परन्तु निर्व्यूढ़ समता (आईडेन्टिटी) प्राप्त नहीं होती।

एकपक्षीय, एकदेशीय शोधन द्वारा यथार्थ समता नहीं हो सकती। साधन तथा उसके लक्ष्य (एफर्ट तथा एन्ड) इन दोनों को शोधन सीमा में मिलाना होगा।

उपाय-उपेय Means-End के सम्बन्ध में भी यही है। प्रकृति तथा माया की पूर्ण उपेक्षा करके भी कैवल्यादि प्राप्त नहीं हो सकता। अतः पुरुष को 'ध्रुवघूंटी' करके रक्खो, साथ ही प्रकृति की 'ध्रुवघूंटी' लेकर उससे परम कौशल से खेलकर उसे भी "ध्रुवघूंटी" कर लेना होगा ! अर्थात् प्रकृति कहेगी 'अब मैं किसी से भी कुछ से भी क्रीड़ा नहीं कर सकूंगी।" इसे निषेधीध्रुव अथवा नेतिध्रुव भी कह सकते हो। इस समय यह प्रश्न उदित होता है कि क्या दो अभी दो है ? तब क्या अभी भी परम-ध्रुव नहीं मिला ! मैं जीव हूँ तुम भगवान ? मैं उतना नहीं जानता। और तुम ? एक महा प्रेतछाया, महात्रास, महेश्वर्य अथवा और कुछ ? मेरे बोध और भाव (फीलिंग ऐटीच्यूड) का परिचय तुम्हे मिलना ही चाहिये, अन्यथा तुम्हारे साथ सम्बन्ध कैसे स्थापित होगा ? अतः इस वास्तविक सम्बन्ध की स्थापना के लिये भी हमारे और तुम्हारे बीच शुद्धिसाम्य होना आवश्यक है। जप में जो अभ्यारोहविशेष है समावृत्ति है, वह भी वस्तुतः शुद्धिसमता स्थापनार्थ ही है। जिस भूमि में शुद्धि की समता निरतिशय और पूर्णतः निर्दोष है, वही भूमि पूर्णता-परमता की भूमि है।

जैसे नाम तथा नामी ! इनमें अभेद की बात सौ बार सुनाने पर भी अभेद बोध ऐसे ही नहीं आया ! निरपराध होकर नाम का व्याहरण-कीर्त्तन अनुस्मरण-अनुध्यान करते-करते उसे परा पर्यन्त ले जाओ। साथ ही नामी को नाम से बाह्य समझने की विकल्पना का शोधन करते हुये एक बार नाम के 'परम' में उसे 'फसने' दो। जब तक नाम कहता है 'तावकीन' मैं तुम्हारा, तब तक नामी तो अस्ति है, परन्तु तब भी वह कुछ 'दूर' ही है। यह है भेदाभेद ! किन्तु जब नाम कहता है 'मामकीन' तुम हमारे, तब नाम नामी में अभेद है। कुरु सभा में द्रौपदी के चीर-हरण का उदाहरण। द्रौपदी एक हाथ से नीवीबन्धन को बचाते हुये, दूसरी हाथ उठाये "बैकुण्ठनाथ—द्वारकानाथ मैं तुम्हारी दासी हूँ" कहकर पुकार रही है। किन्तु अभी भी नाम-नामी की दूरी नहीं मिट रही है। जब पुकारती है "मेरे सखा-प्राणनाथ !" तब क्या हुआ, बोलो ! साधन भजन में, उपाय-उपेय-उपेत, इन तीनों में शुद्धिसाम्य लाने का यत्न करो। यह जान लो कि अपने यत्न में कार्पण्य न करके स्वयं को कृपा की पावनी धारा में छोड़ देना होगा, तभी यह शुद्धि समता सम्यक् रूपेण सम्पन्न हो सकेगी। क्योंकि व्यवधानगत विपुलता, गंभीरता-जटिलता आदि का निमेष मात्र में निराकरण करने में समर्था है कृपा। 'पंगुं लंघयते गिरिम्' इत्यादि। यदि तुम उस परमानन्द की कृपाधारा अपनी भजन धारा में मिलाना चाहते हो तब मन को उसके आश्रय में स्थिर करो।

यह होने पर भी शुद्धि समता साधन में एक अभ्यारोही क्रम का आश्रय लेना होगा। इसके लिये यह सूत्र है

११. द्वंधेन धारावाहिता त्वन्यथा ॥

किन्तु अन्यथा स्थल पर (तु अन्यथा) द्विधारूपेण धारावाहिता होती है ॥

शुक्ला च भामती धारा कृष्णाऽपरा च तामसी ।
शुद्धे शुद्धेऽन्तरीक्षे ते शुद्धा द्विधैतयोर्गतिः ।.५३॥

जो धारा अथवा धारावाहिता होने में आदि शुद्धरूपा है उसे अग्रे कहा गया है। एक शुक्ला भामती (ज्योतिष्मती) धारा है, अपरा है कृष्णा तामसी। इन दोनों मे द्वन्द्वभाव है। याद यह शुद्ध अन्तरिक्ष के सहकृत रू। मे है, तब ये दोनो धारायें ही शुद्ध हैं। इनकी (एतयोः) जो द्विधा गति (शुक्लकृष्णे गतिह्येते) है, वह भी शुद्धा है। अन्तरिक्ष शुद्ध होना अर्थात् अनन्त, उदासीन (निरपेक्ष) होना और शून्य (निर्बीज) होना। अन्तरिक्ष का यह अनन्तत्वादि मान इस भूमि में आकर परम की भूमि में जाता है। अतः वहां अनन्त इत्यादि का रूप और ही कुछ है। यहां शुक्ला तथा कृष्णा को शुद्धा कहा गया। यहां उनमें अब व्यवधान (अस्तवद्) नहीं है, ऐसी बात नहीं। व्यवधान यदि एक रेखामान भी है, उसे भी निरपेक्ष तथा निर्बीज करना होगा। अर्थात् यदि रेखा कहती है, कि मैं शुक्ला के पास जाऊँ अथवा कृष्णा के पास, तब तो द्विधा रह ही गयी। ऐसे नहीं चलेगा। शुद्ध रूप से शुक्ला को अहः तथा कृष्णा को क्षपा रूपेण प्रसन्न करो। आगे अविःसूत्र मे तथा रात्रिसूत्र में शुक्ला तथा कृष्णा शब्द व्यवहृत हुये हैं। वे यहां शुद्धरूप ही हैं। अमेय भगवत्ता 'मान' में अवतरण करने पर शुक्ला तथा कृष्णा रूपी मौलिक शुद्धावृत्ति एवं शुद्धा धारारूपता ग्रहण करती हैं। अतः वह इन दो रूपों में ही भजनीय तत्त्व है। तामसी का अर्थ आसुरी नहीं है। Black, Dark प्रभृति कहने से जैसे Devil की गंध मिलती है, वैसा तो इसमें नहीं ही है।

शुद्धा शुक्ला अथवा शुद्धा कृष्णा, ये दोनों ही असुर विद्धा अथवा पाप्माविद्धा पदार्थ नहीं है। इन दोनों को शुद्धि की पराकष्ठा पर ले जाने पर शुक्ला=उमा हैमवती·गौरी हैं और कृष्णा=श्यामा माँ। गौर=कृष्ण, कृष्ण=गौर। गौरी=श्यामा– गौरी! शुक्ल–प्रकाश (विना आवरण), कृष्ण=गोपन प्रकाश (आवरित)। इसी प्रकार से व्यक्त अव्यक्त के द्वारा इस अभेद समीकरण द्वय की भावना करो। वे श्यामा रूप से सब कुछ को आवरित करती हैं, गौरी-त्रिपुरादि रूप से समस्त ऐश्वर्यमाधुरी का प्रकाशन करती हैं। गौढ़ीय वैष्णव सिद्धान्त में राधाभाव का जो अपूर्व चमत्कारित्व है, वह मानों कृष्ण में गोपन है। इसी गोपन का साक्षात् आस्वादन करने के लिये कृष्ण ही गौराङ्ग हैं। अन्तरिक्ष अथवा व्यवधान को पूर्वोक्त अनन्तवत्व के अर्थ में न लेकर यदि अनन्त असीम के रूप में लिया जाये, तब शुक्ला को '+oc' और कृष्णा को '—oc' कहने पर दोनों प्रकार का आनन्त्य मिलकर एक हो जाता है। उदासीन=द्वन्द्वातीत भी यही है। शून्य मानने पर भी यही है।

वर्तमान में व्यवहार में उतरने पर भी वृत्ति तथा धारा रूप से इन पदार्थद्वय (Real Concept) का जो शुद्धिभाव है, उसका लक्षण वर्णन कारिका में किया गया है। यहाँ पदार्थद्वय के अमिलन से द्वन्द्वभाव (एज पोलेराईज्ड) न मिलने की स्थिति में इन्हें आस-पास में धाराद्वय के रूप में उपलब्ध किया (पैरलरिज्म)। इस स्थिति में दोनों व्यवहार में मुक्त तथा आसपास हैं, किन्तु पराकाष्ठा में (अनन्त में) दोनों मिलकर अभिन्न हैं।

साधना में इन दोनों के इस शुद्ध तथा मुक्त आसपास भाव (रूप) को मिलाना पड़ता है। इसीलिए शुद्धाशुक्ला तथा शुद्धाकृष्णा भजनीय हैं। दोनों को साधकर कहना होगा "तुम दोनों वृत्ति तथा धारा रूप से मेरे साधन में शुद्ध होकर आओ"। जैसे यदि सुषुप्ति कृष्णा का शुद्धरूप है तब कहो "तुम ब्रह्मस्वरूप अभिसम्पन्न रूप से आओ। भग्न, विद्ध तथा संकीर्ण रूप में मत आओ !" भाव से भी यही कहना होगा। जैसे दिन के आलोक से कहा जाता है "तुम सब पर प्रकाश करो, कुछ भी आवरित मत रक्खो" इसी प्रकार रात्रि के अन्धकार से कहा जाता है "अपने अतल कृष्णवर्ण स्नेह के तल में डुबाकर हमें स्निग्ध करो"। इत्यादि। एक ओर परिपूर्ण प्रकाश प्रवणता अकुण्ठ-अकृपण हो जाये। दूसरी ओर परिपूर्ण मौन-विश्रान्ति और भाव गम्भीर तन्मयता निश्चिन्तनिबिड़ हो ! पहले में कुण्ठा दूसरे में चिन्ता का संचार होने पर कोई भी स्थिति शुद्ध नहीं रहती। सामान्यतः एक को प्रकाशधारा दूसरे को भाव की धारा कह सकते हैं। भाव का अपना स्वभाव हुआ "चुप" ! वह कुछ बोल नही सकता, बोलता नहीं। उसे कुछ कहने के लिए उद्यत करने पर वह तिरोहित हो जाता है। इसीलिये ज्ञानमिश्रिता भक्ति उत्तमा नहीं है। पक्षान्तर से प्रकाश से कहो कि वह वस्तु को जितना ही 'खोल दे' उतना ही अच्छा। एक फूल है। वह कवि की भावदृष्टि में एक तरह का है, विज्ञान की अणुवीक्षणी दृष्टि में अन्य प्रकार है। दोनों को शुद्ध करके पाना ही उचित है। दोनों—शुक्ला-कृष्णा।

जप चल रहा है। जपाक्षर का सम्यक् व्याहरण पूर्ण एवं शुद्धरूप से चले। इस प्रकार की धारा है शुक्ला। इसमें अप्रकाश और अस्फुटरूपता न मिलने देना ही उचित है। जप अर्धमात्रा में स्फुटरूपता त्यागकर लीनरूपता को प्राप्त होता है तब उसमें निश्चिन्त स्थित तथा चालित हो जाओ। इसमें 'कूद' कर जपाक्षर और उसके स्फुटरूप को पुनः स्फुटित करना उचित नहीं है। दोनों को शुद्ध रख सकने पर श्रेयः तथा चरितार्थता होती है। जप के अस्त हो जाने पर जब व्युत्थान व्यवहार उदय होता है, तब (सम्भव होने पर) जपधारा को अविच्छेद रूप से फल्गुधारा रूप से (गुप्तधारारूप से) प्रवाहित रखना होगा। गोपन रूप से रस भूमि में जप चल रहा है, वह भंग नहीं हुआ है। वह तो और भी गाढ़ तथा सरस होता जा रहा

है। और बाह्य जगत् का पढ़ना-लिखना तथा अन्य व्यवहार भी अत्यन्त सजाग स्थिति में, निपुणता से होता जा रहा है। यहाँ पर बाहर है निविष्टतारूपी कृष्णा। पहले यह शुद्धिरूप सहज नहीं हो जाता। इसके लिये शुक्ला-कृष्णा दोनों को ही प्रसन्न करना पड़ा है। इनका दृष्टान्त अनेक स्थलों पर मिल सकता है।

यह शुद्धि साधन की निधि है। पहले जिस द्विदल का वर्णन किया गया है, उसमें ये दोनों (शुद्धभाव तथा शुद्ध प्रकाश) उपाय कहे जा चुके हैं। जो कुछ भी मिश्रित-विमिश्रित है, उन्हे अविमिश्र करने का परम कौशल है यह द्विदल। वह परम कौशल कुशली होता है अपनी कृपा से और कुशल होता है तुम्हारी प्रपत्ति से।

इस बार शुद्ध से मिश्र-जिक्ष संकर भाव में जा पड़ा। क्यों? उत्तर कौन देगा? "कुतं इयं विसृष्टिः' ! किन्तु पतन चाहे जैसे हो, वह तो हो ही गया !

१२. सान्तादित्वे मिश्रतापत्तिः ॥

यदि अन्तरिक्ष अथवा व्यवधान सान्त प्रभृति होता है, उस स्थिति में मिश्रता आ जाती है। सान्त का अर्थ है शान्तसापेक्ष-सगर्भ अथवा गर्भित ॥

सान्तादित्वेऽन्तरीक्षस्य पारस्परिकताश्रयात् ॥
उभयव्याप्तिविद्धित्वाद् भवेद् भवादिसङ्कुरः ॥५४॥

साधारण विश्वव्यवहार तथा भाव प्रत्यय में कौन भाव देखता हूँ? दोनों का मिश्रभाव अथवा संकर। किसी में भी शुद्ध नहीं मिलता ! व्यवधान (इन्टरवेल प्रिंसपल) सान्त है। यह सापेक्ष और सगर्भ होकर और दोनों को मिलाकर विश्व तथा उसके प्रत्यय में वहमान करता रहता है। परम प्रकाश और स्वप्रकाश में 'अप्रकाशता' क्या है? वह अप्रकाशता है अनिरुद्ध-अलक्षणादिरूप अवाङ्मनसगोचरता। वहाँ सोच-समझ कथन की कोई भी स्थिति नहीं रहती। इस रूप में वह परम शुक्ला अथच परम कृष्णा, दोनों है। नीचे उतर कर भी वह जब तक शुद्ध रूप से स्थिता तथा वाहिता है, तब तक शुक्ला-कृष्णा पूर्वोक्तरूपेण भजनीया और समाश्रयणीया हैं। बोध को उनके 'शोध' (शुद्धि में) में रक्खो। भाव को भी 'अपने भाव' में रक्खो। यदि ऐसा नहीं है, तब ऐसा ही कर लो। ज्ञान का आलोक जितना 'सादा' (अनकलर्ड, इम्पार्शियल) होगा, उतनी ही ज्ञान की सार्थकता कही गयी है। भाव की भंगी स्वयं को जितना ही सान्द्रमौन आविष्ठता में जड़ित रखती है, उसी मात्रा में भाव सार्थक है। स्वाभाविक है। इसीलिये जब साधना में शुक्ला तथा कृष्णा रूपी शुद्धा धारा निलित हो जाती है, तब उनके शुद्ध भाव का भजन करना ही 'निष्ठा' है।

प्रणवादि नाम जप चल रहा है। उस जप की ध्वनि रूपी जो प्रकाशरूपता है, परिस्फुटता है, वही है (उस समय) शुक्ला। इस शुक्ला का ही शुक्लारूपेण भजन करो। ज्योति—भावरस इत्यादि जो कुछ भी अभी अव्यक्त है, उसके लिये विक्षिप्त विचलित नहीं होना चाहिए। 'खींच तान' कर उन्हे इसमें लाने की चेष्टा करना उचित नहीं है। वे सब पर्दा के उस पार सम्यक् रूप से प्रस्तुत हैं। तुम्हारा इधर का 'पार्ट' समाप्त प्राय है। अत्यन्त 'सही' रूप से शेष होने की अपेक्षा भी है, जैसे फलफूल सब के लिये अंकुर की अपेक्षा रहती है। अंकुर नष्ट होते ही सब नष्ट हो जाता है। तारचक्र समाचरण में जब विन्दुलीन रूप से 'शयन किया' तब शयन ही करो। यह सोचकर व्यस्त नहीं होना कि 'अ ऊ म' कहाँ गया ? इस प्रकार शुद्धा का भजन शुद्ध भाव से करो। न जाने कितने सुयोग तथा क्षेत्र हैं और आते हैं ! शुद्धि की समता तथा परमता के लिये निष्ठा आवश्यक है।

किन्तु व्यतिक्रम—व्यभिचार तो परिलक्षित होता रहता है। ज्ञान में भी भाव आकर दृष्टि को सजल कर देता है। स्वच्छ उन्मुक्त भूमि में मानों कुछ उलट देता है। इससे प्रकाशावरण, प्रकाश पर आवरण पड़ता है। अच्छे भावों की बात कही जा रही है। किन्तु राग-द्वेष-विप्रलम्भ भी तो हैं। इन सबकी चर्चा फिर होगी। भाव में उन्हें 'उलट-पलट' कर देखना 'जाहिर' करना—इत्यादि भी है। इससे भाव की शुद्धता और आविष्ठता-भंग हो जाती है। इस प्रकार यदि पूर्वकथित शुक्ला एवं कृष्णा की व्याप्ति एक दूसरे के द्वारा विद्ध हो जाती है (अर्थात् दो वृत्तों के समान यदि वे एक दूसरे को काटती हैं) अथवा दो उर्मि श्रेणी (वेव सिस्टम) के समान परस्परतः आघात (इन्टरफीयर) पहुंचाती हैं, तब इससे मिश्र अथवा संकर का उदय होता है। परस्परतः वेध तथा आघात के पूर्व (प्रो-कन्डीशन) क्या होना चाहिये ? जो दोनों स्वतः शुद्ध हैं, वे किसी प्रकार से एक पारस्परिकता धर्म (को-रिलेशनैलिटी) का आश्रय करती हैं। इस पारस्परिकता के कारण उनकी स्वतः शुद्धि वाली व्याप्ति विद्ध हो जाती है। इस पारस्परिकता सम्बन्ध का घटक क्या है ? अन्तरिक्ष है ! अन्तवत् अन्तरिक्ष में सापेक्षताधर्म भी है। अर्थात् वह कभी शुक्ला में कृष्णा को मिलता है, कभी कृष्णा को शुक्ला में। सादा और काला To-tel Refletion and total absorption। इन दोनों के इस व्याप्ति वेध के ही कारण इतनी वर्णालि है। यही कारण है विश्व में अशेष मिश्रभाव की उत्पत्ति का। इसी मिश्रता के द्वारा (अन्तर्बहिः विश्व में) भाव संकरादि अनेक प्रकार से होते हैं। इन का क्रम देखना है।

अच्छा ! अन्तरिक्ष के इस घटकत्व का घटक कौन है। यह अत्यन्त दुष्कर समस्या है। मूल में चाहे एक हो अथवा दो हो, उससे विश्व में यह अशेष मिश्रण कैसे हुआ ? विज्ञान से इसका उत्तर नहीं प्राप्त होता। अन्त में इस प्रश्न की जिज्ञासा

प्रज्ञान से किया। प्रज्ञान ने शिर को झुकाकर नासदीय सूत्र सुनाना प्रारम्भ कर दिया ! अतः मिश्रण को मान लेने के सिवाय कोई मार्ग ही नहीं है ! तब भी साधन के दृष्टिकोण से भरोसे वाली स्थिति यह है कि मिश्रण का अर्थ वह संकर नहीं है जो 'संकरो नरकायैव'' नरक हो जाता है। मिश्रण में अनुरूपता-विरूपता भी होती है। अतएव मिश्रणापत्ति से शुद्धिसमापत्ति पर्यन्त जाने वाला एक अभ्यारोही पथ भी है। अर्थात् मिश्रण में भी मिश्रभाव हैं ! श्रेयः—हेयः भी है। अरि-मित्र भी हैं। जैसे नामजप के मित्र हैं पूजा, स्तव, पाठ कीर्त्तन, साधुसंग आदि। किन्तु विघ्न जनक संकर मिश्रणों का सर्वथा त्याग करना चाहिये। अब इस सूत्र में यही कहा जा रहा है।

१२. तथा च वक्रताजिक्षतापत्तिः ॥

पूर्वोक्त मिश्रतापत्ति होने पर वक्रतापूर्वा जिक्षता संभव होती है ॥ शुद्ध साधना निष्ठा तथा उत्तम अधिकार विरल है। शुद्ध चाहे ध्रुवभाव से हो किंवा धारावाहिक भाव से हो, उसका निष्ठा के साथ सम्यक् रूप से आश्रय लेना सहज नहीं है। शुद्धज्ञान—शुद्धाभक्ति तथा निष्काम अनासक्त दक्षरूप से कृत·शुद्ध कर्म सब की पहुंच से परे हैं। अथच साधनमात्र ही शुद्धि तथा निष्ठा (एक तत्वाभ्यास) की साधना है। शुद्धि बाद में लक्षित होती है। वहाँ तो 'तत्वतः अवस्थिति' का जो प्रसंग है वह एकबारगी साथ-साथ नहीं होता। वह क्रमशः धारावाहिक रूप से (कार्यतः) सिद्ध होता है। इस क्रमानुसारिता के मिश्रण को (साहित्य को) मानना ही होगा। इसीलिये जप, वैधी भक्ति, कर्मादि धारा, चित्त शोधक ज्ञान इत्यादि साधारण मार्ग का प्रचलन है। जब शुद्धि की समता तथा परमता ही लक्ष्य है, तब यह तो देखना ही होगा कि मिश्रण 'साहित्य' हो रहा है। उसमें वाहित्य-पातित्य आदि तो नहीं है। वैरुप्य (व्याज) तथा वैगुण्य (विघ्न) घटित करने वाले मिश्रण तथा भाव को हटाना होगा। जैसे रसायन तथा संगीत में करते हैं; उसी प्रकार से। यदि मूलस्पन्द के साथ सारुप्य को शुद्धि कहें, तब उसमें वैरूप्य-वैगुण्य आदि को दूर ही रखना होगा। ऐसे अपमिश्रण को व्यामिश्रादि (Incompatibility, incongruity) कहते हैं।

इस व्यामिश्रादि के परिहारार्थ यह सूत्र कहा गया। पहले मित्रतापत्ति घटित हो चुकी है। किन्तु वह आपत्ति अनिष्टापत्ति हो सके, ऐसा नहीं है। मिश्रण के अतिरिक्त सर्जन (सृष्टि) नहीं हो सकता। इस सर्जन का 'सरासर' वर्जन कौन करेगा ? इसमें क्या अपरूप विचित्रता है ? वर्णबल-सुरबल-छन्दःबल-भावबल-व्यञ्जनाबल सबको लेकर ही यह मित्रतापत्ति है। अतः यह आपत्ति नहीं है। किन्तु यदि यह आपत्ति से मिलकर (तथाच) वक्रतापूर्वा-जिक्षतापत्ति का रूप ग्रहण कर लेती है,

तब तो वास्तव में आपत्ति वस्तु हो जायेगी ! वक्रता-पूर्वा क्यों ? वक्रता (curving कर्वेचर) भी मिश्रण के समान सर्जन का प्रारम्भिक रूप है। इसका भी वर्णन संभव है। रात्रिसूक्त में इसी वक्रतान्वय का वर्णन है। जो व्यक्तरूपेण आविः (मैंनिफीस्ट, काईनेटिक) है, उसके अव्यक्त रूप को प्राप्त करने के लिए (अव्यक्त—अनमैनि-फीस्ट, पोटैंशियल) आविः की ऋजु रेखा की वक्र (कर्व, फोल्ड, इनवेलाप) स्थिति में आना ही होगा।

इस प्रकार से सरल रेखा को वृत्त, वृत्ताभास, वर्त्तुलादि अशेष अनृजु आकृति में परिणत करना होगा। अन्यथा किसी भी प्रकार से गाढ़, दृढ़, गम्भीर भाव अधि-गत नहीं हो सकता। सत्ता—शक्ति—आकृति तथा छन्दः वंकिम (वक्र) की सेवा में नियुक्त हैं। एक छुद्र रेणु से लेकर विराट विश्व, एक सामान्य मात्रास्पर्श से लेकर गंभीरतम भाव, कहीं भी बंकिम भंगिमा को भंग होते नहीं देखा गया। रस के दृष्टिकोण से बंकिम ही रसनिगूढ़ता का प्राण है। वह रसास्वाद सर्वस्व है। यदि इस मिश्रता तथा बंकिमता के साथ जिक्षता युक्त हो जाती है, तब क्या होगा ? उस स्थिति में सुषम मिश्रण के स्थान पर व्यामिश्रादि विषम मिश्रण (विगुण) हो जाता है। जैसे संगीत में स्वरभ्रंश तथा तालभंग ! जैसे कोई ज्योतिष्क अपने निर्दिष्ट कक्ष में सुषम छन्द में घूम रहा है। किन्तु यदि उसके कक्ष में यह जिक्षता (विषम विरुद्ध वक्रता) आ जाती है, तब तो उसका छन्दोगत्व टूट गया ! परिणाम है विपत्ति। स्थूलतः समस्त रेखा विज्ञान तथा गति विज्ञान के प्रश्नों को भूत विद्या और सूक्ष्म में स्पन्द विज्ञान किंवा प्राण विद्या कहते हैं। कारणस्थिति में है महा-विद्या। मूल है महामाया। कौन रेखा सुषम वक्रता अथवा बंकिमता प्राप्त करेगी, अथवा विषम वक्रता जिक्षतारूप ग्रहण करेगी, यह निर्भर करता है वक्रता सम्पादक सहग (कम्पोनेन्ट्स् अथवा को-फैक्टर्स) समूह के अनुपातित्व पर। अनुपात सुषम की ओर न होने पर अथवा अनुकूल न होने पर इस जिक्षता के कारण कुटिल जटिल इत्यादि रूप प्रकट होते हैं। जो इस प्रकार की सहग प्रतिकूल त्रुटि घटित कराते हैं, वे हैं असुर, पाप्मा, ऐनस्, मन्यु इत्यादि। इनमें भी भेद है, अर्थात् वैजाय की भी जाति है।

अच्छा ! वैजात्य का घटक भी तो वही अन्तरिक्ष ही है ! जैसे दो ज्योतिष्क —एक सूर्य दूसरा तारा। 'स्वाधिकार' में तो ये दोनों ठीक हैं, और नियमानुसार चल रहे हैं। यदि इनके मध्य का व्यवधान परिवर्त्तित हो जाये, तब तो दोनों के लिये विप्लव है। इस प्रकार के विप्लव के ही कारण पृथ्वी आदि ग्रहों का अस्तित्व प्रकट हुआ है। यही वैज्ञानिकों का कथन है। इस क्षेत्र में अन्तरिक्ष स्त्रष्टा है, संहर्त्ता नहीं किन्तु संहर्त्ता भी कब तक रहता ! इस दृष्टान्त द्वारा अन्तरिक्ष के इस (बदलने वाले) व्यापार को गभीर दृष्टि से देखना चाहिये। अर्थात् दो ज्योतिष्क के निकट-

वर्त्ती होने के लिये, उन दोनों के मध्य का अन्तरिक्ष नूतन आकृति में गर्भित (इन-ट्रिंसिकली प्रीडिसपोस्ड) हो रहा है अथवा नहीं। इस प्रकार की स्वगत प्रवणता द्वारा प्रचोदित होकर यह अन्तरिक्ष किन्हीं दो द्वन्द्वात्मक वस्तु के बीच प्रतियोगिता करता है अथवा नहीं, यह प्रणिधान का विषय है। विश्व व्यवहार में अन्तरिक्ष सगर्भ अथवा गर्भित है, शून्य नहीं है। इसका गर्भितत्व है एकबीजभाव, सम्भावना—संभाव्य शक्ति को स्वयं में धारण करना। एक इनकैलकुलेबिल पोटैन्शियल चार्ज ! बीजप्रद पिता नें अन्तरिक्ष को ही बीजाधान द्वारा गर्भित किया है। इस गर्भितत्व के कारण उसकी एक अपनी प्रवणता भी है। समष्टि अथवा विश्व की प्रारब्ध अपेक्षा किसी विशेष क्षेत्र में सुर के पक्ष में अथवा असुरों के पक्ष में होती है। असुर पक्ष होने पर (अन्तरिक्ष में सापेक्षता भी है) पूर्वोक्त जिक्षता, पाप्मा, ऐनस, मन्यु प्रभृति ! इसके लिये अन्तरिक्ष दोषी नहीं है, यह सब भव प्रारब्ध के कारण होता है। अब यह किसके प्रति दोषारोपण करते हुये अंगुलि निर्देश करेगा ? अन्तरिक्ष स्वयं देवता है। गायत्री मन्त्र के 'धीमहि' के द्वारा इस देवता की प्रसन्नता प्राप्त करो। वरेण्यं भर्गः = द्यौः। धियोयोनः = पृथ्वी। धीमहि = अन्तरिक्ष। प्रचोदयात् = प्रसादेन। (प्रसन्नता)।

अब कारिकाद्वय कही जाती हैं—

देशकालात्मके युग्मे वस्तूनि चापि छन्दसि।
वक्रताव्याप्यताकृतेस्तज्जनिः सान्तव्यूढ़ता ॥५५॥
आनन्त्यमृजुवृत्तित्वं शान्तवृत्तिश्च शून्यता।
संङ्करे चासुरी वृत्तिर्वक्रतायां हि जिक्षता ॥५६॥

देशकालरूप युग्मक में (स्पेस-टाईम) शक्तिसंभाव्यता रूप जो वस्तु है, और विद्यमानता-सम्भाव्यता-क्रियमाणता रूप जो छन्दः है, इन सब की आकृति में (पैटर्न में) पूर्वोक्त वक्रता व्याप्य (कवर्ड) है। अर्थात् ये सब वक्रताभावापन्न (विश्वव्यवहार में) हैं। इसीलिये इन सब में सान्त तथा व्यूढ़भाव (मेजर्ड एण्ड इनवाल्वड्) दृष्ट होता है। पूर्ण ऋजु होने पर अनन्तता और पूर्ण शान्त होने पर शून्यता (पूर्वोक्त निर्बीज भाव) आ जाती है। यदि वक्रता हो जाने पर, सान्तव्यूढ़ हो जाने पर पुनः पारस्परिक वेध (म्युचुअल पेनिट्रेशन) होता है, और यदि वह वेध पूर्वोक्त क्रम से आसुरिकता तथा आसुरीवृत्ति को जन्म देता है, उस स्थिति में यह मिश्रण संकर है और वह अवश्य (हि) जिक्षरूपता युक्त है। मिश्रणमात्र संकर नहीं होता। सभी वक्र जिक्ष नहीं होता। इसकी व्याख्या पहले भी की जा चुकी है, पुनः भी होगी। अब पुनः सूत्र कहा गया है :—

१४. उभयथा सङ्करधारा सा च शुद्धिमुख्या धूम्रा मलमुख्या मलिना ॥

दोनों प्रकार से, अर्थात् मित्रभावापत्ति के साथ यह वक्रतापूर्वा जिक्षतापत्ति घटित होने पर संकरवृत्ति तथा संकरधारा होती है। और ज़ो शुद्धिमुख्या (जिसमें सुरभाव प्रबल है) है, वह है धूम्रा। मलमुख्या (विपरीता) होने पर 'मलिना है ॥

यह परिलक्षित होता है कि अन्तरिक्ष में जो सगर्भत्व (Intrinsic पोटेंन्शियैलिटी) है, वह जिक्षता घटित कराने वाला मुख्य घटक है। अत: जातक की जन्मकुण्डली (राशि नक्षत्रादि संख्या) द्वारा भाग्य निरूपण करना इतना प्रधान है। अन्तरिक्ष के अन्य दो रूप भी हैं सान्त तथा सापेक्ष (सहकारी)। उपकारक भाव साथ ही रहता है। मानों सान्त एक रेखा खींचकर कहता है "चाहे जैसे निरूपण करो, निरूपण के समय इस रेखा की ओर दृष्टि रक्खो।" सामान्यत: इस रेखा अथवा सीमा में ही निरूपण किया जाता है। एक सान्त, देश-कालादि संख्या में निरूपण होता हैं। एक 'नापाजोखा' कागज, स्केल दो, तुम्हारा अंकन कर देता हूँ। सापेक्ष क्या कहता है ? जिसका अंकन कर रहे हो जिस स्थल में अंकन रहे हो (जैसे जातक एवं राशिचक्रादि) दोनों पक्ष की (निरूप्य-निरूपक) स्वत: संस्था (बेसिक मेकअप) की अपेक्षा करते हुये उन्हे भी अंकित करना होगा। उसका भी निरूपण करना होगा। स्वत: संस्था तथा स्वभाव जिसमें निष्ठ (नितरांस्थित) हैं, उसकी तो अपेक्षा रहती ही है। अंकन अवश्य कहेगा कि मुझमें तो सब कुछ अङ्कित है। यह एक प्रकार से उचित कथन है। यह है उसकी 'डिजाइन' को उन्मुक्त कर देना देशकालादि आधार रूप विश्वालय (कास्मिकली) में देखना। यह है निरूपणांकन का अद्भुत तथा उन्मुक्त रूप। जो सद्भाव (प्रोबेबुल) है, वह अपना संवरण कर रहा है। अणु जगत् में भी यही देखता हूँ।

प्रत्येक वस्तु की नाभि में स्वयं महामाया ही विन्दुवासिनी हो रही हैं। वे अर-नेमि प्रभृति का विस्तार करते हुये स्वयं को माप की सीमा में ला रही हैं। किन्तुअपने पूर्ण अस्तित्व को इसमें नहीं लातीं। वे वास्तविक रूप से भी माप की सीमा में नहीं आ रही हैं। हम यह भी देख रहे है कि बोध की जो भानरूपता है, उसमें भी यह 'नापानापी' नहीं है। जब भानरूप हो जाता है, तभी यह सब होता है। पहले यह सब नहीं रहता। यद्यपि माप भी उस समय 'अमाप' रहता है। तब भी यहाँ यह कहना उचित है कि हमारे स्वभाव, हमारे केन्द्र, हमारी नाभि में एक ऐसा महारहस्य विद्यमान है, जो समस्त वाह्य 'नाप जोख' को सतर्क करते हुये कहता रहता है "बस यहीं तक आगे मत बढ़ो"। और यह भी कहता है कि जो मेरा स्वत्व है उसे नस्यात् करने वाला तुम्हारा कोई 'जोर' 'माप-जोख' नहीं चल सकेगा।' इस स्वत्व में आनन्द का जो लीला कैवल्य है, लीलासम्बन्ध कराने वाला

जो स्वत्व है, वह तिरोहित नहीं हो सकता। साधन जीवन में इस मूल 'विश्वास-भरोसा' को छोड़ देना उचित नहीं है।

इसी कारण संकरधारा और संकरभाव के प्रसंग में शुद्धि-मुख्य, मलमुख्य रूपी वृत्तिद्वय तथा उनकी क्रमोक्त भजनीयता एवं मलमुख्य की अभजनीयता की चर्चा की गई है। साधारण जीवगण इसी संकरधारा में ही पतित रहते हैं। क्या उन्हें स्त्रोतमुख मे तिनके की तरह बहना होगा? धारा में भी शुद्धि मुख्य तथा मलमुख्य रूपी दो मुख हैं। ये अपनी 'बारी' देखते रहते हैं। शुद्धिमुख को भजना चाहिये, परन्तु क्या ऐसा हो पाता है? यहीं हमारे मूल स्वत्व की, हमारी 'दलील' की बात उठती है। यह दलील अवश्य 'टाईमबार्ड' 'तमादी' नहीं हो जाती, परन्तु बाहरी माप जोख, अंकन उसमें दबा रहता है। 'पहले आत्मकृपा' उसकी 'खोज-तलाश' कर देती है। अन्त में वह गुरुकृपा से 'पक्की' हो जाती है। शुद्धिमुख्या संकरधारा को धूम्रा कहते हैं। 'धूम्रायै सततंनमः'। यही भजनीयत्व संकर में अवगाहन कराती हैं। यही संकर को 'शंकर' करती हैं। धूम्रा धूमा नहीं हैं, वे परमा व्याहृतिरूपा हैं। मलमुख्या धारा है मलिना। उसे काटो।

क्या अन्तरिक्ष की इस पारस्परिकता और उभय-वेधविद्धता का स्मरण है? धूम्रा के पश्चात् यह विद्धता नहीं है किन्तु पारस्परिकता है। अर्थात् शुद्धा तथा कृष्णा की पारस्परिक छायापत्ति है यह धूम्रा। वेध यहाँ मुख्य नहीं है। अतः इसे सहज ही शुद्धभाव में मिलाया जा सकता है। मलिना में वेध ही मुख्य है। जैसे Mechanical Mixture और केमिकल कम्पाउण्ड।

कारिका :—

> शुद्धा शुक्ला च कृष्णा चैकस्यामितरेतयाश्रया।
> जहत्यजहतीत्येवं संकीर्णा स्याच्च जिक्षगा ॥५७॥

धूम्रा में शुद्धाशुक्ला शुद्धाकृष्णा इतरेतराश्रया मात्र हैं। इसे पहले वेधस्पर्श-रूपा छायापत्ति कहा गया है। इस संकर में भी शुद्धिमुख्या हैं। यह भी संध्यादेवता रूपा हैं। उदासीन हैं। दूसरी अर्थात् शुद्धाकृष्णा अपने शुद्ध रूप को "जहत्-अजहत्" (तिरोहित अथच तिरोहित नहीं भी) आकार में करते हुये 'संकीर्णा' कर देती हैं। जब संकर में इस प्रकार की वेधवृत्ति की मुख्यता हो जाती है, तब वह संकीर्ण हो जाता है। अब वह जिक्षगा है। अतः जीवन तथा साधन में असुरपाम्पा द्वारा 'वेध' किये जाने के सम्बन्ध में विशेष रूप से सावधान सतर्क रहना चाहिये। रोगादि में भी यही स्थिति रहती हैं। सन्ध्या-वन्दन प्रभृति का यत्नपूर्वक आश्रय लेना होगा। सर्व प्रकार की गायत्री में 'धीमही' पद के 'ध' तथा 'म' रूपी वर्णद्वय का चिन्तन करो। अब शुद्धिसूत्र कहा जा रहा है। —

१५. तत्वतोऽवस्थितिः शुद्धिः ॥

तत्वतः अवस्थिति ही शुद्धि है ॥

शुद्धि का प्रसंग पहले भी नाना प्रसंगो तथा नाना रूपों में आलोचित हो चुका है। यहाँ केवल शुद्धि के 'स्वरूप' लक्षण को ही अंकित किया गया है। द्वितीय खण्ड के अंतिम हिस्से में 'तत्त्व' को सूत्रित किया गया था। उस प्रकार के तत्वभाव में अवस्थान करना ही शुद्धि है। जहाँ कुछ उपेक्षित अथवा त्याज्य है ही नहीं, अन्य के साथ योग कराने के लिये भी कुछ नहीं है, उस तत्व रूप में परिनिष्ठित होना ही पूर्ण शुद्धि है। यही इस कारिका में कहा जा रहा है :—

न किञ्चिद्धेयमत्रास्ति न वोपादेयमन्यतः ।
शुद्धिः पूर्णा हि विज्ञेया तत्वेऽचलप्रतिष्ठिता ॥५८॥

यही है चरमा तथा परमा शुद्धि। जब तक द्वन्द्वसूता है, तब तक शुद्धि समता का साधन है! द्वन्द्व के पश्चात् परमा अथवा तत्वपरिनिष्ठिता शुद्धि है। Elimination and Addition दोनों ही इस स्थान पर अनवकाश (दोनों को स्थान नहीं है) हैं, किन्तु शुद्धिसमतार्थ जो साधना है। उसमें तो क्रम अथवा धारारूप अवश्य है। जपादि साधना में जो अभ्यारोह अथवा समावृत्ति है, उसमें अन्त में क्रम तथा धारारूप का समाश्रय लेना होता है। श्रेयःक्रम क्रमशः प्रेयःक्रम हो जाता है। शुद्धि समता में पहुँचने पर जो श्रेष्ठ है वही प्रेष्ठ है। रसभूमि में वह धारा क्रमशः राधाभाव-सुवलिता काया की छाया का स्पर्श प्राप्त करती है।

क्रम के अनुसार शुद्धि ही क्रमशः अनुशुद्धि-प्रतिशुद्धि-विशुद्धि-परिशुद्धि-समशुद्धि तथा स्वतःशुद्धि है। संगीत प्रभृति के साधन से इन स्तरों को मिलाओ। उस्ताद का अनुकरण = अनुशुद्धि। अपने सुरच्छन्द की मग्न संस्कारभूमि से अथवा अनुरणन प्रभृति की पोषक प्रतिक्रिया द्वारा शुद्धि = प्रतिशुद्धि। विश्लेषण पूर्वक-विशेष-विशेष स्वरों की व्यष्टिशुद्धि = विशुद्धि। समग्र समष्टिभाव की शुद्धि = परिशुद्धि। राग अथवा छन्द के निगूढ़ भाव की शुद्धि और व्यञ्जना की शुद्धि = संशुद्धि। विशेष गुणी साधक के अतिरिक्त शुद्धि की इस भूमि में और कोई आरूढ़ नहीं हो सकता। सुर तथा छन्द का जो वैराज रूप है उसमें समन्वय होना = समशुद्धि। अन्त में परमाव्यक्त रसमाधुर्य में पूर्ण आविष्ठता = स्वतःशुद्धि। किंवदन्ती के अनुसार तानसेन के गुरु स्वामी हरिदास इस अन्तिम शुद्धि, स्वतः शुद्धि में आरूढ़ थे। जपादि साधना से इस उदाहरण को मिलाने का यत्न करो! "गुरु के साथ ध्वनि फूकों"। यही है शुद्धि का यथार्थ अनुक्रम! पहले परिणयी आदि पाँच छन्दों का साधन साधकस्तरानुसार कहा जा चुका है। इन पाँचों का स्मरण करो। इस खण्ड के प्रारंभ में कहा गया 'भूतशुद्धि' प्रकरण भी अनुध्यान योग्य है।

शुद्धितत्व का विशेष-विशेष प्रयोग यहाँ विवेचित नहीं किया जा रहा है। मूल में जब प्राण तथा स्पन्दन की क्रिया है, तब शुद्धिसाधनार्थ अध्वगत्व के लिये, संख्यादि छन्दोगत्व के लिये, भावादि तथा धामगत्व के लिये मनन-ध्यानादि का आश्रय लेना ही होगा। अशुद्धि की भी एक अधोग धारा रहती है। (जैसे किसी पातक के गुरुत्व और "पौनमुनिकत्व" के कारण 'पातित्य')। यहाँ भी संख्या है। जैसे किसी मनुष्य का क्रोमोजोम नम्बर है ४८ है। उस स्थिति में कोई गुरुपातक ४८ बार होनेपर 'पातित्य' हो जाता है। प्रायश्चित्त तत्व के मूल में प्राण तथा स्पन्द-विज्ञान इसीलिये प्रासंगिक रहा है। श्री भगवान तथा माँ का नाम महासाधन है। उस नाम का निष्ठापूर्वक जप, कीर्त्तन, करने से संख्याशंकाद्रिपाटन हो जाता है ! अतः पातक ने अपनी संख्या का जो भय प्रदर्शित किया है, वह तो संख्याशंका से उन्मूलित हो गया !

अब इस सूत्र में शुद्धि तथा पावनी धारा को विशेषतः सूत्रित किया गया है।

१६. धूम्रमलिनयोर्मन्थन—शुद्धकृच्छङ्करधारा ॥

पूर्वोक्त छायाचित्ररूपा ही (अवेध मिश्रा) धूम्रा तथा बोधसंकरा मालिना-इन दोनों का मन्थन करते हुये साधक को शुद्ध में ले जाने में सहायक बन जाती है। किन्तु वेधमिश्रा मलिना (मलमुख्या) संकरधारा में ही जीव विशेषतः पतित है। इसकी शुद्धि होना नितान्त आवश्यक है। संकरधारा ही एक घोरावर्त्तरूप होकर वेदमन्त्रोक्त 'मर्त्तस्य' धूर्तिः' हो जाती है। यही है असुर अथवा आसुरत्र (जिक्ष) का रूप। एनस् (कौटिल्य), मन्यु (जाटिल्य) भी यही है। इसकी शुद्धि होती है मन्थन पूर्वक। मन्थन इसलिये होता है कि जो अशुद्धिमुख्य वेध संकर है, उसकी निम्नगा-अधोगा-वृत्ति होती है।

फलस्वरूप यह संकर इसी क्रम में पाताल में गूढ़ व्यूढ़ादिरूप 'अड्डा' बनाना चाहता है। मग्न चेतना (सब-कांशस) के रिप्रेशन-फिक्सेशन तथा Complex ही उसके गोपन दुर्ग है। मग्न चेतना के किस तल में ये सब एकत्र हैं, 'जुट बनाकर' बैठे है, इसकी कोई इयत्ता नहीं है। समय-समय किसी पर त्रुटि (Fault), Fissure अथवा अन्य weak Crust को देखकर ये सब ऊपर आकर अनर्थ की सृष्टि करने लगते हैं। फ्रायड प्रभृति अनेक ने वर्त्तमान काल में इन सब गम्भीर स्तर में छिद्र 'बोरिंग' करते हुए इनका प्रदर्शन किया है। पुराण विद्या (वेद-तंत्र-योग आदि में) इन सब अवतल (सब-सर्फेस फारमेशन्स) की बहुःशः खोज की गई है। असुरगण सम्मुख युद्ध में तो पराजित-विनष्ट हो गये, किन्तु बचे खुचे पाताल में जा छिपे 'शेषाः पाताल मययु।'। वे वहाँ पर दल बनानें और बल की वृद्धि करने लगे ! इन्हें पराजित करने के लिए दक्ष कुशल मन्थन आवश्यक होता है। केवल समतालिक

क्रिया से कोइ फल नहीं मिलेगा ! Serface reaction does not materially help. । इनकी ऊपर जितनी व्यक्तता है, उससे कहीं अधिक (मात्रा तथा विक्रम में) अवचेतना के भीतर, नेपथ्य की संकरधारा में इनका उपद्रव है। ऊपर तो मात्र लक्षण है। भीतर है व्याधि का बीजाधार !

इस कुटिल, जटिल, सर्पिल अथच प्रमाथी का मन्थन करता है शंकर। दन्त्य (स) का मन्थन तालव्य (श) द्वारा ! मन्थन के चार अंग हैं आधार, अक्ष, गुण, गुणी। मन्त्र में वाग्भव 'ऐं'। इसमें अ=आधार है। अ+इ=ए यह है आधाराश्रित अक्ष। नादविन्दु=गुण। अग्नि, सोम=गुणी। मन्थन द्वारा अमृत निकलता है परन्तु अग्निषोम का असमंजस होने पर मिलता है विष। जपादि साधना में साधारण मन्थन की यह आकृति विशेष कार्यकारी है। श्रीभगवान् की कृपाघनमूर्त्ति गुरु तत्व ही आधार रूप है। साधक का दृढ़ एवं शुद्ध संकल्प रूप आत्मा है अक्ष। दीक्षादि सहित जपादि के साथ भगवत् संग=गुण। अशेष कल्याण गुणाकर श्रीभगवान=स्वयं गुणी। अन्य भाव से भी मन्थन की भावना करो और निष्पादन करो। शंकर धारा उर्ध्वगा है। अतः अधश्चेतना की व्यूढ़ प्रच्छन्न आसुरी सम्पदा को मंथन द्वारा तुम्हारी चेतना में लाकर दिखलाने और उसका शोधन करने मात्र से यह क्षान्त नहीं हो जाती। उसका अक्ष उर्ध्व—समृद्ध चेतना में भी समुत्थित होने और समुत्थान करने में समर्थ है। अतएव वह उर्ध्वलोक की परम्परागत दैवी संम्पदा का भी दोहन कर सकने में सक्षम है।

'प्रकृति' को पहले ही सूचित किया जा चुका है। गीतोक्त अपरा प्रकृति ही वेधसम्भवा है। (जिसका वेध हो सकता है अथवा जिसमें वेध सम्भव है।) संकर इसी अपरा को ही आक्रान्त करता है। परा (जीवभूता सनातनी) वेधविरह छायापत्ति के अधिकार में आती है। यह असुरादि से विद्धा नहीं हो सकती। फिर भी परा में अपरा की छाया पड़ती है और साथ ही उसमें परमा की आभा भी प्रतिफलित होती रहती है। शंकर इसी परा को परमामुखीन करने के लिए अपराध वेध और परा की छाया—इन दोनों का मन्थन करते हैं। इस छाया को उच्छिन्न करके परम की शुद्ध आभा के प्रस्फुटनार्थ ही 'धीमहि' का प्रयोग होता है। अथ कारिका का चिन्तन करो :—

जिह्मं व्यूढ़मधः स्त्रोतस्तस्य ह्यक्षादिमन्थनम् ।
शुद्ध्यै शान्त्यै शिवायापि शङ्करधारयैमिति ॥५९॥

इसका भाव पहले ही व्यक्त किया जा चुका है। स्रोत के विशेषण त्रय के प्रति मनोयोग करो—वे हैं जिह्म, व्यूढ़ तथा अधः। अक्षादि अर्थात् आधार—अक्ष आदि चार। श्लोक के अन्त में संकरधारा का मान्त्री तनु 'ऐं' है। शंकर की वृत्ति-

त्रय का ध्यान करो—शुद्धयै, शान्त्यै, शिवाय। यह स्मरण रखना होगा कि 'धूम्रा' तथा 'धूमा' रूपी तत्वद्वय मिश्रतापत्ति होने पर भी विद्या पक्षीय और सुरपक्षीय हैं। अतः शंकर साधिका है, संकर पालिका रूप नहीं है। धूमा तथा धूम्रा से 'आ' हटा लेने पर धूम तथा धूम्र हो जाता है (जैसे धूमयान और धूम्रलोचन) ये दोनों 'आ' रहित हो संकर के भाग में आ जाते हैं। धूम्र 'र' कार युक्त होने के कारण राजस है। धूम 'र' विहीन है, अतः तामस है।

अच्छा ! जो तत्व शुद्ध, शान्त, शिव, सत्य, सुन्दर है, वह तत्व (परब्रह्म) इससे कैसे ग्रसित हो जाता है ? क्या ब्रह्म को जिक्षमुक्त करना ही शुद्धि है ? इस आशंका का वारण करनें के लिये यह सूत्र कहा जा रहा है :—

१७. न ह्यनित्येन नित्यस्य प्रसज्यप्रतिषेधत्वम् ॥

जहाँ नित्य वस्तु प्रसज्य, अथवा प्रसंगतः लक्ष्य अथवा उद्येश्य है, वहाँ किसी अनियत अनित्य व्यापारादि के द्वारा इस प्रसज्य नित्य का प्रतिषेध होता है, ऐसी स्थिति नहीं होती ॥ जिसका प्रसज्य ही प्रतिषेध है, ऐसा नित्य प्रसज्य प्रतिषेध 'नित्य' कहा गया है। यहाँ पर प्रसज्य = निर्व्यूढ़ प्रसज्य है। अनित्य में अनित्य बोध = प्रतिषेध होना। किन्तु जो प्रसज्य नित्य ही उद्दिष्ट है, उसमें किसी प्रकार से भी नित्य प्रतिषेध प्रसंग नहीं हो सकता। क्योंकि यह हो सकना असम्भव है। ऐसा होने पर प्रतिज्ञाहानि हो जाती है। नित्य का (जो प्रसज्य नहीं है ऐसा) प्रतिषेध होता है, अर्थात् 'इस घट मे नित्यता नहीं है।' यहाँ इस घट में नित्य का प्रतिषेध हुआ है। "शब्द-अनित्य है" । तार्किकों के इस सिद्धान्त द्वारा भी नित्य का प्रतिषेध लक्षित हो रहा है। यद्यपि मीमांसकों के शब्द तथा वैयाकरणों के स्फोट इत्यादि के अनुसार शब्द में नित्यता की प्रसज्यता है, तथापि वह निर्व्यूढ़ प्रसज्यता है। यह सब कहने पर भी, अन्त में शून्य को ही तो नित्य करना पड़ता है। यदि यह स्थिति है, तब तो किसी अनित्य के द्वारा शून्य की निर्व्यूढ़ प्रसज्यता का प्रतिषेध नहीं हो सकता। अर्थात् जहाँ शून्य ही उद्दिष्ट है, वहां यह नहीं कहा जा सकया कि 'यहाँ शून्य नहीं है' ! ऐसा कहना आत्मघातित्व जैसा होगा ! अब यह सब दार्शनिक विचार यहाँ नहीं करना है। जप के आधारभूत सिद्धान्त में बाधमात्र विरह युक्त एक सत् प्रतिष्ठित है। उसका बाध कहीं भी नहीं हो सकता। No absolute Contradiction and no negation in the case of unconditional affination. यह करने के लिये उद्यत होते ही Self Contradiction होने लगता है।

यहाँ नित्य, सत् में शुद्धतत्व ही नित्यत्व युक्त है। जहाँ शुद्धता का प्रसंग निर्व्यूढ़ रूपेण (अनकंडीशनली) आ रहा है, वहाँ किसी भी अनित्य के द्वारा (अनियत व्यभिचारी) उस शुद्धत्व का प्रतिषेध नहीं हो सकता। यही इस सूत्र का अभि-

प्राय है। 'तत्सत्' से अवम (नीची) किसी भी भूमि में शुद्धता की अनियतता, व्यभिचार प्रभृति देखा जा सकता है। इन सब भूमियों को लक्ष्य करके ही संकर तथा शंकर धारायें वृत्तिमती हैं। परमभूमि में शंकर की भी परम समाहिता विश्रान्ति रहती है। शुद्धरस भूमि में धारा रूप ही ह्लादिनी के सारात्सार रूप में अपने विवर्त्त रूप से शुद्ध रस के परम अनिर्वचनीय लीलायन को रूपायित करता है। यहाँ पर ज्ञानभूमि, योगभूमि तथा रसभूमि की शुद्धि हेतु विवेचना करना अप्रासंगिक है। यहाँ शुद्ध, बुद्ध तथा मुक्त का लक्षण भी आलोच्य नहीं है। तब भी यह कहना है कि जप के आधार-अधिकरण में मिलकर ये तीनों पूर्ण हो जाते हैं, अखण्ड पूर्ण हो जाते हैं। ज्ञान से बुद्ध, योग से मुक्त, रस से शुद्ध। यहाँ किसी सम्प्रदाय सिद्धान्त की चर्चा नहीं हो रही है।

जपादि साधना के सभी अधिकरणों में जप के निजस्व आधार को सम्प्रदाय पक्षपात मुक्त होना आवश्यक है। शुद्ध परम में कौन सी वस्तु है, इसे तो परमा ही जान सकती हैं। इतनें पर भी जपादि साधना में शुद्धि की ज्योति-रसरूपा एक परमपावनी धारा की उपलब्धि होती है। इसे प्राप्त किये बिना कोई 'चारा' ही नहीं है। विचारीगण इस धारा को सापेक्ष शुद्धि मानकर क्षान्त हों ! युंजान मुमुक्षु इसे ऋतभंरादि शुद्धि मानते हुये युक्त-मुक्त होने का उपाय करें ! भक्तिरसिक इसे वैवर्त्त शुद्धि समझ कर इसमें आकृष्ट—अनुग—धामग हो जायें। अब कारिका कही जाती है :—

या धूम्र धूम्ररोधोभ्यां शाश्वती स्यन्दते सरित्।
धूमधूम्रायमाणायां तस्यामानवकाशता ॥५०॥

जो शाश्वती-संवित (विश्वपावनी शुद्धिधारा) निम्न व्यवहार भूमि में अवतरण करके धूम तथा धूम्र (तामस एवं राजस) तट मध्यवाहिनी हो रही है (स्यन्दते), वह संवित् इन दोनों तटों के कलुष को स्वच्छ करती हुई, अशुद्ध का शोधन करती हुई अपने स्वभाव धर्म का निर्वहण कर रही है। उसमें इस धूमधूम्र मालिन्य का स्थान ही कहाँ है ? समस्त अशुद्धियों का शोधन करने पर भी उसकी सांसिद्धिकी शुद्धि व्याहत नहीं हो जाती। जैसे साधारण जगत् में अग्नि, सूर्यरश्मि आदि। जो इतना कुटिल-जटिल 'संकरनरक' है, धूर्त्ति ही जिसकी नीति है, उससे छुटकारा प्राप्त करने का एक मात्र स्थल है "शाश्वती स्यन्दमाना संवित्" ! इसका सर्वतोभावेन समाश्रय करो। पंचगंगा और श्रीभगवान की अनुग्रह शक्ति के साक्षात् स्वरूप श्रीगुरु तत्व में समावेश का प्रसंग जपसूत्रम् के प्रथम खण्ड में आलोचित हो चुका है।

अच्छा ! प्रकृति से च्युति स्खलनादि के अभाव में तो विकृति नहीं होती, और विकृति न होने पर उससे पुनः 'प्रकृतिस्थ' होने के लिये शुद्धि संस्कार का प्रसंग

भी उत्थित नहीं होता। इसलिये शुद्धि के आधार तथा अनुबन्ध (विषय-प्रयोजन-सम्बन्ध-अधिकार) रूप प्रकृति-प्रत्यय को सूत्रबद्ध किया जा रहा है—

१८. तत्त्वमधिकृत्य प्रकृति-प्रत्ययौ ॥

तत्व का अधिकार करने के लिये प्रकृति भी हैं प्रत्यय भी है। जहां कुछ को छोड़ने अथवा योजित करने की अपेक्षा नहीं है वहां है। तत् + त्व ॥

वह सम्यक रूप से "वही ही है" इसमें न तो कुछ जोड़ा जा सकता है और न इससे कुछ निकाला ही जा सकता है। इस प्रकार से जो हरण-पूरण से शून्य है, वही है तत्त्व। तत्त्व सूत्र में इसकी आलोचना की जा चुकी है। यदि यह कहें कि कुछ को घटाते-घटाते शून्य में पहुँच जाते हैं, तब तो शून्य ही तत्व है। माध्यमिकों का कथन है कि रूप संज्ञा आदि स्कन्धों को उच्छिन्न करते-करते शून्य ही शेष रह जाता है। यहाँ यह विचार करना प्रासगिक नहीं लगता कि परम अथवा चरम में पहुँचकर तत्व शून्यरूप है किंवा कुछ और ही है! हमारा उद्देश्य दार्शनिक विचार-धाराओं के कूट-कौशल का प्रदर्शन करना नहीं है। यह अन्यत्र किया जा चुका है। यह किया गया है आवश्यकतानुसार गणित की परिभाषा को ग्रहण करने के उपरान्त भी विचारगत साधिष्ठ विशदता की रक्षा के लिये! प्रथम खण्डोक्त तत्व के निर्देशानुसार 'भान' ही पुरोभाग में स्थिर रहता है। भान मर्शचश्चक के कारण भासपञ्चक है। मेरा भान अथवा तुम्हारा भान, यहां भान कि वहाँ भान, इस सम्बन्ध में भान अथवा उस सम्बन्ध में भान, इस प्रसंग को उठाने पर भान में भान-रूपता नहीं रह जाती। वह सम्यक्‌रूप से 'ठीक' से भान नहीं रह जाता, यह भी विवेचित हो चुका है। जो निर्व्यूढ़ अखण्ड समग्र भान है वही तत्व है। इस प्रकार से उपसंहार करते हुये यह सिद्धान्त स्थापित किया जा रहा है कि परब्रह्म की परमपूर्णता ही तत्व है।

यह जो पूर्ण तथा परमतत्व है, इसमें प्रकृति भी उसी रूप से है और प्रत्यय भी तदनुरूप है। इस तत्व में स्थित प्रकृति भी परमा है और इसमें जो प्रत्यय (जैसे पूर्वसूत्रोक्त धारा तथा लीलारूप आविर्भाव) है, वह भी परम ही है। भगवत्ता की प्रकृति भी परमा है और उसमें जिस लीला आदि प्रत्यय का आविर्भाव होता है, वह भी परम है। किन्तु 'भान' अथवा व्यवहार में उतरते ही उसकी निर्व्यूढ़ता (अन-कण्डीशनैलिटी) नहीं रह जाती। अर्थात् तत्वलक्षण पूरी तरह से वर्तित होता परिलक्षित नहीं होता। यथासम्भव निरपेक्ष तथा स्वतन्त्र रूप (हानोपादानरहित) भान (इक्सपीरियेन्स) होने पर वही तत्व (फैक्ट) रूप से आदृत (एप्रिसियेटेड) होता है। इसमें भान व्यवहार (लिमिटेशन) रहता है, अतः इस तत्वाश्रय से ध्रुवास्थिति नहीं हो सकती। काष्ठा अथवा सीमाबद्धता (लिमिट) की स्थिति

प्रत्यक्षतः रह जाती है। तत्र भी इसका समादर यथासम्भव स्वयंस्वत्व (सेल्फ इक्सिस्टिंग एण्ड फंक्शनिंग इन्डिपेन्डेन्टली) करना ही होता है, इसे मर्यादा देना पड़ता है। जैसे मनुष्य समाज में 'व्यक्ति' तथा 'राष्ट्र' को मर्यादा दी जाती है, उसी प्रकार ! इस युक्ति द्वारा सम्यक् लक्षण न प्राप्त होने पर भी जीव भी तत्व है और जीवन की प्रकृति (गीतोक्त) पराप्रकृति ही है और क्षिति, प्रभृति पंचतत्व तथा अन्दर के तीन तत्व को मिलाकर अपरा प्रकृति (अष्टधा-गीतोक्त) संगठित होती है। सांख्य में पातञ्जल तथा द्वैतशैवागम में तत्वों की संख्या भिन्न-भिन्न है। अतः मूलरूप से तत्व संख्येय पदार्थ कदापि नहीं है। जप क्षेत्र में मन्त्रतत्व-गुरुतत्व-इष्टतत्व रूप से तीन, पाँच अथवा अन्य-अन्य संख्यक तत्व पदार्थ का आकलन किया जाता है। क्या जप्य अक्षर तत्व है, क्या अर्धमात्रा, कला प्रभृति तत्व हैं, इन प्रश्नों का तो अन्त ही नहीं है और इन तत्वों के अधिकार में प्रकृति है अथवा विकृति ? इस सम्बन्ध में शुद्ध, यथार्थ, प्रयोजनीयता का जैसे लाघव नहीं है उसी प्रकार गौरव भी नहीं है ! ॐ का व्याहरण किया, प्रकृति ही में तो किया !

जप करते हो। तुम्हारा प्रत्यय किस मात्रा में है ? अग्नि अथवा सोम ? उदय किस ओर विलय कहां ? ये सब प्रकृति तथा प्रत्यय घटित प्रश्न अत्यावश्यक हैं। प्रणव और उसके तत्व हेतु ये सब प्रश्न हैं। मीमांसा में याग के समय जैसे प्रकृति विकृति का विचार किया जाता है, उसी प्रकार से ! यहाँ पर तत्व ही याग है। उसकी पृष्ठभूमि में 'आम्नाय,—अपूर्व' इत्यादि क्या कुछ नहीं है। तत्व तथा उसके प्रकृति-प्रत्यय का निरूपण और समाचरणकरण करना तो सर्वविध विद्या व्यवहार (जड़ विज्ञान व्यवहार में भी) की मुख्य विवेचना है। किसी तत्व के सम्बन्ध में प्रकृति-प्रत्यय की स्थिति में ये अनुबन्ध चतुष्ठय प्रसंगतः उत्थित होने लगते हैं। यह सब विवेचना जितनी आवश्यक है, उतनी ही सहज भी है। किन्तु प्रारम्भ में इस मूल तत्व को, उसकी मूला प्रकृति को (रस भूमि में स्वरूप शक्ति को) तथा मूल प्रत्यय (लीला कैवल्य) को मूल में रख कर ही, इन समस्त रूढ़ तत्वों का आदर करना होगा। जो निर्व्यूढ़ है, वह इन सबमें आकर रूढ़ तथा गूढ़ होता जा रहा है। Fact एब्सोल्यूट है, वह प्रैगमेटिक Fact होता जाता है। जो वस्तुतः शुद्ध तत्व नहीं है, उसे भी किसी व्यवहार निष्पत्ति के लिये अविच्छिन्न-परिच्छिन्न करते हुये (अथवा उसी प्रकार से) (उस क्षेत्र में) तत्व मान लिया जाता है। इस प्रकार से मान लेने पर रूढ़ि तथा व्यूढ़ि आकृतिद्वय की उपलब्धि होती है। तत्व का एक एक 'टुकड़ा' (उसके केन्द्र अथवा नाभि के बिना) आदृत (इन एक्सेप्टेन्स एण्ड यूसेज) हो रहा है ! यही है रूढ़ि ! शेष अंश अनादृत (वेल्ड एण्ड इग्नोर्ड) हो रहा है, यही है व्यूढ़ि ! तत्व पर अधिकार किये हुये जो प्रकृति तथा प्रत्यय है, उसको भी यह दो आकृति प्राप्त हो जाती है।

पंक में तो घोंघा इत्यादि का भी जन्म होता है, परन्तु उन्हे पंकज नहीं कहा जाता, पद्म को ही पंजक कहते हैं। मन में तो क्रोध आदि का भी जन्म होता है, परन्तु मनोज (मन से उत्पन्न) अथवा मनसिज तो 'काम' को ही कहते हैं। इस सब में व्यापिका जो अभिधादि शक्ति है, उसे एक निश्चित सीमा में लाकर 'रूढ़' (Rigid) किया जाता है। अक्षर-वर्ण तथा रेखा की एक निखिल अभिव्यञ्जना रहती है, क्योंकि इन सब में प्राणब्रह्म हैं। अतः प्रणव के अ, उ, म, ह्रीं आदि बीज, काली-कृष्ण आदि महानाम के प्रत्येक अक्षरों में प्राणब्रह्म नहीं है क्या ? तब भी विशेष-विशेष अधिकारादि अनुबन्धों के अनुरोध से मानों ये सब अक्ष, वर्ण, रेखा प्रभृति एक-एक विशिष्ट आकृति में रुढ़ होकर आविर्भूत हो जाते हैं। बाकी सब उन-उन अधिकारों के अनुरोध के कारण गूढ़ तथा व्यूढ़ है। अक्षरों की विशेष संहति, समूहादि के कारण भी उनके प्रकृति-प्रत्यय का विचित्र रूपायण तथा रसायन (स्पेक्ट्रोग्राफी-बेसिक बायोकेमेस्ट्री) होता रहता है। प्रणवगत अ उ म तो विभिन्न अधिकार आदि में नाना प्रकार से रूढ़ होते रहते हैं, किन्तु मातृकाश्रुति उनका पर्यवसान अमात्र तुरीय में कर देती है। ह्रीं 'प्रभृति बीजों के सम्बन्ध में यही तथ्य है। अनुबन्धों का अनुरोध है तत्त्व और उन तत्त्वों के अधिकार में है प्रकृति प्रत्यय। प्रैगमेटिक का हिन्दी रूपान्तरण व्यावहारिक उचित ही है। फिर भी इसे 'आनुवन्धिक कहना अधिक उचित लगता है।

व्याकरण के अनुसार स्फोट 'नित्य' है और उसमें ब्रह्मभावना भी हो रही है। यह परापश्यन्ति भूमि से मध्यमा में आकर 'हृदय' में मध्यमा में स्थित होकर 'कण्ठ' में वैखरीरूपेण व्यक्त होता है। उसी समय विशेष-विशेष देश-काल-निमित्त सम्बन्धों का अवतरण होने के कारण वह विशेष-विशेष अनुबन्धानुरोधवशात् विशिष्ट-विशिष्टरूढ़ता को अंगीकृत कर लेता है। रूढ़ता भी नमनीय (इलैस्टिक) है। उसमें संकोच-प्रसार, व्याप्ति की ह्रास-वृद्धि होती रहती है। फलतः स्फोट का निजस्व तत्त्व और तत्वाधिकाराधीन प्रकृति-प्रत्यय यथायथ रूप से व्यक्त नहीं हो सकता। साधारण व्याकरण में धातु प्रातिपदिक है प्रकृति और सुवन्त-तिगंत आदि उसमें प्रत्यय हैं। पराविद्या में (उपनिषद् में) प्राण, आकाश प्रभृति शब्द विभिन्न अनुबन्धों में विभिन्न रूप से अर्थावबोधन कराते हैं, किन्तु अनुक्रमोपसंहारादि षड्-लिंग द्वारा उन समस्त शब्दों की परब्रह्म में लक्ष्यतापर्याप्ति कराने के ही लिये न जाने कितने प्रयास होते हैं। यह सब तब तक नहीं मिटता, जबतक महासमन्वय और परमसमन्वय की उपलब्धि नहीं हो जाती।

इन सब कारणों से तत्व तथा तद्धिकृत्य प्रकृति-प्रत्यय शुद्ध लक्षणों में परम तथा निर्व्यूढ़ होने पर भी व्यवहार की अपेक्षा तथा अनुबन्धों के कारण रूढ़-व्यूढ़ादि द्वन्द्व की धारा में आ जाता है। इसलिये तत्वशुद्धि-प्रकृतिशुद्धि-प्रत्ययशुद्धि भी

प्रासंगिक है। यद्यपि प्रणवादि के जप-ध्यान में इन तीनों शुद्धियों को दीक्षा-शिक्षा सम्मत क्रमानुसार "आनुबन्धिक" रूप से साधना पड़ता है; तथापि सांसिद्धिक में लक्ष्य रखकर ही यह हो सकता है। रसाश्रित साधना भी अन्यथा नहीं है। तुम किस तत्त्व को अच्छा समझते हो और तुम्हारी प्रकृति क्या है, तथा उस सम्बन्ध एवं आधार में किस प्रकार का प्रत्यय होता है अथवा होना आवश्यक है, यही तो प्रश्न है।

अब कारिका का चिन्तन करो :—

> किं नित्यं किमनित्यं वा साधितं किञ्च बाधितम्।
> न तत्त्वमधिकृत्येदं निरुप्यमाणतां व्रजेत् ॥६१॥

क्या नित्य है, क्या अनित्य है, क्या साधित है, क्या बाधित है—इन सबकी कोई निरुपणीयता नहीं है, तत्त्व के अधिकरण को मननादि में नहीं लाने से ! अर्थात् तत्त्व यदि सांसिद्धिक है और उसमें आनुबन्धिक भाव है, तभी इन सब प्रश्नों के समाधेयता का प्रसंग होता है, अन्यथा नहीं होता।

अब प्रकृतिसूत्र कहा जा रहा है :—

१९. प्रकृतिरनन्तरिततथात्वं तत्त्वस्य ॥

तत्व का जो तथात्व है अथवा स्वभाव समरूपता है, यदि वह अनन्तरित रूप से अथवा समरूप से रहती है, उसमें कोई अन्तर किंवा व्यवधान नहीं रहता, तब उस भाव को प्रकृति कहते हैं॥ यह अवश्यमेव प्रकृति का स्वभावलक्षण है। अन्तर अथवा व्यवधान = वहीं Interval principle अथवा Function। देश-कालादि विभिन्न अवच्छेद परिच्छेद के आकार में इसी व्यवधान में क्रिया करते रहते हैं। अन्तरिक्ष सूत्र में इसका परिचय प्राप्त हो चुका है। इस क्रिया की भी अव्यक्त-व्यक्त (पोटैंशियल-काईनेटिक), व्यस्त-समस्त (डिफरेनशियेटेड इन्टिग्रेटेड) आकृतियाँ हैं। व्यवधान प्राथमिक वृत्ति है जो स्वतन्त्र निरपेक्ष (सेल्फ इक्सिस्टिंग अन कन्डीशनल) है, उसे किसी प्रकार के अवतरण की स्थिति (कन्डीशनैलिटी) में ले जाना। अब यह व्यापार शून्य की ओर भी हो सकता है अथवा अनंत की ओर का भी हो सकता है। एकान्त (पूर्ण) शून्य होने पर तत्त्व का तथात्व तथा प्रकृति एक ही हो जाती है। शून्यवत् अथवा शून्यकल्प अवस्था में इसमें कन्डीशनैलिटी का किंचित लेश अथवा छायामात्र रह जाती है। यदि तत्व ध्रुव तथा पूर्ण की भूमि है, तब यह शून्यकल्प (Evanescent) प्रकृति है ध्रुवायमाणता और आपूर्यमाणता की प्रान्त भूमि !

'प्रकृति स्वामधिष्ठाय' यहीं अनिर्वचनीय अचिन्त्यभेदाभेद रहता है, किन्तु तत्व = भगवत्ता = परमाप्रकृति। यह इस अभेद समीकरण रूप से ग्राह्य है। अर्थात्

शून्य तो शून्य ही है। अन्तर जब सान्त है, तब कुछ न कुछ सापेक्ष भाव रहता है, और अन्तर शान्त होता है शून्य अथवा अनन्त में। परा-अपरा प्रकृति के अशेष प्रकृति वैचित्र्य शून्य तथा अनन्त रूपी पराकाष्ठा में ही रहते हैं। व्यवधान की जिन दो वृत्ति का उल्लेख किया जा चुका है, उनमें से एक है पारस्परिक मुख्या और दूसरी है वेधमुख्या। श्री भगवान अथवा भगवती अपने अनन्त ऐश्वर्य का प्रकटन करने के लिये अथवा अशेष माधुर्य के रसायनार्थ जिस स्वीया प्रकृति का आश्रयण करते हैं, वह उनकी परमता में परम है। अथच, उसमें पारस्परिकता मुख्यतः प्रकाशित रहती है। उनकी प्रकृति और वे, दोनों अन्वित, मिलित रूप से अपने ऐश्वर्य-माधुर्य आदि प्रत्ययों को संभावित तथा विस्तारित करते रहते हैं। अपरा प्रकृति में इस प्रकार की शुद्ध पारस्परिकता की भूमि मानों आवरित हो जाती है। अब इसमें वेधमुख्यता परिलक्षित होने लगती है वैरूप्य-वैगुण्य आदि अशुद्धियों द्वारा। जीव की परा प्रकृति-पूर्वोक्त प्रकृतिद्वय की तटस्था स्थिति है। शुद्ध पारस्परिकामुखीन होने पर प्रत्यक् और वेधमुख्याभिमुखीन होने पर पराक्। किसी विशेष सिद्धान्त के अनुसरण के द्वारा नहीं, प्रत्युत् मौलिक तत्वाधार के साथ संगति रखकर विवृत्ति देने का प्रयत्न किया जा रहा है।

यह 'तटस्था' तो भक्ति की "कथा" है, ज्ञानी क्या कहते हैं, इस वाद-विवाद से कुछ नहीं मिलना है। जैसे ज्ञान में—त्वं पदार्थ का पारस्परिकतामुखीन शोधन संस्कार ही प्रत्यक् प्रवणता है। यह प्रवणता होने के लिये दोनों पदार्थों की वेध-मुख्यता को काटना चाहिये। 'वेध' सूत्र में वेध की प्रकारता विवेचित की गई है। 'वेध' ही शोधन से 'वेद' है। योगीगण प्रकृति-पुरुष की छायापत्ति, सन्निध्यमात्रोप-कारता इत्यादि का वर्णन अवश्य करते हैं, किन्तु कार्यतः भवप्रत्यय में वेधमुख्यता ही घटित होती है। प्रांरभ में बौद्धवेध (लाजिकल इन्टरप्रिटेशन) अवश्य है, किन्तु केवल बुद्धि की प्रत्ययधारा मात्र इस बौद्ध में ही आबद्ध नहीं रहती। वह स्वयं को गोचर की Concrete भूमि में स्थापित कर लेती है। अतः योग भी वैराग्यादि का मुख होगा। बन्धवेध से बौद्धवेध, बौद्धवेध से प्रकृति पुरुष की पारस्परिकता में ! जैसे अयस्कान्त (चुम्बक) तथा लौह परस्परतः एक दूसरे को खींचकर परस्परतः आसक्त हो जाते हैं किन्तु जवापुष्प और शुभ्र स्फटिक में एक दूसरे की छाया बनती है। जवा भी शुभ्र स्फटिक के सान्निध्य से शुभ्र प्रतीत होने लगता है, किन्तु ये दोनों एक दूसरे को आकर्षित नहीं करते।

इसके अनन्तर परवैराग्य भूमि में है विवेकख्याति। इसमें भी तत्व तथा तद-धिकृत्य प्रकृति-प्रत्यय के दृष्टिकोणानुसार कुछ 'गोलमाल' है। वह यहाँ विवेच्य नहीं है। जो कुछ भी हो 'अनन्तरित तथात्व' रूप पारिभाषिक लक्षण को अनुबन्धानु-रोध में कथंञ्चित् संकुचत-प्रसरत (इलैस्टिक) करते हुये विश्व-व्यवहार को प्रकृति

वैचित्र्य और प्रत्ययबाहुल्य भूमि में लाना ही होगा। जप है साधन विज्ञान। इस विज्ञान में सिद्धविद्या की खोज तो करना ही चाहिये। विशेषतः उसमें अधिरूढ़ होने वाली सोपानावलि की खोज करना आवश्यक है। मान लो गायत्री का जपध्यान कर रहे हो। गायत्री में 'विद्महे' अधिरूढ़ भूमि है। 'धीमहि' है अधिरुरुक्षु भूमि। कामगायत्री में क्लीं उनकी अनन्तरित तथात्वरूपा प्रकृति है। उसमें अधिरुरुक्षु प्रत्यय (व्याहरण-अनुस्मरण) के माध्यम से विद्महे में अधिरूढ़ हो जाओ। रसभूमि, ज्ञान-भूमि प्रभृति समस्त दिशाओं से इस प्रकृति प्रत्यय में ध्यान लगाओ। अपनी प्रकृति से (आग्रहरूपा) गुरुतत्त्व की प्रकृति (अनुग्रहरूपा) को मिला लो। दीक्षा दोनों प्रकृति की आकृतियों के समीकरण को अंकित कर देती है। तुम्हें अपने प्रत्यय के समीकरण का समाधान (Solve) करना ही होगा। इक्वेशन का शोधन करते-करते अन्त में आईडेन्टिटी (पहचान) प्राप्त करना ही होगा।

अच्छा ! अब यह कारिका—

रज्जुसर्पे भुजङ्गत्वं बन्धत्वमपि चात्मनि।
अन्तरिततथात्वं हि नातः प्रकृतिता मता।
अनुबन्धानुरोधेनाभेदेऽतिन्नापि भिद्यते ॥५२॥

रज्जु में जो भुजंगत्व (सर्पज्ञान) है, आत्मा में बन्धन का ज्ञान है, ये सब ज्ञान तत्व के तथात्व में अनन्तरित (अनरिमूव्ड) नहीं हैं। अतः पहले वाले रज्जुत्व की आकृति में भुजंगत्व नहीं है। आत्मा का शुभत्व-मुक्तत्व ही प्रकृति है। बन्धत्व प्रकृति नहीं है। तथापि अनुबन्धानुरोध से जो अभिन्ना है, उसमें तत्वतः अभेद रहने पर भी भिन्न-भिन्न प्रकृति रहती है (भिद्यते)।

यहाँ पहले प्रकृति सूत्र कहा जा रहा है :—

२०. आकृतिरन्तरितत्त्वेन ॥

तत्व का जो तथात्व है, वह किसी प्रकार से अन्तरित होने पर 'आकृति' हो जाता है। अन्तरित अर्थात् 'अन्तर्हित होना नहीं है ॥

प्रतीत होता है कि जपसूत्र में 'आकृति' शब्द सर्वाधिक व्याहृत हुआ है। वह सत्ता-शक्ति-छन्द-आकृति रूपी चतुष्टयी में बारम्बार व्याहृत हुआ है। इसकी स्पष्टतः धारणा करने के लिए यह लक्षण है। 'आ' स्वर की मुख्यवृत्ति भी बहुधा अपावृत्त तथा उदाहृत हो चुकी है। उसका कार्य है जो आवृत्त है उसे अपावृत्त करना। इसके साथ ही साथ व्याप्ति और काष्ठा रहने पर दिक् तथा मुख की बात भी आ जाती है अर्थात् 'आ' स्वर में जैसे एक ओर अपावरण है, उसी प्रकार दूसरी ओर आवरण भी है। एक को धनमुखी और दूसरे को ऋणमुखी कहा गया है। साधारण दृष्टान्त है दिन में सूर्यालोक। यह एक ओर तमावरण को हटाकर रूपादि का प्रका-

शन करता है, तो दूसरी ओर आलोकरूपी आवरण के द्वारा नैशगगन के नक्षत्रादि ज्योतिष्कपुंजों को आवरित कर देता है।

"आ" में भी इसी प्रकार से द्वैधलिङ्गमुखता है। इसी के साथ 'कृ' और 'तृ' आकर इसे प्राण की एक विशिष्ट (धर्म सम्बन्ध युक्त) आकृति (पैटर्न) प्रदान करते हैं। विश्लेषण के द्वारा यह ज्ञात होगा कि यह पैटर्न तलवृत्तिता, लम्ब वृत्तिता, वेध वृत्तिता के साथ-साथ इन तीनों की संहृत्वृत्तिता और अतिगवृत्तिका की द्योतना कराता है। इस तथ्य को और परिष्कार के साथ आगे कहा जायेगा। यहाँ तलवृत्ति को मूलवृत्ति अथवा भित्तिवृत्ति (बेसिक फंक्शन) कहते हैं। अर्थात् यह है, तभी सब कुछ है। यहाँ इसी के द्वारा आकृति लक्षण को समझो। अर्थात् प्रथमतः तत्व का जो तथात्व है; वह अपनी भूमि में है और उस प्रकार से स्थित रहकर एक अंतर किंवा अन्तराल को स्वीकृति दे रहा है। अतः आकृति के आदिम रूप के सम्बन्ध में इस सूत्र का चिन्तन करो—

१. तथात्वे सति अन्तरालवृत्तितावच्छिन्नसत्तादिकत्वम् ॥

तत्व का तथात्व है, अथच अनिर्वचनीय भाव में एक अन्तरालवृत्ति (स्वयं सत्ताशक्ति प्रभृति में छिपाकर) आ रही है। और तत्व को तदाकार में विशेषित कर रही है। परमेश्वर का निर्विशेष भाव इसी प्रकार (तथात्वे सति) से पर्दे में रहकर सविशेष सर्वज्ञत्व सर्वशक्तिमत्वादि रूप है (अद्वैत सिद्धान्तानुसार मायाधीश शुद्धमायोपाधिकत्व)। भक्ति सिद्धान्त में भगवत्ता अपनी विभूति प्रभृति को अन्तराल में करते हुये द्विभुज-चतुर्भुजादि आकार में हो जाती है। इसमें भगवत्व का तथात्व ही है। विभूत्वादि में तत्व का जो तथात्व है, वह एकदेशित्व, असम्यक्त्व प्रभृति हो जाता है। रस तत्त्व में भगवत्ता के ऐश्वर्य को अन्तरालाच्छन्न करते हुये ही माधुर्य-लीला का प्रकाशन होता है। इन सब स्थलों पर आकृति शुद्ध है। भक्ति सिद्धान्त में चिन्मय अप्राकृत इत्यादि है। दृष्टान्तरूप में अनेक कथायें हैं। यहाँ उनका विचार करना उचित नहीं है।

२. तथात्वे सति पारस्परिकतासम्बन्धावच्छिन्नसत्तादिकत्वम् ॥

तत्व का तथात्व है, इसी कारण तत्व की सत्ताशक्ति प्रभृति एक अनिर्वाच्य पारस्परिकता सम्बन्ध को स्वीकार करना ही होगा॥ जैसे ब्रह्म का स्त्री पुमान् भाव, शक्तिशक्तिमान भाव, युगलभाव, नामनामी भाव। अनेक दृष्टान्त हैं। यह आकृति शुद्ध है। इस स्थल में दो (स्त्री-पुमान, नामनामी आदि पक्ष) में अखण्ड भगवत्ता विद्यमान है। अखण्ड विद्यमाना है। Such Basic polarity is not division and Seperation.

३. तथात्वाऽवितथत्वे सति सापेक्षतावच्छिन्नसत्तादिकत्वम् ।

दार्शनिक प्लेटों ने जिसे Pure Archtypes अथवा Idea कहा है, वे सभी आकृति ही हैं, किन्तु उस आकृति परम्परा (Hierarchy) के साथ वर्तमान धारा को मिला देना उचित नहीं है। इस पूर्वोक्त स्थलद्वय में तत्व का तथात्व नियत परिनिष्ठित सा रहता है। किन्तु इस तृतीय स्थल में वह अवितथ है। यद्यपि वह अन्य-रूप (अदर दैन इटसेल्फ) नही हो जाता, तथापि उसमें नियत परिनिष्ठित भाव नही है, जैसे भगवत्ता के श्रीविग्रह अवतार आदि ! अनुग्रहशक्ति के मूर्त्तरूप हैं श्री गुरु ! इन सब स्थलों पर सापेक्षता के कारण (जैसे शिष्य के आग्रह के कारण श्रीगुरु का अनुग्रह) अन्तर किंवा व्यवधान 'तनिक' सा प्रविष्ट हुआ है। श्रद्धा, विश्वास, भावभक्ति के द्वारा मानो इस 'तनिक' से का पालन पोषण होता रहता है।

४. तथात्वाऽविकलत्वे सति सपक्षेतरसापेक्षतावच्छिन्नसत्तादिकत्वम् ॥

तथात्व अब सम्यक् रूप से अवितथ नहीं है, तथापि उसकी विकलता भी नहीं हो रही है, ऐसी स्थिति में अन्य की सापेक्षता के कारण सत्ता शक्ति प्रभृति के जो भाव हैं, उन्हें भी आकृति कहा जाता है ॥

ध्रुव प्रभृति साधकों के ध्यानादि में जिस आकार अथवा भाव का दर्शन होता है, उसमें ध्याता तथा ध्येय रूपी सपक्ष के अतिरिक्त भी अन्य पक्षों (अनुकूल-प्रतिकूल) की भी किंचित अपेक्षा शेष रह जाती है। किन्तु उस अपेक्षा के कारण यदि तथात्व वैकल्य (वैरूप्य-वैगुण्य) नहीं होता, उस स्थिति में वह भी इतरछाया के कारण यथासम्भव शुद्ध आकृति ही है। पश्यन्ति भूमि में भी दर्शन मात्र ही अवितथ नहीं हो जाता। फिर भी वह यथासम्भव अविकल होना चाहता है। उस स्थिति में अविकल होना चाहता है, जब बाधक किंवा परिपन्थी की प्रबलता घटित नहीं होती। अतः—

५. तथात्व प्रत्ययत्वे सति विपक्षवेधगौणसापेक्षत्व-
सम्बन्धावच्छिन्नसत्तादिकत्वम् ॥

तथात्व अवितथ भी नहीं है, अविकल भी (पूर्णतः) नहीं है। अथच विपक्ष (बाधक संस्कारादि) जनित वेध यदि गौण है और यदि गौणभाव ही सपक्ष-द्वय की सापेक्षता को विशेषित (क्वालिफाई-कण्डीशन) करता है, उस स्थिति में तत्व का जो सत्तादि रूप है, वह प्रत्यक् आकृति के पर्याय में ही होगा ॥ जैसे तुम जापक हो; प्रणवादि तुम्हारा जप्य है। तुम दोनों सपक्ष हो। प्रणव ब्रह्मवाचक है, उसका सपक्ष-विपक्ष कैसा ? तब भी वे कृपापरवश होकर सपक्ष हैं। तुम्हारे विपक्ष में तो राजस-तामस अनेक विपक्षरूप हैं, (धूम्र-धूम आदि विपक्ष), इन सबका वेध भी है (व्याधिस्त्यानदौर्मनस्यादि)। मान लो वेध होने पर भी वह गौण है,

अतः सापेक्षभाव को वेधमुख्य नहीं कर रहा है। ऐसे स्थल पर प्रणव के व्याहरण-अनुस्मरण आदि में जो आकृति है, वह परांङ्मुखीन है। इस क्षेत्र में धूम-धूम्र के मार्जनार्थ धूमा-धूम्रा आकृति का विशेष उपयोग है। क्यों है, इसे विचार कर समझो। साधारणतः धूआं भरे घर को खोलकर उसे धूआं रहित किया जाता है। वह 'आ' स्वर ! धूम के 'म' में (स्पर्शन्ति) जो ज्वाला (चक्षु आदि में) है, उसका परिहार कैसे हो ? धूमस्थल को बंद करो, ढ़ांक दो। अधूमस्थल को उन्मुक्त करो, खोल दो। पुनः वही 'आ' स्वर !

६. तथात्वपराक्त्वे विपक्षवेधमुख्यसापेक्षसम्बन्धावच्छिन्नसत्तादिकत्वम् ॥

विपक्ष का वेध (जैसे जपादि में) यदि गौण नहीं है, मुख्य है, तब तथात्व का पराक्त्व, पराग् भाव हो जाता है। यह तथात्व के अभिमुख नहीं, परन्तु विपरीत मुखी आकृति में संभावित होता है। पहले में शुद्धिमुखता है, दूसरे में अशुद्धि-मुखता है।

७. अतथात्वे सापेक्षस्य विपक्षवेधबाधितसत्तादिकत्वम् ॥

इस अन्तिम स्थल में जहाँ तत्व तथारूप से न होकर अतथा रूप है, वह सापेक्ष सम्पर्क द्वारा (सापेक्षस्य) तत्व की सत्तादि वेधबाधित (विरुद्ध हानोपादान निमित्त से निरोहित) आकृति ही प्राप्त करता है। पहले जिस तथात्व के सम्बन्ध में विपरीतरूपी पराक् की चर्चा की गयी है, उस पराक की काष्ठा कहाँ है ? वह है इस वेधबाधित अतथाभाव में। नाम जप के अपराध में इसी पराक् की विमुखीन प्रवणता ही है। जब अपराध पूर्णतः गुरु (भारी) हो जाता है तब नाम के 'तत्सापेक्ष' का तिरोभाव घटित होने लगता है। अन्यथा नाम तथा नामशक्ति तो तत्वतः निरपेक्ष ही है। सापेक्षता का संचार होने पर ही आविर्भाव-तिरोभाव का प्रसंग उत्थित होने लगता है।

यहाँ आकृति के सम्बन्ध में अधिक विवेचना अनावश्यक है। इस सप्तभूमि में आकृति का आकरण करना होगा अन्यथा सम्यक् आकृति नहीं मिल सकती। यहाँ जपादि का उदाहरण प्रदर्शित किया गया। अपराविद्या में (विज्ञान-गणित आदि में) यह सब पर्याय यथासम्भव उदाहृत हैं। अर्थात् आकृति एक सार्वभौम पदार्थ है। अब कारिका कही जा रही है—

रज्जुः सर्पाकृतिर्वैषा चात्मा देहाकृति पुनः।
एवं मायाकृति धत्ते प्रकृते सा भुववंशात् ॥
पारस्परिकसापेक्षे प्रप्यक् परागिति द्वयम्।
वेधमुख्यत्वगौणत्वे यथोपयोगमाकुरु ॥
कायच्छाये च मायेति त्रिधा चेत् स्थिताकृतिः।
कुण्ठिता गुण्ठिता चापि लुण्ठिता चावपूर्विका ॥६३-६५॥

प्रकृति (तत्व से लेकर जो अनन्तरित तथात्व है) भुवः है। वह अन्तरिक्ष अथवा अन्तरितरूपता के वश के कारण (यहाँ साधारण प्रत्ययभूमि का प्रसंग कहा जा रहा है अन्यथा पूर्वोक्त शुद्ध आकृति में कोई वश्यता नहीं है) रज्जु में सर्पाकृति देह में आत्मा की आकृति धारण कर रहा है। यद्यपि शुद्धभूमि में वश्यता नहीं है, फिर भी 'स्त्रीकार करना' अथवा ऐसा ही कुछ अवश्य है। पहले जिस आकृति को शुद्धाशुद्ध उभय रूप से सप्तधा प्रदर्शित किया गया है, उसी के घटकों को यहाँ ६४ वें श्लोक में संक्षेपतः कहा जा रहा है। इन घटकों का यथा उपयोग आकरण करो। (आकुरु)। 'इह' अथवा साधारण प्रतीति के स्थान में कायाकृति, छायाकृति तथा मायाकृति रूपी आकृतित्रय परिलक्षित होती हैं। उनके भेदक लिंग हैं अवकुंठित, अवगुण्ठित तथा अवलुन्ठित। वस्तु (काया) ठीक है, किन्तु स्व च्छन्द मे नहीं है। वस्तु का स्वरूप आवरित होता जा रहा है। वस्तु का जो स्वभाव है, वह उसी प्रकार से नहीं है। स्वभाव में परभाव, स्वधर्म में परधर्म अध्यस्त अथवा विद्ध है। दीपक को अथवा जीव को वायुरहित गृह में रखने पर वह "स्वच्छन्द" में नहीं रहता। चन्द्र को राहु ने ग्रास किया, वह स्वरूप में नहीं है। प्रतिबिम्ब में बिम्ब भी उसी प्रकार से (यथावत्) नहीं रहता। दूध तो नष्ट होकर दूध ही लगता है किन्तु वह 'स्वभाव' में नहीं है। रज्जुसर्प, देहात्मा के सम्बन्ध में भी यही तथ्य है। अवच्छेद, प्रतिबिम्ब तथा आभास को मायावाद में माया का ही प्रकार भेद अथवा रूप माना गया है। किन्तु हम यहाँ परिणाम तथा विवर्त्त को ही मायारूप में परिभाषित कर रहे हैं। जहाँ "भाण" के रूप में कोई आकृति स्फुरित हो रही है, वहीं यह मायाकृति उपस्थित है। बाह्यादि साधारण जगत् के उदाहरण में इन तीनों की उपस्थिति का सर्वदा द्योतन होता रहता है।

जपादि साधन में इनका अन्वेषण करना होगा। व्याहरण—अनुस्मरणादि व्यवहार से ये तीन प्रश्न करते हुये उत्तर प्राप्त करना ही होगा। और आकृति का शोधन करते हुये उसकी जो वेधरहित शुद्ध भूमि है, उसमें क्रमशः उत्थित होना ही होगा। किसी के द्वारा जप कुण्ठित तो नहीं हो रहा है, किसी कुछ के द्वारा जप गुंठित तो नहीं हो रहा है, किसी कुछ के द्वारा छायाग्रस्त तो नहीं हो रहा है, इन प्रश्नों को करना ही होगा। काया, छाया, माया को प्रयोजन के अनुसार स्थूल-सूक्ष्म-सभी प्रकार से समझो। जैसे कथंचित् सूक्ष्म जप में नाद भाव है काया अनुस्मरण में नाद भाव का स्पर्श ही है छाया। जप के अक्षरों में जो जन्यत्व है, नाशत्व है, अभिघातादिबाधत्व रूपी साधारण आकृति है, वह है माया !

आकृति की आलोचना किंचित पारिभाषिक रूप से हो गई ! जिन सिद्धान्तों का प्रसंग उपस्थित हुआ, जो सब प्रसंग आये, वे विचार चिन्तन के लिये नहीं लाये गये, प्रत्युत् जपादि साधन में जिस सर्वसिद्धांत साधारण आधार भूमि को प्राप्त

करना होता है, उस आधार भूमि के दिग्दर्शनार्थं इन्हें विवेचित किया गया। सिद्धांत संघर्ष और सिद्धान्त संकर का यथासम्भव परिहार करते हुए अभ्यारोह और समापत्ति साधन को साधना होगा।

अब विकृति का लक्षण देखो :—

२१. विकृतिः सत्यन्तरितत्वेऽतथात्वे चेतरवेधापत्तिः ॥

अन्तरित होने पर जो अतथा भाव आता है, उस अतथाभाव में अन्य का वेध होना ही विकृति है ॥

आकृतिसूत्र में सप्तधा का विवरण देने पर हमने वेधसम्भव (गौण अथवा मुख्या) विकृति की उपलब्धि किया है। तत्व से अनन्तरित रहने पर तो प्रकृति ही रहती है, किन्तु अन्तरित होने पर (जैसे पूर्वोक्त शुद्ध आकृतिस्थल में) उसे विकृति नहीं कहा जा सकता (उस स्थिति में जब कि अन्तरित होने पर भी तत्त्व, सत्तादि जैसे पहले था उसी प्रकार रहे, च्युत न हो)। किसी रूप में अन्तरित होने पर लक्षण तथा परिभाषा में कुछ न कुछ अन्तर (डिफरेन्स) अवश्यम्भावी है। यह भी अतथात्व का व्यापक अर्थ है, तथापि जब लक्ष्य और अभिधेय (The Thing Without respect to its logical appreciation and description) तत्वतः हानोपादान प्रतियोगी अथवा विषय नहीं है (अर्थात् Logical difference without real distinction), और सत्ताशक्ति इत्यादि का सत्व सम्पर्क बना है, उस स्थिति में सत्य से कुछ भी नहीं गया और न उसमें कुछ युक्त ही हुआ। इस स्थिति में इसे विकृति कहना उचित नहीं है।

'द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तञ्चामूर्त्तञ्च' यहाँ कौन विद्याविषयक रूप है, कौन अविद्याविषयक है, इस प्रश्न को आचार्यगण ने उठाया है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि ब्रह्म के मूर्त्तभाव को विकार अथवा विकृति नहीं कहा जाता, उसे विवर्त्त कहा जाता है। अद्वैत मतानुसार विवर्त्त में तत्त्व की अन्यथापत्ति नहीं होती, फिर भी अनिर्वचनीय ख्याति के कारण अन्यथापत्ति संभावित रहती है। रसिक भावुकगण विवर्त्त को अन्य प्रकार से भी प्रत्यक्ष करते हैं। दोनों ओर क्रमशः है अस्ति और भाति, मध्य में है प्रिय तथा आनन्द अथवा रसवस्तु ! मानों अस्ति और भाति ही मध्य में स्थित को निद्रा में मग्न रखते हैं, रस को शान्त, मौन, स्वलसितता में रखते हैं। रस भी स्वयं को अस्ति तथा भाति रूप में ही जानता है। रसिकगण इसे परमता का स्वयं स्वादुभाव कहते हैं, किन्तु वे इसे सम्पूर्णता का स्वयमास्वादन कहने में कुण्ठा का अनुभव करते हैं। आनन्द या रस मानों जाग्रत होकर अपने इस स्वसंवेद्य भाव को स्वयमावेद्य भाव से प्रस्फुटित कर रहा है। इसके अतिरिक्त रसवस्तु की उल्लास-विलासादि लीला संभव ही नहीं हो सकती।

प्रारंभ में रसवस्तु का मुख शुद्ध अस्तिता-भातिता की ओर रहता है। अब वह अपनी ओर घूम जाता है। साथ ही साथ रसवस्तु के स्वरूपाकर्षण के कारण अस्तिभाति भी अपना मुख उसी की ओर घुमा लेते हैं! अपनी रस जागृति के साथ यथासंभव इस आदिम ब्रह्मवैवर्त्त को मिला लो। रसवस्तु का स्वभाव इस प्रकार ब्रह्मवैवर्त्त हो जाता है। स्वलसित और पुन: विलसित! इससे रसतत्व का अन्यथात्व (अन्यभावभासितत्व) होता है किन्तु अन्यतापत्ति नहीं होती। यद्यपि जपसूत्रम् में अन्यता एवं अन्यथा का व्यवहार नहीं किया गया है तथापि 'अतथात्व' कहा गया है। अद्वैतवादी ब्रह्म के अधिष्ठान में जीवत्वादि अध्यास को विकार अथवा परिणाम नहीं कहते और रसिकपक्ष वाले रस के स्वलसित आधार पर जो उल्लास-विलास है, उसे भी विकार नहीं मानते। जहाँ आकार है, वहाँ विकार भी अचल है। अत: व्यापक में जो 'अतथा' है, उसके साथ इतर-रेखापत्ति युक्त स्थिति में समस्त पक्षों को बुलाकर एक साथ बैठाना होगा। जो आवर्त्त सिद्धान्ताभिधात के कारण है, उसे हटाते हुये जप की नौका को स्वच्छन्दता से चलाने के लिये इन सब का आयोजन है। अब काम की बात। याग में प्रकृतियोग, आदि रहते हैं। संगीत में विकृत तथा शुद्ध स्वर की स्थिति रहती है। गणित में प्रमेय पदार्थ की प्रकृति विवेच्य है। जैसे सोडियम का स्पेक्ट्रम, प्योर कार्ब अथवा फारमूला इत्यादि। जपादि में विकृत की खोज विशेष रूप से रखना पड़ता है। विशेषत: ब्याज (वैगुण्य) तथा विघ्न के रूप में। गायत्री जप में "धियोयोन:" विकृति है। तारचक्र में विलय-उदय रूपी विकृति है। सूक्ष्म में-प्राण तथा भाव की भूमि में विकृति की ही स्थिति रहती है। Sub Conscious (अन्त:श्चेतना में-चित्त में) भी उपद्रव तथा उपसर्ग आदि अधिकता से रहते हैं। प्राणभूमि, भावभूमि, मनन-चिन्तनादि भूमि में जो समस्त 'अतथा' है, अथवा स्वभाव में प्रकृति में नहीं हैं, उन्हें (जप:च्छन्द, भावच्छन्द तथा ज्योतिच्छन्द के द्वारा) "तथा" कर लेना ही साधना है! गणित, विज्ञान तथा संगीतादि के क्षेत्र में 'अतथा' को 'तथात्म' कर लेना ही साधना है। जहाँ वैरूप्य-वैगुण्य आदि है (भले ही वे ग्रह के कक्षवर्त्म में हों अथवा संस्कार भूमि में हों) वहाँ इस 'वि' को 'सम' कैसे करना, यही तो समस्या है!

इतरवेधापत्ति की जिस आकृति को प्रदर्शित किया गया है, उसका यह रूप शुद्धस्थल में नहीं रहता। कुछ पहले विवर्त्तद्वय की विवेचना अंकित की गई है, उसमें भी इतरवेधापत्ति का यह रूप नहीं रहता। नित्य अपरिणामीं परिणाम में उतर आने पर भी विद्ध नहीं हो सकता। जपादि साधन में इन सब 'वादों' को छोड़कर एक सुस्थिर सामान्य आधार में ही स्थित रहना श्रेयस्कर है। अभ्यारोह तथा समापत्ति सम्यक्‌रूपेण हो जाने पर ही महासमन्वयी और परम समन्वयी भूमि पर आरोहण हो सकेगा। वहाँ सर्वविसंवादसंवादिनी स्थिति रहती है। Supreme Synthesis

and Reconcilliation। तब भी विसंवाद को त्यागकर स्वानुबन्धानुरोध रूप सिद्धान्त का समाश्रय लेना चाहिये। स्वानुबन्धानुरोध का मार्ग स्व च्छन्द में उन्मुक्त रखना ही जपसूत्र में विज्ञेय है और इसे ही एक साधारण तत्व-तथ्य-मार्ग-चर्या के आधार पर प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। 'तथा' शब्द का व्यापक अर्थ है "ठीक इसी प्रकार" अथवा 'ठीक इसी भाव में'। न्याय की रीति से एक "मांजा-धोआ" लक्षण भी दिया जा सकता है। जहां तत्प्रकारता, तद्विशिष्टता इत्यादि का अभाव है, उस अभाव का प्रतियोगित्व इसी 'तथात्व' में है। यह सामान्य परिभाषा है। और भी सुचिक्कन रूप प्रस्तुत किया जा सकता है, परन्तु उसका यहां क्या प्रयोजन ? इसका तो बड़ा जाल है, किन्तु आकृतिसूत्र में इसकी वेधरूपता का उल्लेख किया जा चुका है। दोनों के वेध के अतिरिक्त यदि अन्य विपक्ष का वेध संभावित हो सके, उस स्थिति में आकृति गुरुव्यतिक्रम को विकृति कहना उचित है।

'वेध' को अच्छी तरह समझने का प्रयोजन है। यहाँ दो वृत्तों का अंकन करके परस्पर वेध तथा इतर वेध का चित्र उत्खचित कर लो। जैसे वर्गीय समीकरण (क्वैडरेटिक ईक्वेशन)। इसमें अज्ञात राशि एक ही रहती है। इस आकृति में 'C' रूपी एक राशि को दिखाया गया है। इसका मान किसी प्रस्तावित स्थल पर ध्रुव (कान्सटेन्ट) है। यदि यह किसी एक अज्ञात द्वारा (जैसे Y द्वारा) इस प्रकार से विद्ध हो जिससे यह उक्त प्रस्तावित स्थल पर भी अध्रुव हो जाये, तब उक्त समीकरण का समाधान जैसे दो 'मूलों' द्वारा किया गया है, अब उस रूप से समाधान नहीं हो सकता। सत्ता-शक्ति-छन्दः तथा आकृति में ही विपक्ष वेधसंभव हो सकता है और जपादि साधन मे इस वेध का उद्धार हो जाता है। जैसे यदि हम जप के अक्षर अथवा वर्ण (अ उ म आदि को) को सत्ता कहते हैं प्राण तथा भाव को शक्ति कहते हैं, व्याहरणादि यथार्थ रीति को छन्दः कहते हैं और अर्द्धमात्रादि सम्पूर्ण आकृतियों को आकृति कहते हैं, उस स्थिति में किसी भी वेधजन्य विकृति को आने देना उचित नहीं है।

आकृति की ही तरह वेध को भी काया-छाया तथा माया रूप से परखना पड़ता है। इन चारों का स्वरूप देखो :—

(१) जपकाल में अक्षर बल, नाद बल, ज्योति बल तथा भाव बल को स्पष्टतः तथा मुख्यतः साथ रखकर जो जप चल रहा है, वही है उस समय काया।

(२) इस काया के साथ अनुषङ्ग तथा आनुषंङ्गिक रूप से जो रहता है अथवा जिसका रहना उचित है, (और जो मुख्य काया के उपकारक रूप से) जो मुख्य की सेवा करता है, वही है छाया।

(३) जो काया एवं छाया के अतिरिक्त किसी कल्पित-आरोपित रूप से रहना

चाहती है अथवा रहती है, वह है माया ! सृष्टि के सब कुछ में इसका रूप स्थित रहता है ।

सृष्टि के समस्त में, सब कुछ में यह त्रिधाविन्यस्त रूप परिलक्षित होता रहता है । कहीं कोई बेधशंङ्का घटित होने पर यह देखना होगा कि इन तीनों में से कौन कार्यरत है, तभी उसका प्रतिकार करना ही होगा । श्रुति का कथन है कि मुख्य प्राण असुरविद्ध नहीं हो सकता, अतः जपादि को मुख्यप्राणभूमि में उर्ध्वोत्थित कर सकने पर वेध की आशंका तिरोहित हो जाती है । यह कैसे होता है ? यह होता है नादादि सन्धान द्वारा । अब मुख्यप्राण की अवेध्यभूमि का पथ उन्मुक्त हो जाता है । यह एकबारगी नहीं हो सकता । यह वेधरहित स्थिति अथवा भूमि प्राप्त होती है नाद-ज्योति तथा भाव का आश्रय लेते हुये साधन पथ में अग्रसर होने पर, अनेक 'चढ़ाई-उतराई' द्वारा और प्रयास द्वारा ! बाधरहित भूमि इससे और आगे है ! वेधभूमि में भी एक संकट का स्थान है, उसे वधभूमि कहते हैं । इसे शंकरधारा का आश्रय लेने पर ही उत्तीर्ण किया जाता है, तब अवेध भूमि (शुद्धभूमि) प्राप्त हो जाती है । यहां आनेपर मिलती है बोधभूमि-शुद्धज्ञान तथा शुद्ध रसरूपा ! यह शुद्धि 'बाधमात्र विरह' रूपा हो जाने पर बाधभूमि भी उच्छिन्न हो जाती है । तब है स्वतः सिद्ध भूमि । इस भूमि में साध तथा बाध दोनों की परमता साधित हो जाती है ।

सम्बन्धित जो सूक्ष्म विज्ञानभूमि है उसमें बाद में दृष्टिपात किया जायेगा । अणु से महान् पर्यन्त विश्व में अन्तर्बहि स्थितिस्थापकता (इलैस्टिसिटी) देखता हूँ । विकार (स्ट्रेन) तथा संस्कार (स्ट्रेस) सर्वत्र ही सहग तथा सहानुपाती रूप से विद्यमान है । कहीं पर अनुपात सौषम्य की ओर है, कहीं पर यह वैषम्य की ओर है । सितार का तार बाधनें पर (स्ट्रेन करने पर) ही उसमें सुषमता होती है, अन्य प्रकार से नहीं हो सकती । अन्दर भी यही 'व्यापार' चलता है । विकार होने पर संस्कार कहता है "मेरा कर्म इसे ठीक करना नहीं है, शंकर अथवा शंकरी को पुकारो ।" लट्टू घूमता है । छूटते ही एक बार डगमगाने के पश्चात् (छूटने वाले धक्के में सन्तुलित होने के पश्चात्) वह अपने स्व छन्द में घूमने लगता है । पातक का पुनः-पुनः होना ही पातित्य है । इन सब के मूल में है मौलिक स्पन्द विज्ञान । अतः जिसमें संस्कार है वह एनस् मन्यु, पाप्मा को वेधसंकर में नहीं आने देता । प्रकृति की अपनी स्थितिस्थापकता को उत्तर 'जबाब' देना पड़ता है, अथवा अन्यत्र अंगुल दिखलाना पड़ता है ।

और एक बात है, वेधमात्र ही बाधक नहीं है । व्याधिग्रस्त शरीर में क्या अस्त्रोपचार बाधक है ? दूध फटकर नष्ट होना एक स्थिति है और उसका दही के रूप में जमना और ही बात है, स्थिति है ! यद्यपि दोनों ही विकार हैं । जब हमारे द्वारा भुक्त अन्नादि में विकार होता है, तभी वह पचता है । यदि पेट में जाने पर

वह जैसे का तैसा रह जाये, तब तो 'गोलमाल' होने लगेगा। गान में भी विकृत स्वर रहता है। याग में भी विकृति याग है। अतः प्रयोजनानुसार विकृति भी उपादेय ही है। इस विकार में फटे दूध की खट्टी सी गंध नहीं है, प्रत्युत् ताजी अच्छी दही की सुन्दर गंध है। मान लो कि तुम्हारा जप सोम मात्रा में ही चल रहा है और इसमें सम्यक् रूप से चल रहा है। तथापि इसमें 'स्त्यान' आ गया! गुरु ने कहा कि कुछ दिन जप में अग्नि मात्रा में स्थिर रहो, यह विकार ही संस्कार हो जायेगा। जो शुद्ध दूध नहीं पचा सकता, उसके लिये मट्ठे की व्यवस्था की जाती है। तुम उसे चाहते हो, ठीक है। तब भी उससे बीच-बीच में 'मान' करो, मुख फिरा लो! इससे रस में बाध (बाधा) की जगह साध ही होगी। इस स्थिति में विकार प्रकारद्वय का सिद्ध हो जाता है संकर विकार और शंकर विकार। आशा करता हूँ कि इन सब प्रसंग की विवेचना आगे हो सकेगी!

द्वे वृत्ती अन्तरीक्षे स्तः स्वर्भूरित्यत्र मेलनात्।
एकया ह्रियते सर्व मन्ययापूर्यते तथा ॥६६॥
एतयोः सहपातित्वेऽन्यथाभावेऽपि तत्वतः।
वेधे प्रसज्यमाने च विकृतिर्व्यपदिश्यते ॥६७॥
सहपातित्वानुपातित्वाद् व्याप्यन्ते गुणकर्मणो ॥
वृत्तयो व्रक्रजिक्षाद्या अनुलोमविलोमतः ॥६७॥

पूर्वालोचितः स्वः एवं भूः के अन्तरिक्ष में मिलित हो जाने के कारण अन्तरिक्ष में युगपत् वृत्तिद्वय हैं अर्थात् हरण तथा पूरण वृत्ति। अर्थात् निखिल पदार्थ में जो 'अन्तर' अथवा व्यवधान है, उसकी ही ये दोनों वृत्तियाँ हैं। जैसे जीव कोष (मेटाबलिज्म) चित्त आदि। इन दोनों का सहपातित्व अथवा सहगत्व होने पर जो तत्त्व है (Thing as it is, without plus or minus) उसका अन्यथात्व अवश्यमेव घटित होता है। क्योंकि हरण भी हो रहा है और पूरण भी हो रहा है। यदि यह हरण पूरण सम्यकतः स्व छन्द में नहीं हो रहा है, तब तो वेध होने पर (किसी इन्ट्रूडिंग, इण्टरफरिंग फैक्टर आने पर) क्या होगा? विकृति होगी। निखिल कर्मों की जो वक्र जिक्षादिक नाना वृत्ति अनुलोमतः दृष्ट होती है (बाह्यतः एवं अन्दर में) वह अन्तरिक्ष की हरणी-पूरणी रूपी सहगा वृत्ति के अनुपात (रेशियो) पर निर्भर करती है। जैसे बाहर कोई ग्रह जब अपने कक्ष में कुछ व्यतिक्रम का द्योतन करता है, तब यह धारणा होती है कि कोई अन्य ज्योतिष्क उसका अपने आकर्षण द्वारा वेध कर रहा है।

यहाँ भी अनुपात का ही प्रश्न है। साधन में कामादि वासना जन्य वेध होता है। जप-ध्यान-कीर्त्तन में इसी प्रकार की जिक्षता घटित होती है। वासनावेध ही गुरुवेध है। प्रथमतः इसके आईसोलेशन में इलिमिनेशन का और अन्त में सब्लि-

मेशन का उपाय खोजना होगा। जिसे यहाँ अनुलोम कहा गया, उसमें शत्रुपुरी में भी मित्रता को लाने का संकेत निहित है। कामना-वासना विलोमा हैं, अतः प्रमाथिनी हैं। इन्हें अनुलोमा करो, इससे ये सब प्रमन्थनी हो जाती हैं। काम के द्वारा काम, क्रोध के द्वारा क्रोध तथा लोभ के द्वारा लोभ को प्रथमित करो। अब वे तुम्हें प्रमथित नहीं कर सकेंगें। जप में नाद तथा भाव ही आन्तरिक रक्षक हैं "अन्तः गोपौ" हैं। दूसरे खण्ड के परिशिष्ट में जिस निरक्षा भूमि का वर्णन है, वहां तो वेध का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। 'ध्रुवाक्ष' में वेध प्रतिहत है उसी प्रकार जैसे महाभारतोक्त शिव के दिव्य किरात कलेवर में। अन्तरक्षा वेध संभावित है, किन्तु उसके लिये नाद तथा भाव रक्षक हैं। इन्हें छोड़ना नहीं चाहिये। और बहिरक्षा में वेध को स्थान मिल जाता है। (सहपातित्व—को इन्सिडेन्स। अनुपातित्व—कोआर्डिनेशन, कोरिलेशन, प्रपोर्शनैलिटी)।

२२. प्रकृतिमुद्दिश्य व्यापारवत्त्वं प्रत्ययत्वम् ॥

प्रकृति के सम्बन्ध में उसकी (इन रिगार्ड टू, विथ रिफरेन्स टू) व्यापारवत्ता प्रत्यय भाव से जानों ॥

[यहाँ प्रति—अय (इ धातु) में जो प्रति है, उसके द्वारा प्रति को केवल तदभिमुखीन (To-words) अर्थ में नहीं लिया गया है। किन्तु जो व्यापारवत्ता प्रकृतिसम्बन्धसापेक्षत्वावच्छिन्न है, उसे प्रतियोगी भाव से (अर्थात् किसका व्यापार कौन सा व्यापार) लिया गया है। व्यापार शब्द न्याया की परिभाषा का अनुसरण करने पर सम्यकतः विदित नहीं हो रहा है। जप साधनशास्त्र है, अतः मुख्य प्राण का कोई विषय 'किस ओर अभिमुख है' इत्यादि विशेष-विशेष मान स्वीकार करने पर गति प्रयोगादिरूप वृत्तिमत्व ही यहाँ पर प्रत्ययरूपेण अभिप्रेत हो जाता है]

आकृतिभिश्च स आकार्यावेध्यो विकृतिभिः पुनः।
उद्दिश्य प्रकृतिं याति भावज्ञानक्रियात्मकः॥ ६९॥

पूर्वोक्त आकृतियाँ प्रकृति को नानाभावेन आकारित करती हैं। कुछ दूर तक विकृतियां नाना प्रकार से वेधविद्ध भी करती है (आ)। इस प्रकार से प्रकृति का आकरण-आवेधन करते हुये प्रत्यय व्यापार चलता रहता है। प्रत्यय का जो व्यापार है, उसकी भी समग्र विस्पष्ट छवि (आकृति) रहती है। प्रत्यय की उस समग्र छवि से आकृति विकृति नहीं मिलती। प्रकृति के योग से प्रतिकृति-अनुकृति प्रस्फुटित हो सकती है, फिर भी आन्तर दृष्टि के द्वारा पहले ही भाव-ज्ञान-क्रिया के रूपत्रय को पहचान लो। प्रथम है भाव—होना, होते रहना (To be-and to become)। मन के दृष्टिकोणानुसार (ज्ञान) यही है "Feeling" (we are and become as we feel)। द्वितीय है जानना (To apprehend-To know)—

Thinking। पुन: डेकोर्टस् की उक्ति 'Cogito ergo suu' 'अर्थात् जानता हूँ अत: हूं' का स्मरण करो। तृतीय है करना (क्रिया) संकल्प अथवा कार्य—willing। अब शोपेनहावर की उक्ति 'The world as will' का स्मरण करो। योगवाशिष्ठ में भी विश्व की यह चित्तसंकल्परूपता अथवा स्पन्दनरूपता बहुधा प्रपंचित है। ये आन्तररूप ही (To be, to know, to do) मौलिक प्रत्यय हैं। बाहर इनका संकोचरूप है। इसी प्रत्यय प्रसंग का अनुसरण हो रहा है, अत: अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं है। फिर भी एक दृष्टान्त ! जप में मन्त्र, ऋषि, देवता, छन्द: तथा विनियोग रूपी पाँच अवयव रहते हैं। यदि मन्त्र को प्रकृति कहा जाये, तब ऋषि एवं देवता शुद्ध आकृति हैं। विनियोग है प्रत्यय, छन्द सन्धिरक्षा तथा पुष्टि दोनों ही करता है। अर्थात् छन्द: सन्धि में स्थित रह कर प्रकृति की शुद्ध आकृति की विषमविकृति से रक्षा करता है। उसे मंत्र की परमाप्रकृति प्राप्त कराता है। अत: "सन्धि को पकड़ो"। छन्दोभंग मत होने दो।

२३. वाक्कायबुद्धिप्रत्यया अपि ॥

(इस सूत्र में जप सम्बन्धित उपयोग (Relevancy) और भी विस्पष्ट हो रहा है) प्रत्यय ही वाक् प्रत्यय, कायप्रत्यय और बुद्धि अथवा धीप्रत्यय रूपी आकृतियों को ग्रहण करता है ॥

जैसे साधारण गायत्री जप में वाक् प्रत्यय=व्याहरण। काय प्रत्यय=पूर्वा न्यासादिपूर्वक आसन; जितेन्द्रियभाव, प्राणसमता आदि। धी प्रत्यय=धीमहि धियो-योन: प्रचोदयात्" यही है धी वृत्ति का साहित्य। इन सभी दृष्टान्तों को एक साधारण आकृति में लाया जा रहा है।

वाचाङ्गेनापि बुद्धया च कारकान्वयवृत्तिता।
प्रत्यये सति वर्त्तन्ते वाक्प्रत्ययादय: क्रमात् ॥७०॥

वाक् के द्वारा, अथवा अन्य द्वारा, किंवा बुद्धि के द्वारा प्रत्यय का जो 'अग्र' (गतिवृत्ति) है, वह अणु है, पश्चात्गमन करता है, अनुषंग करता है Imply अथवा Enquire करता है। किसका ? कारक का। गीता के 'अधिष्ठानं तथा कर्त्ता' प्रभृति में इसी कारक का ही समाचार दिया गया है। कारक कहने पर कौन ? किसे ? किसके द्वारा ? किसके लिये ? प्रभृति प्रश्न उत्थित होते हैं। प्रत्यय को भंग करके देखने पर यही अनेक मूल प्रश्न आते हैं। जैसे वाक् जप हो रहा है। कौन कर रहा है, क्या कर रहा है, किसके द्वारा कर रहा है, किसलिये कर रहा है, कहाँ से कर रहा है, किसके सम्बन्ध में कर रहा है, किस अधिकरण में कर रहा है, प्रभृति कारकान्वयवृत्ति के अभाव में इस जपरूप वाक् प्रत्यय को पकड़ सकना कठिन है। काय एवं धी के सम्बन्ध में भी यही सब प्रश्न होते हैं। सब को लेकर ही प्रत्यय

का 'आधार पट' स्थित है। प्रत्यय की रेखा (curve) को इस आधार पर प्रस्फुटित होने देना होगा। तभी सम्पूर्ण आकृति (कम्प्लीट पिक्चर) प्राप्त हो सकेगा। इसके लिये 'एक्सरे' का भी प्रयोजन है। प्रत्यय को काट कूटकर टुकड़ा करने से कोई लाभ नहीं है। यदि 'संपूर्ण' को ब्रह्म कहे तब 'माहं ब्रह्मनिराकुर्याम्'। अर्थात् प्रत्यय के प्रत्यययोग्य पुरारूप तथा भाव को हम निराकृत करके नहीं रखते। रेखा की बात आई है, अतः—

२४. अनुतनुरव ऋजुवक्रप्लुताश्चापि ।।

प्रत्ययवृत्ति है सार्वभूमिकी। सभी भूमियों में प्रकृति के उद्देश्य से (जैसे गणित में Base, origin, Frame, Field as given इत्यादि है) प्रत्ययरूपी व्यापार तो रहता ही है और प्रत्येक स्थल में (स्पष्टतः अथवा अन्यथा) यह कारकान्वय भी है। अन्वय के निर्णायक सूत्र (इक्वेशन) को प्राप्त करने पर प्रत्यय का निरूपित रेखाचित्र (अंशतः) दिखलाया जा सकता है। रोग ताप अथवा अन्य परिमेय उपसर्गों को भी रेखा द्वारा प्रदर्शित कर सकते हैं। इसके द्वारा रुजप्रत्यय के संबंध में विद्या का विनियोग संभव हो जाता है। जप में भी यही है। द्वितीय खण्डोक्त छन्द प्रसंग में इसे उदाहरण के साथ विवेचित किया गया है। यहां यह कहना है—

एक आकृति में प्रत्यय है अणू-तनु उरु। अन्य आकृति में है ऋजु-वक्र-लुप्त। केवल बहिर्विज्ञान में ही नहीं, जपादि साधनाओं में भी इन त्रिपुटीद्वय का सविशेष उपयोग रहता है।

उरुर्व्यक्तं तनुः सूक्ष्मं कारणमुद्दिशेदणुः।
प्लुतिविप्लुतिसंप्लुतिरूपा प्लुतिस्त्रिधा मता।
ऋजुस्तत्त्वं छविं वक्रः प्लुतश्चधुरमिच्छति ।।७१।।

जो स्थूल व्यक्त है, उसमें पूर्वोक्त कारकान्वय (अर्थात् कौन, किसे) रूप से जो प्रत्यय है उसे कहते हैं उरु। जैसे टेबुल के ऊपर तुम्हारा एक गेंद रक्खा है। मैंने हाथ द्वारा टेबुल पर से गेंद उठाकर भूमि पर रख दिया। यहाँ प्रत्यय स्थूल व्यक्तभाव से ही हो रहा है। विज्ञान में Molecular, Atomic इत्यादि क्रम द्वारा प्रत्यय को क्रमशः सूक्ष्म में लाया जाता है। यह भी देखा जाता है कि एक सीमा पार हो जाने पर सूक्ष्म का पहले वाला छन्दः परिवर्त्तित हो जाता है। एलोपैथिक क्रमशः सूक्ष्म में आ रही है परन्तु होमियोपैथी तो सूक्ष्म का ही कारोबार है। जप में वैखरी रूप से प्रत्यय व्यक्त तथा स्थूल है, तब भी उसकी गति सूक्ष्मा है। मध्यमा में सूक्ष्मवत्ता की प्रधानता रहती है। सूक्ष्म में संचरित प्रत्यय को तनु कहते हैं। कारण स्थिति में प्रत्यय को अणु कहा जाता है। मध्यमा में अव्यक्त सूक्ष्म गाढ़ता अधिक रहती है। (गाढ़ता = Density)। मध्यमा का आश्रय लेकर स्फोट अव्यक्त रहता है। व्यक्त की भूमि केवल मात्र स्थूल वैखरी ही नहीं है। यदि ऐसा होता, उस स्थिति में जो

द्रष्टा अथवा ऋषि हैं, उनका मंत्रादि दर्शन स्थूल ही होता, उसमें स्थूल का जन्यत्व-नाश्यत्वादि धर्म अवश्य रहता। पश्यन्ति में सूक्ष्म है वितत (Expanded), विशोधित (Refined) तथा सुव्यक्त। यहाँ से कारण का सन्धान (अणुप्रत्यय) प्रारंभ हो जाता है। यह सन्धान समाप्त होता है परा में। परा भूमि में गति होने पर ही मूल प्राणब्रह्म स्पन्दन को सम्यक् रूपेण 'प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्' रूप से आयत्त किया जाता है।

अन्य दृष्टि से प्रत्यय त्रिविध है ऋजु, वक्र तथा प्लुत। उसमें तत्व को ही प्रकृति मानने पर तदभिमुखी प्रत्यय ही ऋजु प्रत्यय है। जिसमें हान तथा उपादान का निषेध है वह है तत्त्व। Pure Thatness. इसमें निर्व्यूढ़ रूप से अथवा सापेक्ष रूप से भी व्यवहार हो सकता है। यदि यहाँ तत्त्व के सम्बन्ध में प्लस-माईनस दोनों का निषेध करें, तब उसके सम्पर्क में जो 'अन्तर' अथवा व्यवधान है, वह उदासीन (न्यूट्रल) रूप हो जायेगा। आपेक्षिकतावाद के अनुसार वह अन्तरिक्ष (स्पेस-टाईम इन्टरवेल with respect to that pure Thatness) सूक्ष्म तथा अवक्र (Even) होगा। उसमें कोई भी पक्षपातादिजनक संस्कारवेध (इनट्रिनसिक अनईवेननेस और पार्शियैलिटी) नहीं रहेगी। अतः इस क्षेत्र में जिस परिमाण में राग-द्वेष-अभिनिवेष, अनृतत्व तथा अनृजुत्व उत्पादक फैक्टर को शून्य के आसपास लाया जा सकेगा, प्रत्यय की वक्रता उतनी ही समाप्त होती जायेगी। अतः ऋजु होना ही मुख्य साधना है। ये सब अनृतत्व अनृजुत्व उत्पादक अधिकतर वासना में ही निवास करते हैं। "असतो मां" इत्यादि अभ्यारोह को, अनृत-अनृजु को, ऋजु तथा ऋत करने वाला मार्ग कहा गया है। समावृत्ति में समापन हो जाता है।

अब वक्र ! यह तिरछा होने पर तो उत्तम है किन्तु टेढ़ा-मेढ़ा होने पर तो भयावह है। वक्र को छोड़कर तो कुछ नहीं होता, होगा भी नहीं। वक्र के जिक्ष तथा क्रूरादिरूप को काटकर उसे 'उदासीमुख' करना होगा। अर्थात् वह केवल टेढ़ा-मेढ़ा होकर बंधन के बाद बंधन रूप नही बनेगा, बंधन की गाँठ को भी और मजबूत नहीं करेगा परन्तु उलटकर उन सब बंधनों को ढीला करने की रुचि दिखलायेगा। अन्त में पुनः प्लुत। प्रत्यय का 'मान' (Measure, quantitative, qualitatative) धारारूपेण (प्लव) चलना चाहता है। ह्रस्व से दीर्घ, दीर्घ से प्लुत इस प्रकार से एक ओर वेगवान होना ही प्लुत है। विपरीत दिशा में वेगवान होने पर है विप्लुप्त। आरोह अवरोह में तल-लम्ब-वेध ये तीनों ही हैं संम्प्लुत। जैसे तारचक्र में उदय = प्लुत। विलय में विप्लुत। समग्र अभ्यास में (मेरुलंघन न करते हुये) कम्प्लीट रिवाल्यूशन ही सम्प्लुत है।

प्रणव आदि के द्वारा इस संम्प्लुत भाव के संसिद्ध होने पर ही 'तावान् सर्वस्य वेदस्य' इत्यादि है। अर्थात् उस स्थिति में सर्ववेद का जो 'अर्थ' (प्रयोजन) है वह

अर्थ चरितार्थ हो जाता है। जप के प्रत्यय में इस प्लुति का विचार करना अत्यन्त आवश्यक है। इसलिये कारिका में कहा गया है 'ऋजु जिस तरह तत्व को चाहता है, उसी तरह वक्र (कर्वेचर प्रिंसपल) छवि की अपेक्षा करता है (world as picture, as representation, as review)। इसी प्रकार प्लुत चाहता है आवर्त्तमान भुवन चक्र की धुरी (Axis) को। Axis धुरी मिलने पर तो सब रुक गया। अब अभ्यास, आवृत्ति नहीं है। जप में इसकी आवश्यकता है विषम-चक्र-जालच्छित्, सुषमचक्रजालच्छित तथा भूवनचक्रनाभिभित् रूप में! तत्व (Pure given on presentation) तथा छवि (Review) रूपी भेद भी जपादि साधना में करना होगा। दोनों एक नहीं है। छवि में छाया, वेध प्रभृति की संभावना रहती है। 'छाया' को अभावरूपी पदार्थ मानना त्रुटिपूर्ण दृष्टिकोण है। भाव पदार्थ ही "छाया रूपेण संस्थिता"।

अब आता है गाँठ अथवा ग्रंथि का प्रसंग :—

२५. विशेषतः प्रत्ययपरिपन्थिनो ग्रन्थयः ॥

विशेषतः प्रत्यय की जो परिपन्थी है, वही ग्रंथि है ॥

हृदयग्रंथि, ब्रह्मग्रंथि प्रभृति का वर्णन अनेक स्थल पर सुना कहा गया है। वर्त्तमान स्थल पर भी रिप्रेसन, फिक्सेशन, कम्प्लेक्स इत्यादि प्रकार से ग्रंथि की विवेचना की गयी है। कतिपय विद्वान् 'अहं' को चिद्चिद् ग्रंथि कहते हैं। जैसे गृह्णाति—ग्रहण करता है। इसमें जो 'हा' उच्चारित है, वह शक्ति की व्याकृत विस्ताररूपता का सूचक है। जैसे स्रोत की वाहिता अथवा व्यापिता। इसके रहने पर फिक्सेशन और कॉम्प्लेक्स संभावित नहीं होता। जैसे यहाँ 'आ' को छोड़ा गया। फलस्वरूप 'ह' हो गया स्थाणु (स्टैटिक अथवा रेस्ट एनर्जी)। यह आगे वाले 'त' का आश्रयण करता है। इसके फलस्वरूप यदि 'त' अपनी तलवृत्ति में (In its given plane and state) बद्ध (Bound, Consealed, Stagnated) हो जाता है, और आदि में गति अथवा प्रत्ययसूचक जो 'ग' है वह अपने 'ऋ' कार (कर्षणी को) गुण बना लेता है, तब वह हो जाता है अव्। यह उलट कर (र रूपेण) स्वयं को बद्ध कर देता है। इन सब प्राणिक व्यापार की संहति का परिणाम है ग्रंथि। 'गृ तथा ग्र' का उच्चारण करके यह देखो कि 'गृ' में तो 'ग' मुक्त है परन्तु 'ग्र' में बद्ध है।

ग्रंथि तो गृह्णाति की ही जालबद्ध छवि है। प्रत्यय गतिरूप से कुछ पकड़ने का उद्यत है, परन्तु उससे ग्रंथि कहती है "यहीं अटक जाओ"। अतः ग्रंथि है प्रत्यय-परिपन्थी। अन्तराल में अन्तर अथवा व्यवधान आकर अटक जाता है। प्रत्यय के अपने पथ में (curve में) जो भेदापेक्ष संकटरूपता है, वही है परिपंथी। भेदापेक्षा

है, उसे 'विशेषतः' भेद करना है। काया-छाया तथा माया इत्यादि विशेष प्रकार से इन सब विशेष को सविशेष जानना होगा। ग्रंथि कहाँ पर है ? यह प्रश्न। यदि जप में नाद को काया कहें, उस स्थिति में क्या नाद श्रवण में कोई ग्रंथि तो नहीं आ रही है, तब किस आकार में आ रही है ? आश्रित भाव के संदर्भ में भी यही तथ्य है। भगवत् प्रीति के लिये जप हो रहा है। किन्तु क्या वह अधोग जिक्षग सकामभाव में उतर कर कोई अलग जाल तो नहीं बिन रहा है ? काय अथवा काया के साथ नित्य आनुषंगिक रूप से छाया विद्यमान रहती है। यह काया के साथ अन्वित रहती है। यह काया के चारों ओर सूक्ष्म परिमण्डलाकृति (Spherical Projection) में भी रहती है।

संभवतः स्थूल-सूक्ष्म समस्त वस्तुओं का यही कायापरिवेश रहता है। छाया का तात्पर्य Shadow समझता हूँ, किन्तु यह वास्तविक छाया की तुलना में मात्र उपच्छाया ही है। जैसे यह पृथ्वी। इसकी जो कठिन काया है, उसे लेकर जो दूरन्तव्यापी परिवेश है, वह केवल वायुमण्डल नहीं है। इसमें 'आयनोस्फीयर' की स्तर (Layer) परम्परा भी परिलक्षित होती है। ये सब अनेक क्षेत्रों में एक सूक्ष्म वर्म के समान पृथ्वी की मर्मवस्तु की रक्षा करते हैं। साधारण छाया तो आलोकादि रेडियेशनों को ढाकने वाला उपाय है। जो कुछ भी हो कायग्रन्थि की ही तरह छायाग्रंथि भी है। पृथ्वी की कायग्रंथि का फल है भूकम्प, अग्निजनित उत्पात आदि। छायाग्रंथि के कारण झंझावत, मैगनेटिक स्टर्म आदि। जो आरोपित है उसे माया कहने पर पृथ्वी में मायाग्रंथि का अनुभव होता है। जब धूमकेतु प्रभृति का सान्निध्य होता है, तब वही मायाग्रंथि है। जातक अथवा शिष्य के राशिचक्र का विचार करने पर यही त्रिविध ग्रंथियां विवेचित होती हैं। यदि गान की राग के रूप को काया कहते हो, तब गमक मूर्च्छनादि में तान-वितान (रिसोनेन्स)-को छाया कहना पड़ेगा।

कुछ और का आरोप करने पर वह अन्य प्रकार से परिलक्षित होने लगती, फलतः विभ्रान्ति होती है वही 'कुछ और' ही माया है। इन सब स्थूल दृष्टान्त के द्वारा अध्यात्म जीवन में साधना को तीन भूमियों में सजाते हुये यह सन्धान करो कि ग्रंथि कहां है। जैसे तुम्हारे मंत्र-गुरु-इष्ट। जैसे इनका अपना रूप (काया) है, उसी प्रकार नित्य-अनुषंग-परिवेश रूप भी है। यह है काया की अपनी छाया। परन्तु तुम तो अपने संस्कार तथा कल्पना के वश में होकर अपने कायातत्त्व तथा छायातत्त्व में अनेक कुछ का आरोप-प्रत्यारोप कर रहे हो। तुम्हारे द्वारा प्रदत्त हान तथा उपादान कल्पित हैं। अतः मायिक हैं। किन्तु कल्पित होने मात्र से ग्रंथि बाधक नहीं हो जाती। कभी-कभी साधक सन्धि भी संभावित हो जाती है। (मिथ्या काल्पनिक के प्रति) विचार करना तथा उनसे असंग रहना ही उन्हें काटने का दृढ़ अस्त्र है। अब

और दृष्टान्त मत लो। फिर भी संधि ग्रंथि, सेतु ग्रंथि तथा मेरु ग्रंथि क्रमिक रूपेण विवेच्य हैं :—

> क्रियाजन्यान्वयाज्जन्या कारकैश्च समुद्भवा।
> वृत्तिर्विषमवेद्धत्वे गृह्णाति ग्रन्थिरुपताम्।
> ग्रथ्नाति ग्रन्थते ग्रन्थिर्ब्रह्मविष्णु च रुद्रकः ॥७२॥

क्रिया से उत्पन्ना जो वृत्ति है, जो वृत्ति क्रिया के साथ जन्य-जनक सम्बन्ध में रहती है, जो-जो वृत्ति कारक से और क्रिया कारक के अन्वय से जात होती है; वह वृत्ति विषम वेध ग्रस्त होने पर ग्रंथिरूप हो जाती है। अब ग्रंथ धातु से भी समझो। जैसे जप। यह क्रिया है। तुम्हारे वाक्, प्राण, मन तथा तुम भी स्वयं, यह सब कारक हैं। क्रिया तथा कारक में आनुगत्य, सहयोग ही अन्वय है। इन तीनों के द्वारा पाँच विषमस्वरूप ग्रंथियों के स्वरूप की खोज करके जप करो। वह जप के अक्षर, साहित्य, मात्रा और छन्द में गाँठ बाँध देती है। उन्हें उत्थित नहीं होने देती। तुम्हें अपने आप में भी नहीं उठने देती। तुममें और जप में जो सहपातित्व सहयोग, सौहार्द सामरस्य है उसे भी नहीं होने देती। अतः Concordant Relation होना चाहिये। समस्त विश्व ही द्वन्द्व की भूमि है। यह द्वन्द्व ग्रंथि में भी परिलक्षित होता है। इसी कारण ग्रंथि भी संकर तथा शंकर, दो प्रकार की होती है। एक है क्षय-क्षोभ ग्रंथि, द्वितीय है योग-क्षेम ग्रंथि। यज्ञोपवीत ग्रंथि का चिन्तन करो। शंकर ग्रंथि में इन पाँचों में से अंतिम दो की मुख्यता है। वह अच्छी वस्तु को अलग करके अच्छी तरह बाँध कर रखती है। आन्तरिक अच्छे भाव तथा शुद्ध अनुभूतियों को भी बाँधकर (शंकर ग्रंथि) रखती है। उसे खोलकर तथा प्रकट रूप से नहीं रक्खा जाता। इस प्रकार से शंकर ग्रंथि अशुद्धि प्रत्यय की परिपन्थी है। वह साथ ही शुद्ध पथ की परितः पंथी, सहायक तथा सुहृदपन्थी भी है। जैसे पथयात्री के पथ का सम्बल (भोजनादि-धन आदि) गांठ बाँध कर उसके साथ रक्खा जाता है, उसी प्रकार से ! अपने सम्बल को अपने 'गिरह' में बाँध कर रक्खो, किन्तु वह गाँठ ऐसी नहीं होना चाहिये कि वह 'टेढ़ा-मेढ़ा' बँधा हो, समय पर खुले ही नहीं, अथवा गाँठ ढीली होकर सम्बल मार्ग में ही बिखर जाये। यह होने पर संकर संकट हो जाता है।

ग्रंथि को सब प्रकार से प्रदर्शित करने के लिए 'ग्रथ्नाति ग्रन्थ्यते' प्रभृति दो रूपों (ग्रथ्यते—ग्रन्थ्यते) को दिखलाया गया है। अन्त में एक बार आगे जाकर यह लक्षित होता है कि क्रिया मात्र में जो व्यक्ताव्यक्त मुक्त—रूद्ध द्वन्द्व रहता है, वह है सदसद् ग्रंथि (ब्रह्म ग्रंथि)। कारक में जो सुःख दुःख, आत्म-पर द्वन्द्व रहता, उसे मुद्मुद् ग्रंथि (रूद्रग्रंथि) कहते हैं। और इन दोनों के अन्वय के कारण जो द्रष्टृ-

दृश्य, ज्ञातृ-ज्ञेय द्वन्द्व रहता है, उसे कहते हैं चिदचिद् (विष्णु ग्रंथि)। इन मूल ग्रंथिरूप को और भी सूक्ष्म रूप से समझना होगा। यहाँ ग्रंथियों की मात्र फलतः (प्रैक्टिकल) आकृति का ही प्रदर्शन किया गया है। इसे संकर-शंकर, जिस भाव से भी क्यों न लो. इन मूलग्रंथित्रय को अन्त में हटाना ही होगा।

अब ग्रंथिभेदार्थं शुद्धि प्रत्यय को समझो——

(२६. ग्रंथिभेदे सव्यापारः शुद्धि प्रत्ययः ।।

ग्रंथि भेद कर्म में व्यापारवान प्रत्यय को शुद्धि प्रत्यय कहा जाता है ।।

संकर ग्रंथि समूह का तो भेद करना ही होगा। भेद का तात्पर्य है ग्रंथि के पंचावयव में से प्रथम तीन (जिक्षता, क्रूरता तथा वेधकता) का परिहार करना ही होगा। इसमें ऊँ, ऐं, गुरु, शिव-शिव आदि नामों का व्याहरण तथा स्मरण सहायक है। सब शंकर ग्रंथि हैं (जैसे पथ का सम्बल। जिसे शठ-तस्करों से छिपाकर गाँठ बाँधा है। ताकि "मर्त्तस्य धूर्त्ति" उसे निकाल न ले !) उन्हें भी गुरु के चरणों में, इष्ट के द्वार पर खोलना ही होगा। कहना होगा "सम्बल बल प्रभृति बल भी तो तुम्हारी ही कृपा है ! तुम्हारा नाम है ! यदि मैं आत्म अभिमान के कारण गाँठ बाँधे रहता हूँ, तुम स्वयं उस गाँठ को खोलकर इस अयाचित निधि को अपने ही पास रख लो"। शंकर ग्रंथियों के मोचन का भी एक परम स्थान प्राप्त होना चाहिये। अन्यथा जिसे तालु मूल में दबा रक्खा है, उसे दाँतों से काटने में कितने क्षण लगेंगे ! और सर्वान्त में ग्रंथित्रय तो है ही !

उद्दिश्य प्रकृतिं याते प्रत्यये हि पदे पदे ।
शुद्धिमिच्छति बाधन्ते ग्रन्थयः आणवादयः ।।७३।।

आणवो बीजनिष्ठो थोऽङ्कुरग्रन्थिवस्तु तानवः ।
प्ररोहग्रन्थिरन्यश्च पाशव (पाटव) उर्ध्व एव च ।।७४।।

शुद्धि प्रत्यय जब अपनी प्रकृति अथवा स्वभाव की ओर चलने लगता है, तब उसे पग पग पर (शुद्धि की इच्छा रहनें पर भी) आणवादि ग्रंथि परम्परा जनित बाधा प्राप्त होने लगती है। जब तक इनका भेदन नहीं हो जाता, तबतक शुद्धिकामी (जपादि) प्रत्यय की वास्तविक शुद्धि नहीं होती। यहाँ ग्रंथि को आणव-तानव तथा उर्ध्व, इन भावत्रय से देखा जा रहा है। एक बीज का दृष्टान्त ! जो बीज में निहित है, वह है आणव ग्रंथि। तुम्हारे द्वारा जपा बीज (यदि वह मैत्र-सम्बन्ध में नहीं है) इस ग्रंथि से युक्त हो सकता है। तुम जापक हो, यह तुम्हारे बीज में भी रह सकती है। अथवा जप के बीज तथा तुम्हारे अपने बीज का अन्वय जिस छन्द, शक्ति तथा आकृति में हो रहा है, उसके मूल में भी यह रह सकती है। सूक्ष्म में जो अंकुरभाव है, उसका ग्रंथिग्रस्त होना ही है तानव। प्ररोह में उर्व ग्रंथि होती है।

बीज से ही प्ररोह पादप होते हैं। मध्य में है अंकुर का अन्वय। अर्थात् प्ररोह तथा पादप के मध्य अंकुर की स्थिति रहती है। अंकुर में ग्रंथि होने पर (अर्थात् वाक्-प्राण-चित्त की सूक्ष्म उन्मेष भूमि में) अंकुर-प्ररोहादि का उदय नहीं हो सकता।

इसी प्रकार प्ररोह-पादप में (स्थूल में--उरू में) ग्रंथि होने पर सम्यक् सफलता नहीं मिलती। विफलता-निष्फलता प्राप्त होती है। पाटव से स्थूल ग्रंथिभेदन करो! इसमें पशुभाव की अथवा पाशव की जो ग्रंथि है, उसे काटो। सूक्ष्म में स्थित ग्रंथि को लाघव द्वारा उच्छिन्न करो। पाश की ग्रंथि के गौरव को न्यून करते हुये उसे लघु–लघीयान–लघिष्ठ करो और अपने (अभिमान) कल्पित गुरुत्व को श्री गुरु के गौरव में पूर्णतः लघु करते हुये मिला दो। लघु-गुरु ज्ञान पूर्ण सम्यक् रूप से होना चाहिये। अन्यथा गुरुत्व-गुरुत्व में 'हाथापाही' होती है (अर्थात् अपने गुरुत्व को लघुत्व करके गुरु के गुरुत्व में मिला देना चाहिये।) यही है प्रकृष्ठ वीरभाव साधन। पाश के पास वज्र है किन्तु उसके पैर के नीचे धूल है! अन्त में आणव को काटो आर्जव द्वारा। ऋजुनिष्ठ होते-होते पाशमुक्त सदाशिव! 'टेढ़ी मेढ़ी' गाँठ युक्त हुये बिना तो ग्रंथि होती नहीं। प्रकारान्तर से उर्वादि इन ग्रंथित्रय को ब्रह्मग्रंथि प्रभृति रूपत्रय में भी देखो। अब देखो--बीज कारक रूप है। स्थूल प्ररोहादि क्रिया रूप है और सूक्ष्म अंकुरादि हैं अन्वय रूप। बीज में प्रकृति अथवा स्वभाव अव्यक्त है। अव्याकृत है। उस बीज का स्वभाव विकृत न होना अथवा रूद्ध न होना और प्रकाशित रहना–यही है उसका शुद्धि प्रत्यय। अच्छे जमीन का पादप अच्छी जमीन में ही प्रचुर फलित होता है। किन्तु वह रूप क्या है? यही अगले दो सूत्रों में कहा जा रहा है।

[यह भी स्मरण रखना होगा कि शुद्धि प्रत्यय में वस्तुगत्या (As fact), भावगत्या (As feeling) तथा बोधगत्या (as appriciation) रूपी तीन प्रत्यय होना आवश्यक है।]

२७. प्रकृतेः प्रत्ययलेपनिमित्तकप्रत्ययनुप्रत्ययः प्रतिकृत्यनुकृति ॥

प्रकृति में प्रत्यय 'लेप' के लिये जो प्रति प्रत्यय, अनुप्रत्यय, संभावित होता है, उसे प्रकृति तथा अनुकृति कहते हैं॥

'लेप' शब्द को व्यापक रूप से प्रयुक्त किया गया है। 'प्रत्ययव्यापार सम्बन्ध सापेक्षत्वावच्छिन्न व्यापारवत्वं'। प्रत्यय का व्यापार हुआ। उस व्यापार सम्बन्ध से सापेक्ष व्यापार प्रकृति में भी हुआ (Nature reacting to a process or action bearing upon it) यही है प्रकृति में प्रत्यय का लेप। फोटोग्राफिक प्लेट है। उसमें रश्मि प्रत्यय हुआ। परिणाम हुआ प्लेट पर प्रतिक्रिया! इस प्रतिक्रिया द्वारा जो चित्र प्राप्त होता है, उसे प्रतिकृति कहते हैं। यहाँ पर लक्षण व्यापक है। कानकेव मिरर (Concave Mirrors) में शब्द आलोकादि वीचि प्रत्यय

मिलते हैं। केन्द्रीणता--फोकसिंग द्वारा स्फटिक आदि कितने ही दृष्टान्त हैं। रसायन के क्षेत्र में द्रव्य क्रिया आदि प्रत्ययों के कारण अशेष परिणाम होते रहते हैं। रोग में कोई औषधि देने पर यह देखना पड़ता है कि प्रकृति (नेचर अथवा धातु) किस प्रकार प्रतिक्रिया करती है। सभी क्षेत्रों में ऐसे दृष्टान्त हैं। नेचर को तो सूक्ष्म सूक्ष्मतर मानना होगा। जैसे सामान्यत: अपरा एवं परा।

परा ही Basic है 'बीजमव्ययम्' है। अपरा में स्थूल--सूक्ष्म, राजस-तामस इत्यादि अन्तरिक्ष (मीडिया) बीच में रखते हुए प्रकृति प्रत्यय का 'कारोबार' चलता है। अत: वेध—जिक्षता आदि (Absorption-Refraction-Defraction इत्यादि) संभावित हो जाते हैं। व्यवधान शुद्ध होने पर यह विक्षोभ (विक्रिया-अपक्रिया) नहीं रह जाती। एकबारगी शुद्ध होने का अर्थ है अपरा के अध: से परा को मुक्त करते हुये उर्ध्व में रखना। नामजप, ध्यान, भजन आदि जो कुछ 'परमा' के लिये किया जा रहा है, ऐसा शुद्धरूपेण स्व छन्द ही परा में पहुंचे (शुभ प्रत्यय लेप) और परा भी शुद्ध—अवितथ रूप से शुद्ध प्रत्यय की प्रतिकृति तथा अनुकृति को प्रस्फुटित करते हुये प्रदर्शित करे। उस शुद्ध प्रतिकृति (Pure reflection and representation को देखकर समझोगे कि जप की इतनी महिमा—गरिमा तथा मधुरिमा है। और केवल शुद्धि प्रतिकृति में ही नहीं, अनुकृति में भी ! प्रकृति तथा प्रत्यय की शुद्धि के द्वारा शृद्धकृति में (व्यापार में) अपूर्व पुष्टि तथा ऋद्धि होने लगती है। इसमें आता है Reosnance effect-सुषमस्पन्द समुच्चय। इससे क्या होता है ? प्रकृति ही प्रत्यय का आपूरण करने लगती है। भाव स्वभाव को जाग्रत कर देता है। स्वभाव वृद्धि करता है भाव की ! यह प्राण की समस्त भूमियों में होता है।

अपरा का उपद्रव लेप तो अशुद्ध है। अब शुद्धि प्रत्यय का कार्य होगा इस लेप को क्रमश: 'लेश' करना, अन्त में लोप करना। इसी लेप की अशुद्धि द्वारा जप आदि में लगता है कि मल से आवरित स्थिति है, सब साधन मानों मन्द हो रहा है, व्यर्थ होता जा रहा है। सम्यक् प्रकृति का स्पर्श मिले बिना केवल कतिपय व्यर्थ भ्रमपूर्ण प्रतिकृति और मन्द अनुकृति को लेकर साधन करना, अर्थात् 'झक् मारना' ! श्री गुरुकृपा का सम्वल मिलना चाहिये। अब मन्दी भी हो जायेगी तेजी अथच सान्द्रा।

क्रियानुपातिनी या हि प्रत्ययस्य प्रतिक्रिया।
प्रकृतेरनुरोधात् सा प्रतिकुर्याद् द्विरूपतः।
आभासप्रतिबिम्बावच्छेदविकल्पना ततः ।।७५।।

प्रकृति के उद्देश्य से कोई प्रत्यय हुआ। इस प्रत्यय की जो क्रिया है, उसी के अनुपात में एक प्रतिक्रिया अवश्य ही है। यह प्रतिक्रिया प्रकृति के अनुरोध से

पूर्वोक्त रूपद्वय में (प्रतिकृति तथा अनुकृति) आकारित होती है (प्रतिकुर्यात्)। यह लक्ष्य करो कि प्रत्यय की ओर से अनुपात है और प्रकृति की ओर से है अनुरोध। परा में स्थिति होने पर यह अनुरोध अनुग्रह शक्ति के अनुरोध में रूपायित हो जाता है। तब क्रिया का अनुपात (Proportionality) अनुग्रहानुरोध में जैसा अपरा में था, वैसा नहीं रह जाता। तब क्रिया-भाव आदि अनुपातभूमि में नहीं रह जाते। अपरा के समान परा 'वाह्य प्रकृति' भी वहीं है। वहाँ स्वसत्ता सम्बन्धादि अनुरोध रहते हैं। वह कह सकता है कि 'उस भाव-उस सम्बन्ध में मैं नहीं रहूँगा।' प्रकृति में जो लेप है, वह क्या आभासमात्र है, अथवा प्रतिबिम्ब एवं अवच्छेद है, इन सब विकल्पनाओं की विवेचना कालांतर में होगी। यहाँ इनकी प्रासंगिकता नहीं है।

प्रकृतिगत प्रत्यय लेप अशुद्ध होने पर उसकी शोधन क्रिया को संस्कृति कहते हैं। अनुकृति को स्वस्थ सबल बनानें वाली क्रिया है उपकृति। श्रीगुरु, सन्त प्रभृति की सेवा तथा आनुगत्य के द्वारा यह दोनों सहज तथा स्वाभाविक हो जाती हैं। संस्कृति के लिये आवश्यक है दीक्षा। उपकृति के लिये शिक्षा। दोनों मिलाकर प्रत्यक् संग।

अब प्रकृति को अपनी प्रतिकृति में देखनें का प्रयत्न करो। सब कुछ का 'लेखा' तो तुम अंकित करके रखते हो। कौन सुश्री है कौन विगतश्री है! किन्तु अपनी प्रतिकृति, अपना लेखा ?

२८. बीजनिष्ठशक्ति कूटप्रतिकृतिर्हृल्लेखा ॥

बीज अथवा कारण में निगूढ़—अविनाभावेन स्थित जो शक्तिकूट है, उस शक्तिकूट की प्रतिकृति को हृल्लेखा कहते हैं॥

जैसे बीज अथवा कारण को प्रकृति कहा जाता है। परन्तु यह ज्ञान नहीं है कि वह प्रकृति कैसी है, उसमें निगूढ़ रूप से क्या है, क्या नहीं है ? इस सम्बन्ध में कोई प्रत्यय नहीं हो रहा है। किन्तु जानने के लिये प्रत्यय का प्रारम्भ हुआ। (जैसे विज्ञान में, योगज ज्ञान में)। विज्ञान का प्रत्यय है यन्त्रादि की सहायता से परीक्षा तथा समीक्षा में। योग का प्रत्यय है संयम (माइन्ड कन्सट्रेशन)। इन सब प्रत्ययों के द्वारा प्रकृति ने जिस जिस प्रकार से प्रतिक्रिया अथवा प्रतिप्रत्यय किया, वह है उसकी प्रतिकृति। किन्तु चित्र तो अनेक प्रकार के परिलक्षित हो रहे हैं। बाहर का अणु विराट सभी उसकी "घरेलू छवि" है। उसे "हाँड़ी" का समाचार मिलता जा रहा है (सब कुछ का समाचार उसे प्राप्त होता जा रहा है) ! इसमें संदेह नहीं है कि मन के क्षेत्र में साईकोएनेलिसिस के द्वारा अन्दर के गुप्तचित्र भी ज्ञात होते जा रहे हैं। किन्तु 'शनैः पन्थाः' के समान। इसका अन्त अथवा अवधि कहाँ है ?

गण्य-गाथा की सुविधा अधिक होनें पर; अर्थात् छन्द: एवं आकृति 'माप' में आने पर भी मानों सत्ता तथा शक्ति और भी गहन तथा गम्भीर में डुबकी मारने लगे हैं। वस्तुत: छन्द तथा आकृति सत्ताशक्ति के ही प्रकट रूप हैं। बीज-करण-आकृति प्रभृति सत्ताशक्ति में ही निगूढ़त: निहित से रहते हैं।

अत: वे सत्य प्रतिकृति है। सत्य छवि अंकित न होने तक सब कुछ बाह्य हैं, छायाचित्र किंवा मायाचित्र है। विज्ञान अणु की केन्द्रीण प्रतिकृति अंकित करता है। इस कार्य में सफल भी हो रहा है, परन्तु क्या वह मर्मचित्र अंकित कर सका है? प्राण, चेतना, आनन्द प्रभृति को अवान्तर रखने पर क्या कोई कर्मचित्र प्रस्फुटित हो सकेगा? यह सत्य है कि प्रत्येक पदार्थ का जो मर्मांक: (Inmost Core) है, वहाँ पर सत्ताशक्ति स्वयं को एक निगूढ़ व्यूढ़ रूपता में विन्यस्त रूप से प्राप्त करती है। आगे के सूत्र में इस मर्मांक: को 'हृत' की संज्ञा से देखा जायेगा। अतएव इस हृदय का जो निगूढ़ निश्चित शक्तिव्यूहरूप (Inmost Power Structure or Basic Dynamic Diagram) है. वही है हृल्लेखा। इस हृल्लेखा में ही उत्तीर्ण होने पर बीजादि सम्बन्ध में विज्ञानादि के प्रत्यय शुद्धिप्रत्यय हो सकेंगे। और हृल्लेखा में पहुँचने पर ही शक्ति मण्डल (पावर फील्ड) के अर-नेमि तथा मूल नाभि पर्यन्त गति हो सकेगी। और नाभि तो 'सब' है। जो बीज प्रत्यय इस नाभि में ले जाता है और वहाँ से 'सब' का दोहन कर सकने में साधिष्ठ, समर्थ है, वह है 'ह्रीं'।

यहाँ पर 'परम' पर्यन्त प्रत्यय को ले जाने वाला प्रयास नहीं किया जा रहा है। परम में जो प्रपञ्चोपशम, एकान्त शुद्ध निरञ्जन भाव है, वह समस्त लेखा और प्रत्यय की अवसान भूमि है। निरञ्जन भाव को अवास्तव (माया) अथवा अवान्तर (छाया) मानने पर पूर्ण निर्व्यूढ़ता की भूमि ही नहीं रहेगी। सब कुछ पर साक्षेप व्यूढ़रूपता की छाया आ पड़ेगी। पक्षान्तर से निर्विशेष निरंजन परम में चाहे जो आकार हों (आभासादि वाद इस बार मल्लयुद्ध में आ सकते हैं), उनके साथ-साथ एक अनिर्वचनीय सकल सविशेष रूप भी है। महामाया सूत्र में वह तत्व पूर्णत: विवेचित हो चुका है। यहाँ इस परिपूर्ण सकल भाव के मूल में जो परिपूर्ण कलाशक्ति (क्लीं) हैं, वे सृष्टि के सब कुछ में हृल्लेखा के रूप में अनुप्रविष्ट रहती हैं। इस भाव में वे हैं ह्रीं। यह बीज तथा अन्य समस्त बीज शक्तिव्यूह जब परम लाघवरूप होता है तब है परम विन्दु। इस विन्दुरूप में ब्रह्म सर्वत्र ही अनुप्रविष्ट रहते हैं। अत: बिन्दु ही है परम हृल्लेखा। अथच यह परम हृल्लेखा (विन्दु) सब कुछ में पूर्णरूप रहती है। यह स्वयं को विशेष-विशेष हृल्लेखा की आकार में (सत्ताशक्ति में छन्द में आकृति में) अशेष सुषमा के साथ, सौष्ठव के साथ लीलायित करती रहती है। अशेष सुषमा का लीलायन है 'श्रीं'। परमा

सकला की इन सब शुद्ध सम्पूर्ण आकृति-प्रकृति में जो निर्बाध शुद्धिप्रत्यय है, वह है ऐं। वाग्भव अथवा गुरुबीज।

बीजे या पुटिता शक्तिश्छन्दसा व्यूढतां गता।
हृल्लेखा साऽपि विज्ञेया स्वव्यूहच्छान्दसच्छविः ॥६७॥
श्रीलेखा कामलेखा च वज्रलेखा पुनस्त्रिधा।
सौष्ठवं कामतन्त्रञ्च चामोघत्वं यथाक्रमम् ॥७७॥

बीज में शक्ति सम्पुटिता निगूढ़निष्ठिता है। छन्दसा—अपना (Intrinsic) छन्द ही व्यूढ़रूप (बीजप्रकृति ही आकृति रूप से विन्यस्ता) हो जाता है। बीज प्रकृति की इस प्रकार की स्वशक्ति-स्वछन्दः, स्व आकृति को हृल्लेखा कहते हैं। यह श्रीलेखा, कामलेखा तथा वज्रलेखा रूप से प्रकारत्रय की है। सौष्ठव, कामतन्त्र अथवा स्वतन्त्र तथा अमोघत्व (Rhythmic Spontaneous, Sure) ये तीन यथाक्रम लक्षण हैं। श्रीं क्लीं, ह्रीं बीजत्रय के योगद्वारा श्रीं ह्रीं क्लीं ह्रीं ह्रीं ह्रीं। इसी के साथ शुद्धि प्रत्यय बीज है ऐं। अब हृत सूत्र है :

२९. स्थेष्ठ-नेदिष्ठ-मर्मौकस्त्वं हृत्त्वं सर्वस्य।

सब कुछ की स्थिरतम, अस्तिकतम अथवा निकटतम मर्मस्थानता 'हृत्' शब्द के द्वारा अभिधेय है॥ 'स्थेष्ठ' कहते हैं जो अस्थिर अनियत (Varying—Fluctuatiug) में (एकान्तिक निर्व्यूढ़ न होने पर भी अपरा और उसकी विचित्र विकृति की अपेक्षा से) जो नियत तथा ध्रुव है (जैसे बहिर्विश्व में Cosmic Constant; प्राणिजगत में Continuity of the Germplasm इत्यादि)। सब कुछ चक्र अथवा मण्डलाकृति (asephere, Pocket- field) होने पर भी स्वयं को एकाधिक प्रकोष्ठ (Ring) में सजाता है (जैसे पृथ्वी, वायुमण्डल, अणु, कोष)। इन सब प्रकोष्ठ में जो अन्तरम है, वह नेदिष्ठ है। रसभूमि में रासमण्डल का केन्द्र अथवा नाभि है रासकमल कर्णिका। जीव का पंचकोष अथवा सप्तकोष उसका अपना जगत् है। 'ययेदं धार्यते जगत्' यह है जीवत्व अथवा जीव की स्व प्रकृति। अन्य वाक् के सम्पर्क से प्रणव, प्रणव के अपने स्वसम्बन्ध में नाद विन्दु कला ही है त्रयीरूपा अर्धमात्रा। (अर्थात् जो जगत् को धारण करती है, वह अर्धमात्रा है)। उसका समाश्रय लेने पर उसी के अन्वय तथा अनुवाद से (as dependent Relation and as its rendering) इस वस्तु के व्यापार व्यवहार की पटभूमि निर्धारित होती है। तभी कहा गया है 'मर्मौकः'।

पहले अनुबन्ध चतुष्ठय के सम्वन्ध में कहा जा चुका है। (विषय सम्बन्धादि) वह किसी विशेष क्षेत्र में इसी मर्मौकः भाव तथा धर्म के द्वारा निरूपित होता है। प्रतिबन्ध चतुष्ठय (अवरोध प्रतिरोध आदि) भी वही है। सम्बन्ध चतुष्ठय (मन्त्र-मन्त्री-मन्त्रदाता मन्त्रित) भी वही है। इस मर्मौकः अथवा बेसिक फ्रेम को छोड़कर

कुछ भी गणना योग्य नहीं है, इसी मर्मौक में व्यष्ठित्व (Individuality) और जीवत्व (पर्सनैलिटी) केवल स्वयं को ही स्थेष्ठ-नेदिष्ठरूपेण केन्द्रीण करता हो, ऐसा नहीं है। यहाँ बिन्दु तथा बिन्दुवासिनी भगवत्ता को जीवत्व के साथ मिलाकर रक्खा गया है। Divinity अथवा Life Divine का उत्स (Basic spring) भी यही है। "अहं जननां हृदि सन्निविष्ठो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च"।

चतुर्मानानवच्छिन्न-वृत्तिता प्रतियोगिता।
अस्यास्तीत्यत ओकस्त्वं तदधिकरणञ्च हृत ॥७८॥

बहिर्व्यापार में जो चतुर्मान आवश्यक है, वह चतुर्मान (फोर-डाईमेन्शैनेलटी) इसे विशेषित (अवच्छिन) नहीं करता। वरन् चतुर्मान के द्वारा अनवच्छिन्न जो वृत्तिता है, उसी की विषयता इसमें है। अर्थात् हृत् देशकाल सम्बध में उतरने (स्मृति-ज्ञान-अपोहन आदि में) पर भी उससे अतीत है। यदि यह अतीत नहीं होता, उस स्थिति से वह इन्ही स्मृति ज्ञान आदि के समान होता! अनियत तथा वहिरंग होता। इस प्रकार से अनुबन्धादि सम्बन्ध में अवतरण करने पर भी वह इन सब के द्वारा विशेषित अथवा वाध्य नहीं होता। यदि वह इन सबसे विशेषित अथवा बाध्य होता तब अनुबन्ध, प्रतिबन्ध आदि परिवर्तनों के साथ-साथ वह भी परिवर्तित होता रहता। ओकः शब्द अनुग (Immanent) अथच अतिग (Transcendent) भाव को व्यक्त कराने के लिये है। (ओकः-लोकः शब्द व्यञ्जना एक ही प्रकार की नहीं है। लोकस अर्थात् कोई विशिष्ट से निरूपित जो देशकालादि सम्बन्ध का आधार लेख है, वह वृत्ति।) उक्त मर्मौकः का अधिकरण करने पर विन्दुभाव के स्थेष्ठ नेदिष्ठ सम्पर्क में जो विद्यमान है उसे हृत् कहते हैं।

हृत् से स्थेष्ठ-नेदिष्ठ और मर्मौकः का पारस्परिक तादधिकरण्य है। अर्थात् जहाँ हृत् है, वही है मर्मौकत्व। दो वृत्त कहते हैं कि वे एक में मिल जा रहे हैं और हृल्लेखा? अर्थात् हृद वस्तुकी निगूढ़निष्ठित शाक्ती प्रतिकृति। यह हृदवस्तु के अधिकरण में ही रहती है, किन्तु इसका तादात्म्यसमींकरण नहीं होगा। अर्थात् हृल्लेखा हृत् ऐसा सीधे-सीधे नहीं चलेगा। जैसे नाभि अथवा केन्द्र का आधार करके ही चक्र अथवा मण्डल की आकृति रहती है। किन्तु मण्डल को नाभि कहना उचित नहीं है। नाभि तो बिन्दुरूप से समग्रमण्डल को अपनी बिन्दुरूपता में लीन कर सकती है, साथ ही उसका अपने में से पुनः विस्तार भी सकती है! जैसे एक वृत्त। उसकी परिधि तथा व्यास ह्रस्व होते-होते केन्द्र में जा मिला! अब वृत्तरूपता नही है। किसी वस्तु की जो हृल्लेखा है, उसे किसी देश-काल निमित्त आदि की बाधा नहीं रहती। हृतस्थ कहने पर भी उसे किसी की अपेक्षा की बाधिता नहीं रहती। यद्यपि वह उस वस्तु का अपना Basic Power Pattern है, तथापि

प्रत्यय प्रतिप्रत्यय में उदासीन नहीं है। हृत् वस्तु में जो भगवत्तारूप परम अंश सन्निविष्ट रहता है, वही है निखिल हृल्लेखा का लेखाधार। अतएव हृल्लेखा की विशेष-विशेष आकृति-प्रतिकृति उसी मे ही आहित होने पर भी उसे उन-उन भाव में अविच्छिन्न परिच्छिन्न नहीं कर सकती। (न च तेष्वहम्) यह प्रसंग यहीं तक पर्याप्त है।

इसके पश्चात् दो सूत्रों का कथंचित अनुसरण होता है :—

३०. विशेषत: देशसम्बन्धावच्छिन्नवृत्तिता हृद्देशत्वम् ॥

विशेष के सम्बन्ध में हृल्लेखा उदासीन नहीं है। यह जब विशेषत: देश सम्बन्ध विशिष्ट होती है, तब हृत् कहते है। 'हृत्' स्वयं उनका ही धाम है। यहाँ देशादि सम्बन्ध के द्वारा अवच्छेद-परिच्छेद नहीं है, किन्तु देश सम्बन्धातीत इस वस्तु को देश सम्बन्ध में देखने पर ही यह है हृद्देश। यह देश बाहरी Space नहीं है। यह अन्तर्बहि सर्वत्र वितत (as Extensin, Co—existence) के रूप में प्रत्यय का आधारपट है। यह आन्तर भावना में भी रहता है। अत: अन्तर अथवा व्यवधान वस्तु यहाँ सावकाश है।

हृद्देश पदार्थ भी सार्वभौम है, अर्थात् निखिल वस्तु का हृद्देश है। जब हृदि-स्थिता हृल्लेखा इस प्रकार से युगल सत्ता के कारण (as Co—existence) वितत तथा विस्तृत परिलक्षित होती है, तभी यह है हृद्देश। जैसे अणु की प्रतिकृति में इलेक्ट्रान--प्रोटान को देखा जाता है। यही है जीवकोष में तथा आन्तर भावना से चित्त में भी !

यन्त्रारूढं हि यत्रैव भ्राम्यते निखिलं जगत्।
सदसत् स्थूलसूक्ष्मञ्च तस्य हृद्देशता मता ॥७९॥

गीता के 'हृद्देशेऽर्जुनतिष्ठिति' श्लोक का स्मरण करो। देश सम्बन्ध के साथ निमित्त सम्बन्ध को भी लो। वे हृदि में सन्निविष्ट होकर परमभाव को दिखलाती हैं। वह है--'अहमेव वेद्य:'। विद्या का भाव। यदि मध्य में हृल्लेखा विद्यारूपा हो जाती है, तब वे हृदि में परम वेद्या हैं। इस वेद्यता का रूप है स्मृति-ज्ञान-अपोहन (अपास्तु उहनं यस्मिन्) किन्तु जब हृल्लेखा 'हृन्मुखी' न होकर देश निमित्त-काल निमित्त सम्बन्धापेक्षा में स्वयं को लाती है, तब क्या होता है? ज्ञान के स्थान पर अज्ञान होता है। अत: तब वे हृत्पद्म को मायायंन्त्र रूप से ग्रहण करते हुये (माया यन्त्र रूपेण) सदसत्—स्थूल—सूक्ष्म निखिल जगत् को ईश्वर रूपेण भ्रामित करती हैं। परांगमुखीन स्थिति में यह हृद्देश मायारूढ़ सब कुछ को भ्राम्यमान करने का स्थान है। स्थूल—सूक्ष्म—व्यक्त--अव्यक्त में, सर्वत्र! यहाँ युगपत्ता धर्म है, अत: कोई भी किसी भी उपाय से इस देश निमित्त बन्ध (Co-Existence Bond) को

सहज में उच्छिन्न नहीं कर सकता ! यह सब को एक पारस्परिक अवस्थिति में दबाकर बाँधे रखता है ! कोई भी सहज में 'माया' को उच्छिन्न नहीं कर सकता। यही है 'यन्त्रारूढ़' भाव ! अतः सहज में ही यंत्र से छूटकारा मिलना सम्भव नहीं है। The inexorable Concourse of Cosmic whril of events. प्रत्यक् प्रवणता में इस हृत् अथवा नाभि में एक वृत्ति परिलक्षित होती है। यहाँ पर परम वेद्य भगवत्ता स्वयं सन्निविष्टा हैं। यही है 'मामेव ये प्रपद्यन्ते' इत्यादि !

यद्यपि हृद्देश देशबन्ध मुख्यता के कारण (Predominately Space bound and plane bound) महामाया के मायायंन्त्र का एक स्थान अवश्य है, तथापि यह केवल मनुष्य में ही नहीं 'सर्वभूतानां' है। यह माया-अविद्या मद्भ्रान्ति एवं तवभ्रान्ति, मेरी और तुम्हारी भ्रान्ति भी है। स्वयं को नहीं पहचानता और तुमको भी नहीं पहचानता। अतएव यंत्रारूढ़ के लिये निरन्तर निष्पेषित होने वाला जो महाभय है उस महामय का स्थान है यह, परन्तु यह हृद्देश 'महाभरोसा' का भी स्थान है। तुम्हें इस हृद्देश को ही वेदी बनाकर जपादि यंज्ञ का अनुष्ठान करना होगा। ध्यान तथा भावगाढ़ता का भी स्थान यही है। जो चलती चक्की में दबाकर सब कुछ को भ्रान्ति रूप में घूर्णित करते जा रहे हैं, वे अन्ध नियति नहीं हैं। वे हैं ईश्वर, गतिभर्त्ता इत्यादि ! वे 'चलती चक्की' का रहस्य प्रपन्न शरणागत को दिखला भी देते हैं। चक्की का रहस्य—चक्की की कील। कीलकाश्रय द्वारा हृन्मुखी हृल्लेखा में स्थिति हो जाना ही परमवेद्य के ध्रुवपद की स्थिति है। ध्रुवपद 'तद् विष्णों परमं पदम्' मे ले जायेगा। जिस वेदी पर जपादि यज्ञ करोगे उस हृद्देश में यज्ञेश्वर भी हैं। मानों तुम्हारी बलि सम्पूर्ण करानें के लिये वे हृद्देश में विराजमान हैं। यही नहीं सोचना कि हृद्देश तथा हृत् पृथक-पृथक् स्थान है। हृत् ही विशेष रूप से देश निमित्त सम्बन्ध के कारण हृद्देश कहलाता है। यह तथ्य स्मरण रखना होगा। यह वैयाधिकरण में नहीं है। यह अन्य अधिकरण में है, क्योंकि वहाँ ऐसा नहीं है कि कोई अन्य अधिकारी हो। तुम और वे, त्वं तथा तत्, सभी उसमें हैं।

माया के तलदेशबन्धत्व रूप आवरण की अधिकता के कारण यह मायायंत्रारूढ़ अधिभूत भाव दृष्टिगोचर होता है। इससे अधिदैव, अध्यात्मादि क्रम से अभ्यारोह भी साधित हो जाता है। प्रथम दो में अर्थात् अधिभूत एवं अधिदैव में दृष्टि मुख्यतः पराक्, बाह्य होती है। अध्यात्म में यह मुख्यतः प्रत्यक् हो जाती है।

इस स्थल पर देशतलबन्धवृत्तिता की मुख्यता (Predominance) रहती है। इसे कम करने अथवा काटने से क्या होगा ? ऐसी स्थिति में यदि चलती चक्की से कहा जाये "तुम घूर्णित हो रही हो, घूमती रहो। फिर भी देश का बन्धन और तल का बन्धन क्रमशः ढ़ीला करने की भी सोचो"। एक उपाय है, यदि इससे काल

निमित्त सम्बन्ध स्व छन्द से छूट जाये इस स्थिति में देशतलबद्धता से क्रमिक मुक्ति मिलने लगती है। विज्ञान में न्यूटन के समय का 'देश' तथा आईनस्टीन के समय का 'काल' एक साथ मिलकर विज्ञान की जड़ से अधिभूत भाव के भूत को छुड़ा रहा है। भूत ऐसी ही शक्ति है। अच्छा ! यह अविद्या देश तथा तल में जिस भाव से बद्ध है, उसमें तल को स्व-छन्द में लानें का क्या तात्पर्य है ? तात्पर्य यह है कि काल पहले आकर कहेगा 'समय को पकड़ कर समय के अनुसार घूमों। घूमनें के 'झोक' में बाधा नहीं होगी। ब्राह्ममुहूर्त्त में उठो, शोचादि सम्पन्न करो। सन्ध्यावन्दनादि करो। देश के बन्धन को अलग करके काल के नियम में आओ। यह सम्यक रूप से सम्पन्न हो जाने पर शमदमनियमादि होते हैं। यह सब सम्पन्न हो जाने पर उपरति, श्रद्धाभावभक्ति और अन्त में समाधान। समाधान हो जाने पर परम वेद्य के साथ साक्षात् सम्बन्ध सम्पन्न हो जाता है।

अब इस सूत्र में कालसम्बन्ध का वर्णन है :—

३१. तस्य विशेषतः कालसम्बन्धावच्छिन्नवृत्तिता हृदयत्वम् ॥

तथा च ग्रन्थिभेदेऽपावरणं सत्यस्येति ॥

विशेष रूप से कालसम्बन्ध होने पर हृत्वस्तु की जो आकृति होती है, उसे हृदय कहते हैं। ऐसा होने पर यदि ग्रंथिभेद हो जाता है, उस स्थिति में 'सत्यस्य मुखम्' अपावृत (निरावरण) हो जाता है॥

इन सूत्रों में (३० तथा ३२ में) "विशेषतः" पद पर मनोयोग दो। पूर्व-सूत्र में हृद्देश किस आकार में माया के बन्ध तथा भ्राम्यमाण भाव का हेतु होता है, और किस विशेष आकार में माया से छूटने में सहायक होता है, यह विवेचित हो चुका है। किन्तु हृद्देश हृदय होने पर, हृदय से देशतलबद्धता का हरण करता है ! अतः एक ऐसी विशेष वृत्ति का संचरण हुआ जो मुक्तता का पूरण करती है। इसे काल निमित्तवृत्ति कहते हैं। 'इ' गत्यर्थ से 'अय'। अथवा जात्यर्थ 'अय' धातु। आधार अथवा अधिकरण ठीक ही है, अथच यह वायुबीज 'य' तो वहन करता है, विस्तार करता है, उर्ध्वंग करता है। (इ तथा य दोनों ही उर्ध्वंग हैं।) पक्षान्तर से हृद्देश शब्द में दो दन्त्य वर्णों का योग, तलवृत्तिता तथा दन्त द्वारा (कील) बन्ध-वृत्तिता ही प्रधान है। किन्तु 'ए' (अ+ई) तथा ऊष्म तालव्यांश) उसमें रहने के कारण वक्र अथवा उर्ध्वंग जैसा सहग (कम्पोनेन्ट) संभावित हो जाता है।

इसका तात्पर्य यह है कि चक्की तो घूम रही है किन्तु इस सहग को सम्यक् रूपेण ऋतच्छन्द में बढ़ने देने पर, वह शंखाकृति में उर्ध्वंग (शंखाकृति = As spiral) होता है, और काष्ठा में (in limiting Position) 'इस' रूपी कील (axis) को 'यह' से मिलित करा देता है। हृदय तथा हृद्देश का उच्चारण करते

हुये उनकी प्राणिक आकृति को लक्ष्य करो। हृदय में यह द्वित्व (हृदय तथा हृद्देश रूपी द्वित्व) द की क्रिया में लाघव रूप हो जाता है। (क्योंकि इसमें 'द' एक है। हृद्देश की तरह दो द नहीं है।) दो 'द' में से एक लम्बग है (Vertical) है, दूसरा समतालिक (Horizantal) है। ये दो 'द' चक्की से कहते हैं "मैं कील-दण्ड रूपेण अक्ष हूँ और उर्ध्वग हूँ, किन्तु तुमको तो इसी निर्दिष्ट तल में घूर्णित होते रहना होगा। अच्छी तरह मजबूती से दबाकर पीसते हुये घूमना होगा, जिससे यन्त्रा-रूढ़ सब कुछ अच्छी तरह से पीसा जाता रहे।" हृदय में एक ही द है और 'अय' है। (दय)। वायु ने सूक्ष्मरूप से काल को देखा। काल की मुख्यवृत्ति है संख्यान। दार्शनिक कान्ट ने भी यही कहा है। Magnitude and Nmuber. जो देशाकृति में केवल Magnitude है, उसे जब तक काल के रूप में संख्यान में नहीं लाया जाता तब तक वह बद्ध (Tied, Bound) है। संख्यारूपता प्राप्त करने पर वह है मुमुक्षु-मुक्त। एक कहता है दो होऊँगा, (हरण पूरणादि में)। जब तक बीज शुद्ध है, तब तक वह है हृद्देश। जहाँ वह उच्छून हुआ, अंकुर निकला, तभी वह है हृदय। भाव प्रभृति सब कुछ में यह हृद्देश तथा हृदय रूपी भावद्वय रहते हैं। श्री गुरु जिस बीज अथवा नाम को प्रदान करते हैं, वह हृद्देशभाव में रहने पर कुछ नहीं होगा। उसे जप (संख्यानपूर्वक) द्वारा हृदयभाव में लाना और पाना होगा। इसके अतिरिक्त काल—ऋतच्छन्दः। इन सब का विस्तार आगे किया जायेगा। यंत्र में पड़ा हूँ। यन्त्र काटने का उपाय है कालिक (रेगूलर) हो जाओ। तल में बंधे हो, तल काटने के लिये तालिक (Rhythmic) हो जाओ।

कालनिमित्त सम्बन्ध के 'विशेषतः' का अवलम्बन ले सकने पर हृदय (कार्य का, भाव का Heart) मिलता है।

अव्यक्तं कारणं हृद् वै तदधिष्ठानता परे।
हृदयं व्यक्तमव्यक्तं यत् परावरतां श्रितम्।
व्यक्तञ्च विद्धि हृद्देशं मायायोगेन चावरम् ॥८०॥

अन्त में इन सब को (हृत्, हृल्लेखा, हृद्देश, हृदय) और एक दृष्टि से भी देखो। सब कुछ में जो अव्यक्त कारण भाव है, वह है हृत्। यह है परतत्व अथवा परम का अधिष्ठान। कारण के दो दिक् (उपादान तथा निमित्त) क्या हैं? बाद में यह उपलब्ध करोगे कि 'क्या' रूप से समस्त का हृत् है आनन्द। (इसके स्वल-सित आदि भेदों की विवेचना हो चुकी है। अस्ति का भाँति के साथ तादात्म्य भी है। किन्तु क्या एक 'क्यों' अथवा हेतु किंवा निमित्त की दिशा नहीं है? वह है मूल शक्ती प्रतिकृति हृल्लेखा। किसी से सम्बन्धित सब कुछ "क्यों" का मूल उत्तर यहीं पर है। हृल्लेखा हृदि में अधिष्ठिता है। यह भगवत्ता के मूल निमित्तभाव का रूप

है। शक्तिरूपता हृदि में अव्यक्त है, हृल्लेखा में व्यक्ताव्यक्त है। यह इन दो भावों में 'विसृष्ट' होती है। बीज और उच्छूनभाव। बीज में जो है, वह अजाना अव्यक्त है। बीज (जल द्वारा) फूल कर, चीयमान होकर कहता है 'यह देखो, विमर्श हो रहा है, कलन हो रहा है। शाक्ती आकृति को देखो, शाक्ती लेखा को देखो, The Basic Power Formula।" यह बीजरूपेण देशकाल-निमित्त सम्बन्ध के प्रति धूमन्त था (सुषुप्त था), उच्छून होकर देशकाल निमित्त की ओर उन्मुख हुआ। किन्तु उसका 'विशेषतः' से सम्बन्ध नहीं हुआ। विशेषतः होता है हृद्देश तथा हृदय में। उच्छून बीज का जो आवरण त्वक है, उसे हृद्देश के रूप में लिया जा सकता है। उसके फटने पर जो अंकुरादि का उदय होता है, वही है हृदय। आवरण-त्वक् तो व्यक्त ही है। किन्तु अंकुर ? व्यक्ताव्यक्त। इसी कारण हृदय को व्यक्ताव्यक्त कहा गया। यह 'परावर' के आश्रय के कारण है। हृद्देश को व्यक्त भाव ही समझो। यह मायायोग के कारण 'अवर' है। (परावर = पर + अवर)। इस विवेचना को अपने जप-भाव आदि के साथ मिलाकर समझ लो। केवल वैखरी = व्यक्ता, अवरा। जैसे बीज का छिलका। किन्तु इसकी भी आवश्यकता रहती है।

श्रद्धापूर्वक सन्ध्यादि के साथ जप करो। अक्षर उच्छून होगा। नाद भावांकुर का उदगम होने पर, वह अंकुर ही आवरण को भंग कर देगा। अंडे में स्थित शावक ही अंडे का आवरण तोड़कर बाहर निकल आता है। तब मध्यमा की सूचना मिलती है। अंकुर भाव के अभाव में आवरण भंग नही होता। तभी हृद्देश को हृदय करने के लिये ग्रंथिभेद आवश्यक है। ग्रंथिभेदन की भी परम्परा है जो काष्ठा में है, वह परापर तत्व ग्रन्थिभेद द्वारा दृष्ट होता है। तभी हृदय स्वयं को और अपने आधार तत्त्व को पूर्णतः जान सकता है। यह जानने से क्या होगा ? जो सत्य, परम तत्त्व और हृल्लेखा के आधार हैं वे निरावरण हो जाते हैं। योभूमि, ज्ञानभूमि तथा रसभूमि में हृदयग्रन्थि की परिसीमा को देख लो।

योग की धारणायें देशबद्ध हैं अतः उनमें हृद्देशताकृति है। ध्यान में प्रत्यय की एकतानता निरन्तर वाहिता है हृदयत्व। नाभि में ध्यान धारणा करने पर ये दोनों वहाँ भी हैं। जैसे वाचिक उपांसु मानस तो वैखरी रूप से ही विशेष परिस्फुट हैं, परन्तु मध्यमा भूमिका में अन्य प्रकार से हैं। जैसे वेदपाठ में उदात्त-अनुदात्त स्वरित। ध्यान में भी देशबद्ध भाव अधिक होने पर (जैसे ध्रुव आदि के ध्यान में) लीलाप्रत्यक्ष के लिये आवश्यक है हृदयत्त्व। योग में हृदयग्रंथि भेदन की परिसीमा है प्रकृति तथा पुरुष की शुद्धि समता। ज्ञानभूमि में त्वं तथा तत् पदार्थ हैं हृद्देश। असि = हृदय। शोधन परिसीमा = ग्रन्थिभेद। रस भूमि में 'मैं' को छोड़ते हुये 'त्वं देखने पर है हृदय। उस समय त्वं के साथ उनके अनुगभाव से 'मैं' स्थित-करने पर रसाश्रित भजन होता है। जब आस्वाद्य-आस्वादक भाव अभिन्न परमास्वाद की

निबिड़ता में मिल जाते हैं तब होता है रसग्रन्थि भेद (द्वितीय खण्डोक्त अद्वैताद्वैत दशकम् को पुनः देखो ।)

प्रथमखण्डोक्त श्री श्री कालिकाषोडशी के अंतिम श्लोक का यहाँ पुनः प्रणिधान करो । 'हृद्याद्या या शयाना' इत्यादि । कालशब्द में जो कल है, वह उक्त षोडशी में व्यक्त हो रहा है । 'कालस्य कलनात् काली' । कलन के स्थूल-सूक्ष्म तथा कारणरूपी भावत्रय हैं । प्रणव में अ उ म इत्यादि स्थूल कलन हैं । प्रधानतः यह स्थूल कलन जब तक है, तभी तक हृद्देश है । नादबिन्दुरूप अर्धमात्रा है सूक्ष्म कलन, और कारणरूपेण है आद्याकला अथवा कलनी शक्ति (काली) । वे समस्त कलन करने पर भी अतीता हैं । यही भाव इस श्लोक में में प्रदर्शित किया गया है । यहाँ सूत्र में जिस 'विशेषतः' काल सम्बन्ध का वर्णन है, वह क्या है ? वह है स्थूल व्यक्त छन्दोरूपता को सूक्ष्म व्यक्ताव्यक्त माध्यम से अव्यक्त कारण भूमि और परमाव्यक्त कारणातीत भूमि में ले जाने वाला संवेग । इसी संवेग की सूचना प्राप्त होने पर हृद्देश की हृदय हो जाता है ।

पुनश्च ! सत्य मुख के अपावरण के सम्बन्ध में भी कालिकाषोडशी का 'सत्यास्यं या पिधाय' इत्यादि श्लोक अनुधावनीय है । 'तत्सत्यं बाधमुक्तम् हृदनभसि नः कुर्वती ना सुहासा' इसमें हृदय शब्द का चिन्तन करो । यह भी विचार करो कि 'आदित्य हृदयम्' इत्यादि स्त्रोत्र में वर्णित 'हृदयम्' क्या है ?

●

तृतीय अध्याय

ग्रंथ में पुनः-पुनः वृत्ति शब्द का व्यवहार किया गया है। इसी वृत्ति के संबंन्ध में यहाँ 'वृत्तिपञ्चकम्' नामकरण के साथ पाँच सूत्र सूत्रित तथा विवृत्त किये जा रहे हैं। 'वृत्ति' न्यायवेदान्त प्रभृति दर्शन व्यवहार का एक अत्यावश्यक पदार्थ है। साधन शास्त्र के लिए भी यह अन्यथा नहीं है।

१. अस्तिभात्यर्च्छतिमोदत इति प्रत्ययप्रतियोगित्वं वृत्तित्वम् ।।

अस्ति (है), भाति, (प्रकाश पा रहा है) ऋच्छति, (गमन करता है) तथा मोदते (प्रियभाव से अनुभव कर रहा है) ये चारो मूल प्रत्यय प्रतियोगिता (विषमता) जिसमें है वही वृत्तिता कही जाती है ।। चारो का समुच्चय भी हैं, (विषमता)जिसमें है वही वृत्तिता कही जाती है। चारो का समुच्चय भी है विचेय भी है।

प्रथम तीन अर्थात् अस्ति, भाति तथा ऋच्छति के सम्बन्ध में उतना संशय नहीं है, परन्तु मोदते ? यह भी एक मूल वृत्ति है। यद्यपि सुख-दुःख, राग-द्वेष रूपी द्वन्द्वाश्रित अनुभव सर्वत्र हो रहा है, तथापि मूलतः अस्मि बोध ! (अहंमात्र नहीं) और इस अस्मिबोध के साथ प्रियताबोध का तादात्म्य है। यहाँ 'मा न भुवम्' इत्यादि ही प्रत्यय का मूल है। इस स्थिति में वृत्ति है, Whatever affirms in Terms of the four fundementals of experience. इसमें ऋच्छति न रहने पर प्रत्यय ही नहीं है, अतः वृत्ति भी नहीं है। 'अस्ति,भाति-प्रियं-' तो शुद्ध ब्रह्मत्व ही है। किन्तु अस्ति-भाति रूप में प्रत्यय होने पर 'ऋ' धातु अपेक्षित रहती है। तब 'अस्ति' रूपी आकारा वृत्ति हो जाती है। शुद्ध ब्रह्मत्व में यह अवश्य नहीं है। तन्त्र में प्रकाश के साथ विमर्श रहता है। विमर्श ही मर्शपञ्चक होने पर तथा उससे भासपंचक रूप होने पर वृत्ति हो जाता है। 'मोदते' के सम्बन्ध में कारिका देखो :—

> मोदत इति या वृत्तिः संविदि भाति मुख्यतः ।
> एष आकाश आनन्दो नो चेदन्यान्न कोऽपि च ।।८१।।
> आनन्दं खलु जानीते भुवननामिमित्यतः ।
> कोऽन्यात् प्राण्यादिति ज्ञातमृतयपचस्मिताश्रयम् ।।८२।।

संविद अथवा चैतन्य में मोद अथवा प्रियता मुख्यतः रहती है। अतएव संवित् स्वभाव ही प्रिय संवित् है, स्वरस संवित् है। दुखद्वेषितादि का व्यतिक्रम ही स्वभाव नहीं है। श्रुति ने 'एष आकाश आनन्दः' कहा है, अर्थात् आकाश ही आनन्द का सर्वव्यापी विश्वाधार रूप है। 'आनन्दाद्ध्येव' इत्यादि की भी भावना करो। यह न

होने पर (नो चेत्) कोई भी मूलस्पन्दरूप अनन (जिससे प्रणन है) का निर्वाह नहीं कर सकता । अर्थात् आनन्द ही उल्लसित आदि रूप प्राप्त करने के पश्चात् मूल प्राणस्पन्दन हो जाता है । नाड़ी की बहिरपेक्ष (अर्थात् जिसे बाहर की अपेक्षा है) कार्यरूपता रहती है ।

इसे भेद करना होगा । अन्तर में कार्यरूपता भी है । प्रत्यक् प्रवण होकर इसे समावृत्त करना होगा । तत्पश्चात् कारणरूपता । इस परतंत्रता का परिहार करते हुये यह स्वतन्त्र होकर 'हृत्' हो जाता है । तब वह आनन्द ही है । हृत् अथवा केन्द्रीण आनन्द की 'तन्त्रतायिका' है हृल्लेखा । सूक्ष्म प्राणस्पन्द किंवा अभिव्यक्त प्राणस्पन्द कैसे वृत्तिमान होता है? यह जो जिज्ञासा है, यही अस्मिताश्रयरूपी मूल ऋतं (ऋच्छतिभाव) को अंगुलिनिर्देश के द्वारा दिखला देती है । मानो यह जिज्ञासा ही कहती है "आकाशानन्द ही मेरा परमाधार है । उस आधार में 'हृत्' रूप से आनन्द ही केन्द्रीण भाव ग्रहण करता है अतः मोद अथवा प्रियता ही मेरा केन्द्र है ।" इस में सभी विशेष-विशेष अहं रूप से न आकर स्वय को 'अस्मि' रूप से उपलब्ध करते हैं । इसकी वर्णना द्वितीय खण्ड के व्याहृति सूत्र में हो चुकी है ।

'अहं' ही संकीर्ण होकर 'अहंसुखी अहंदुःखी' रूपी प्रत्यय को ग्रहण करता है । अभी भी 'अस्मि' में मूलप्रियता उस प्रकार से द्वन्द्वस्थ (Polarised) नहीं हो सकी है । योगोक्त अस्मिता समाधि का विचार करो । हृतरूपी आनन्द संवित तथा रस संवेदन केन्द्र में वे सन्निविष्ट हैं । कहीं-कहीं आनन्द के मर्म केन्द्र में, कहीं हमारे रस के मूल उत्स में वे सन्निविष्ट रहते हैं । इस प्रकार से हमारे अन्तरतम स्थल में जो भगवत्ता है उसे खोजना तथा पाना होगा । व्यथा के समस्त प्रदीपों को प्रज्वलित करते हुये परम 'मरमी' की आरती करना ही होगा । क्योंकि जो हमारे परम 'दरदी' प्रत्यय हैं (चार मूल प्रत्यय) और जो मोद प्रत्यय है, इन्हें तत्तत् वृत्तिरूप से देखना होगा । अब सूत्र का चिन्तन करो —

२. वाग्बुद्धिविषयत्वावच्छेदकत्वम् वा ॥

वाक् तथा बुद्धि का जो विषय है, (वाग् बुद्धि के साथ विषयता सम्बन्ध में जो है) उसे अवच्छिन्न विशेष करके जो निरुपित करे, वही है वृत्ति ॥ वा = समुच्चय अथवा विकल्प Whatever defines the predicaite (Namable) and thinkable.

वागविषयं च यत्किञ्चिद् बुद्धिविषयकं तथा ।
तस्य तद्विषयतावृत्तं वृत्तितया विशिष्यते ।
वत्सो जातो मृतो वाऽत्र जन्मादेर्वृत्तिता मता ॥८३॥

वाग् विषयरूप जो कुछ भी है [जैसे अ उ म आदि स्वर व्यञ्जनादि वर्ण अथवा कोई शब्द (ध्वनि-सुर के साथ), कोई नाम (जिसकी निरुपित अभिधा-

लक्षणादि शक्ति हैं,] बुद्धि का विषय जो कुछ भी है (जैसे अर्थ, भाव, तथा बुद्धि के विषयरूप में आकृत है) वह वृत्ति के लक्षणों द्वारा लक्षित हुआ। जैसे उदाहणार्थ 'वत्स जन्मा अथवा मरा' यहाँ जन्मादि वाक् तथा बुद्धि के विषय रूप में 'वृत्ति' ही है।

लक्ष्य करो कि वाक् का विषय वाच्य और बुद्धि का विषय बोद्धव्य अथवा भाव्य जब तक अनिरूपणीय या अनिरूपित है (अवच्छेदों के द्वारा अनवच्छिन्न है) undefinad and undefinable है, तबतक यह लक्षण नहीं आता। सामान्यतः "यह वाक् अथवा वाक् का विषय किंवा बुद्धि अथवा बुद्धि का विषय या वाक् बुद्धि दोनों का विषय है" इस प्रकार से निरूपित होना ही वृत्ति है। 'यतो वाचो निवर्त्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह'—यहाँ परम अव्यक्त तथा अनिर्वचनीय वृत्तिमात्र का निषेध कहा गया है। जप में वैखरी से लेकर पश्यन्ति पर्यन्त वृत्ति रहती है। यह परा में समावृत्त हो जाती है, जैसे नदी नदीनाथ में। परम के सम्बन्ध में किसी भी लक्षण या निरुक्ति को कहा नहीं जा सकता। वृत्ति सम्भूत तथा सम्भाव्य भी होती है। जैसे प्रणव जप में अ उ म रूपी वृत्ति है सम्भूत, नादादि हैं सम्भाव्य। ज्ञानभूमि के अन्त में है ब्रह्माकारावृत्ति 'अहं ब्रह्मास्मि'। योग में वृत्ति अर्थात् निरोधभूमि भावनीय है। प्रणव में ब्रह्मवाचकरूपेण त्रिमात्रा, अर्धमात्रा पर्यन्त वृत्ति का लक्षण रहता है। यह अमात्र तथा तुरीय में नहीं रहती। रसभूमि में विलसित पर्यन्त ही वृत्ति का क्षेत्र है। यह स्वलसित एकान्तिक भूमि में नहीं रहती।

अच्छा एक प्रकार से अनिरूपणीयता एवं अनिरूपितत्त्व (वाक् तथा बुद्धि प्रत्यय के द्वारा) तो समस्त में, सब कुछ में है। यह एक धूलिरेणु में भी है। महामाया ही हैं यह धूलिरेणु और वे इसी रूप में अपना प्रदर्शन कर रही हैं। वे माया द्वारा 'माप' के क्षेत्र में उतरकर भी स्वरूपतः अमेया (जिन्हे मापा नहीं जा सकता) हैं। अतः अमेयता के आधार में अवच्छेद-परिच्छेदादि रूप से है यह मेयता। अनिरूपणीयता की भित्ति पर निरूपणीयता का 'नक्शा'! यह नक्शा भी सर्वदा बुद्धि तथा वाक् के व्यवहार से बदलता रहता है, विशेषतः विज्ञान तथा योगज ज्ञान में। मूल अनिरूपणीयता की भित्ति पर यह व्यावहारिक अनिरूपितत्व भी है। तब भी वाक् तथा बुद्धि के प्रत्यय में जितना गृहीत अथवा ग्राह्य है, उतनी वृत्ति में ही यह लक्षण आता है। व्यवसाय (जैसे यह घट है), अनुव्यवसाय आदि (जैसे मैं यह घट देखता हूँ), रूप में उद्भूत अथवा व्यक्त न होने तक वृत्तिजनित बाधा नहीं रहती। साधारण निर्विकल्पक 'आलोचन मात्र' ज्ञान में भी वृत्ति के लक्षण रहते हैं। (फिरभी-तटस्थ होकर)। यदि इन सब में अन्य सम्बन्ध अथवा प्रकारता भासित नहीं होती, तब भी 'इदं' अथवा 'यह' रूपी निरूपितत्त्व स्थित रहता है। यदि यह

व्यक्त न होनेपर भी अव्यक्तरूप से ही (Implicitly, incipiently) वाक्-बुद्धि का विषय हो जाता है, तब इसमें वृत्तिलक्षण आ जाते हैं। 'यदि' अर्थात् एक शर्त। अत: तटस्थ।

यह सर्वदा स्मरण रखना होगा कि जो विस्पष्ट चेतना (Focus of Consciousness) में संभवतः है, जो अव्यक्त अथवा अवचेतना में नहीं है, अथवा नहीं हो रहा है, उसके सम्बन्ध में कुछ कह सकना कठिन है। जपादि साधन में जो वृत्तिलेख है, उसे विस्पष्ट भूमि में कितना और किस प्रकार से देख पाता हूँ ? साधारण प्रत्यक्ष के स्थल पर इन्द्रियों के साक्षात् सम्बन्ध द्वारा जो आता है पक्षान्तर से जब तक उसमें संस्कार भूमि से आकर अन्य कुछ युक्त नहीं हो जाता, तब तक वह प्रत्यक्ष ही नहीं हो सकता। जैसे रूप प्रत्यक्ष में स्थौल्य-काठिन्य-दूरत्वादि। वाक् तथा बुद्धि को भी साधारण ज्ञानभूमि के तल में आबद्ध रखने से कुछ नहीं होगा। जहाँ यह सोचते हो कि यहाँ वाक् अथवा बुद्धि का कोई प्रत्यय नहीं है, वहाँ भी जब तक व्यापार का पूर्वलक्षण नहीं मिल जाता, तब तक कोई निश्चय अथवा अवधारणा कर सकना संभव ही नहीं है।

जपादि अध्यात्म साधना में यह पूर्णलेख ही मुख्य रूप से मिलाने योग्य वस्तु है। ऊपर ही ऊपर झलकते हुये किस प्रकार की वृत्ति हो रही है अथवा नहीं हो रही है, यह उसकी तुलना में गौण है, तथापि इसकी आवश्यकता है। जपादि में वाक् केवल वैखरी नहीं है। वाक् चारो भूमियों में है। अत: यह जानना आवश्यक है कि वृत्ति (अभीष्ट अथवा अनभीष्ट वृत्ति) किस भूमि पर्यन्त है ? जो वृत्ति वैखरी में नहीं है, तथापि मध्यमा में है वह विशेष रूप से अनुसन्धेय है। तब भी वैखरी का प्रसंग जहाँ है, वहाँ पर वृत्ति को उसकी साधारण भूमिका में ही मानने पर अग्रगति नहीं होगी। तनुमानसादि विशारदी भूमियाँ हैं। ये भूमि पुनः 'उतराई' के धूम्रवर्त्म में निम्नग हो जाती हैं। यह हो जाती है साधारण चेतना के 'आसुर' तल की ओर गतिशील ! यहाँ भी विभूति तथा सिद्धि है। और 'चढ़ाई' की ओर है 'अर्चिवर्त्म'। यह 'सुर' देव अथवा दिव्य अनुभूतियों को ओर जाता है। बुद्धि तो तमसा की दिशा की ओर भी उन्मुक्त हो सकती है, तथा वर्च्चसा की ओर भी गतिशील हो सकती है। चाहे जो कुछ हो, बुद्धि तथा बुद्धि की वस्तु (Thinkable) को हमारी 'कारबारी' भूमि में नजरबन्द रखने का कोई उपाय नहीं है। यहाँ पर तद्-तद् भूमिकावच्छिन्न करते हुये वृत्ति के सम्बन्ध में कुछ कहा-सुना गया है। अत: वृत्तिलेख अयथाखण्डित (तललम्बादि 'मान' में, डाईमेन्शन में) होने पर पादहीन हो जाता है और तथ्य-तत्त्व के सन्दर्भ में अयथार्थ भी हो जाता है।

सूत्र सम्मत वृत्ति के लक्षणद्वय निरूपितता तथा निरूप्यता (Difinability as Predicable and Thinkable) को ग्रहण करने पर यह मुख्यत: दो प्रकार

की हो जाती है—जैसे तात्त्विक एवं व्यावहारिक। व्यावहारिक में पुनः प्रतिभासिक को भी स्थान देना होगा। जैसे हमारी पृथ्वी एक स्थान में स्थिर है। यह चन्द्र-मण्डल स्वत: उज्वल है, इत्यादि। यह तत्त्वत: दो प्रकार की है केवलव्यतिरेकी तथा अन्वयव्यतिरेकी। केवलव्यतिरेकी पूर्णत: अमेय, अनिरुक्त, अलक्षण पदार्थ में राग-बुद्धि निरूपिका वृत्ति है ही नहीं। अन्वयव्यतिरेकी—जैसे ॐ शब्द में त्रिमात्रादिरूपा निरुप्यवृत्ति अवश्य है, किन्तु वह अमात्ररूपेण नहीं है। केवल प्रणव में ही नहीं, सब कुछ में भी ऐसा ही है। एक धूलिरेणु में भी यही तथ्य है। कुछ निरूपण में आया है, कुछ निरूपण में आ सकता है, किन्तु सभी यह कहते हैं "हम निरूपण में नहीं आयेंगे।" व्यावहारिक (प्रतिभासिक के अतिरिक्त) तीन प्रकार का है।

(१) वाक्-बुद्धि (Pragmatic and Normal) अधिकरण में। यहाँ वृत्ति (Prdicables और Thinkables) द्वारा ही समस्त कारोबार चलता है।

(२) उर्ध्वग्राम में अर्चि:वर्त्म में। वाक् बुद्धि को, दोनों के योजक प्राण को, उनकी संहति में निरूप्यमान अनुभूति समूह को उत्तरोत्तर ऋद्धिमत्तर, ज्योतिमत्तर तथा रसवत्तर भाव से मिलाना पड़ता है।

(३) निम्नग्राम में, धूम्रवर्त्म में।

वर्त्तमान विज्ञानविद्या अपनी त्रिद्या किंवा टेकनिक (वाक् enuciation तथा बुद्धि Reasoning and Verification, दोनों द्वारा) को अत्यन्त उन्नत करके जिस विराट वृत्तिलेख को अंकित कर रही है, वह ऋजुगामी नहीं है अतः विद्या उर्ध्वग्राम में श्रेयस्करी होने पर भी निम्नग्राम में 'भयंङ्करी' सिद्ध हो रही है।

३. वस्तुसम्बन्धविषयताघटकत्वमपि वा ॥

वस्तु सम्बन्ध विषय (Relatedness) का जो घटक है, वह भी वृत्ति है ॥

'अपि' शब्द यह सूचित करता है कि लक्षण समूह परस्पर एक दूसरे को व्यापृत (Exclude) नहीं करते जैसे परस्परतः बाहर स्थित दो वृत्त। 'वा' कहने पर संशय रह जाता है, जैसे क्या यह सब अन्योन्य व्यावर्त्तक (Mutually Exclusive) है ?

यह देखा जाता है ब्रह्म से लेकर एक तृण पर्यंन्त में कोई न कोई सम्बन्ध रहता ही है। जैसे ब्रह्म आदिकारण है, मूल निमित्त है आदि ! तृण अमुक जाति-गोत्र का है इत्यादि ! शिष्य, गुरु, दीक्षा इत्यादि। सम्बन्ध बहुधा प्रपंचित है। उन्हें अनेक श्रेणी में बाँटा गया है। सम्बन्ध होने पर सम्बन्धित प्रतियोगिज्ञानाधीनज्ञान विषयत्व भी आ जाता है। जैसे कारण। किसका कारण ? कार्य है तभी न कारण है। कार्य कौन वस्तु है, यह नहीं जानने पर भी 'कारण' पदार्थ को जानने के लिये

'कार्य' पदार्थ को भी जानना होगा, तभी 'कारण' का ज्ञान होगा। अतः 'प्रतियोगी' जो कार्य है, उसको जान लेने पर ही कारण का ज्ञान होता है। दीक्षा, मन्त्र, शुद्धि, प्रत्यय प्रभृति भी के सम्बन्ध में भी यही स्थिति है। सम्बन्धजन्य प्रतियोगिता कहीं पर 'आड़' में छिपी रहती है। सादृश्य तथा अभाव के समय प्रतियोगीज्ञानाधीन ही विस्पष्ट है। 'राम की पुस्तक', 'दीपक का तेल' इन सब में एक के ज्ञान को दूसरे के ज्ञान में बलपूर्वक जोड़ा नहीं गया है, ऐसा प्रतीत होता है, किन्तु पुस्तक उसके मालिक के कारण, तेल उसके आधार के कारण जाने-जाने की अपेक्षा रखता है। जो कुछ भी हो, वस्तु को किसी सम्बन्ध में लाकर उसके ज्ञान को (जैसे ब्रह्म का स्रष्ट्रत्व) उसके प्रतियोगी के ज्ञान से जो सापेक्ष करती है, वही वृत्ति है।

इस लक्षण द्वारा वृत्ति से ही वस्तु भी प्रमेय होती है। क्या पहले लक्षण में वह नहीं थी ? सम्बद्ध विषयभाव यहाँ पर विशेषतः व्यक्त है। अयं अथवा यह कहने पर सामान्यतः निरुपण हुआ, किन्तु "अयं तथा असौ" यह दोनों कहने पर सम्बन्ध का परिस्फुट [Explict) होना कठिन है। ॐ एक वाक् है, यह कहना सामान्यतः निरूपण है किन्तु इसे 'वाचक' कहना ही है सम्बन्ध ख्याति। अतः इस सम्बन्ध का प्रतियोगी जो वाच्य है, ब्रह्म है, उस ज्ञान की अपेक्षा है प्रणव ज्ञान द्वारा। प्रमेय शब्द द्वारा यह अपेक्षा स्पष्ट हो जाती है। प्रमाता तथा प्रमाण की भी अपेक्षा होने लगती है। इस प्रमेय का प्रमाता कौन है, प्रमाण क्या है ? प्रमा किसे कहते हैं ? इनके सम्बन्ध में सूत्रों को आगे कहा जायेगा।

यहाँ केवल यही कहना है कि जो वस्तु सम्बन्ध में आने पर उसे प्रमेयरूपता (साथ ही प्रमाता एवं प्रमाणरूपता देती है) वही है वृत्ति। इन तीनों का साधारण असाधारण दृष्टान्त तो सर्वत्र है। वेदान्तादि में वृत्ति का जो लक्षण अंकित है, वह प्रमाण-प्रमाता-तथा प्रमेय को ही लेकर वर्णित है। जैसे प्रमाणात्रवच्छिन्न चैतन्य, प्रमेयावच्छिन्न चैतन्य इत्यादि। वृत्ति के प्रसंग में ही अवच्छेद, आभास, प्रतिबिम्ब तथा विकल्पना का भी स्थान है। यदि शुद्ध अधिष्ठानस्थ चैतन्य में वृत्ति की प्रसज्यता ही न हो तब वृत्ति किसे लेकर, किसके सम्पर्क द्वारा होगी। और यदि अधिष्ठान में चैतन्य नहीं है उस स्थिति में वृत्ति का भास किस प्रकार से होगा ? इन प्रश्नों की आलोचना में वेदान्त विचारिणी 'धी' अपनी गति को अथवा वृत्ति को तो सूक्ष्म की पराकाष्ठा पर्यन्त ले गई है। योग तथा रसभूमि में भी वृत्ति मूल सिद्धान्त के मूल का स्पर्श करते हुये मनन चिन्तन के क्षेत्र में उतर चुकी है। जप मुख्यतः साधन ही है। इस साधन विज्ञान की भी एक दृढ़ भूमिक सिद्धान्त की भित्ति में स्थिर होने की अपेक्षा है। किन्तु विचारादि तो अपने अनुबन्धानुरोध से होते हैं। जैसे आवश्यकतानुसार जड़विज्ञान तथा गणित की भी अपेक्षा रहती है। विज्ञान अथवा गणित के समान Differential Equation आदि के द्वारा जप सिद्धान्त के समाधान की चेष्टा

करना कदापि उचित नहीं है। मनन विचार आदि अनेक सूक्ष्मभूमि के सम्बन्ध में भी यही तथ्य

इस स्थल में मूल अनुबन्ध यह है कि जप करते-करते नाद के समान कुछ सुना। यह ध्वनि श्रवण ही यहाँ पर वृत्ति है। यदि यह 'प्रमेय' है; तब मैं इसका 'प्रमाता' हूं। जप इसका 'प्रमाण' है। अब प्रश्न यह है कि क्या यह प्रमेय वृत्ति यथार्थ है? यह प्रश्न करने पर प्रमा अथवा यथार्थ ज्ञान का लक्षण तथा आदर्श (स्टैन्डर्ड) आवश्यक सा हो जाता है। 'प्रमा' वस्तु का लक्षण और आदर्श अनुरूप होने पर यह देखना होगा कि मैं (प्रमाता) क्या उसे सम्यक् रूपेण ग्रहण कर सकने में समर्थ हूं, क्या मेरा वर्त्तमान जपरूप प्रमाण सम्यक् भाव से प्रमा के अनुरूप होने योग्य है? यदि इसका उत्तर है 'ना' तब पुनः उपाय की आवश्यकता है। शुद्धि (प्रमाता एवं प्रमाण दोनों की) की आवश्यकता है। गुरु-शास्त्र तथा सन्तों ने शुद्ध अबाधित प्रमा का आदर्श साधकों के सम्मुख उपस्थित किया है। क्या हमारा प्रणवादि व्याहरण सम्यक् रूप से हो रहा है? क्या तारचक्र सुगति में चल रहा है? क्या अनुध्यान-भाव प्रभृति उचित रीति से हो रहे है? ये ही वृत्ति तथा वृत्ति-शुद्धि के प्रश्न हैं। विज्ञान आदि सर्वविध व्यवहार प्रमाता तथा प्रमाण के क्रमिक शोधन के द्वारा प्रमेय शुद्धि को सम्पादित कर देते हैं।

यथैव वस्तु यत्किञ्चित सम्बन्धित्वेन गृह्यते।
अत्रामूत्र कथञ्चैव कदातदादिरूपतः।
सा वृत्तिस्तत्वमस्यादौ याऽसिपदेन लक्षिता ॥ ८४ ॥

जिसके द्वारा वस्तु-सम्बन्धी अथवा वस्तु सम्बन्ध विशिष्टताभाव में गृहीत होता है, अर्थात् यहाँ, वहाँ, किसलिये, अभी, तभी, प्रभृति देशकाल निमित्त सम्बन्ध में गृहीत होता है, वही वृत्ति है। तत्त्वमसि इत्यादि महावाक्यों में 'असि' 'अस्मि' इत्यादि पदों द्वारा यही लक्षित होता है।

४. भानविषयतानिरूपकत्वमपि च ॥

पूर्व में सविशेष आलोचित जो भान है, उसका विषय (object and subject) भाव और इस भान का विषय जिसका निरूपण करता है उसे वृत्ति कहते है ॥

यहाँ सूत्र के अन्त में है अपिच। पूर्व सूत्र की व्याप्ति को उचित रूप से स्थित रखने के लिये इसे भानविषयता के दिक् से प्रदर्शित किया गया है। What ever defines the alogical, undefined whole of Experience.

जो समस्त प्रत्यय तथा प्रतीति के मूल में तथा आधाररूप में है, उसे ही समग्रभावेन भान कहा जाता है। यह स्वयं समग्रभाव से अथवा साक्षात्भाव से किसी भी सम्बन्ध निरूपण में नहीं आता, तब भी इसी से विषय-विषयी सम्बन्ध

प्रस्फुटित होते हैं; इसी से अंश-अंशी इत्यादि का प्रकाशन भी होता है। यह है भान का स्वविमर्श (Self Review-Self Treatment)। यह मूलविमर्श ही अनुमर्श आदि पंच आकृतियों में भासादि पंचक को भान के आधार में प्रस्फुटित करता है। भान ही मूलविमर्श के कारण एवंविध विषय-विषयी प्रभृति रूप में प्रस्फुटित होकर वृत्ति हो जाता है। यदि Alogical Fact और Reviewing Fact किंवा Logical होने के घटक को ही विमर्श कहें, उस स्थिति में घटक-घटित-घटना ही वृत्ति है।

यत् सामग्रीतया भानं सहते न निरूपकम्।
तत्रेदन्तादिरूपेण निरूप्यमानता यया।
निर्वाच्यत्वमनिर्वाच्ये दीयते वृत्तिता हि सा ॥ ८१ ॥

अखण्ड सामग्री के रूप में भान ही है 'अदिति'। इस रूप में भान किसी भी निरूपण (जो 'इस प्रकार' का कहकर निर्दिष्ट करता है) को सह्य नहीं कर सकता। अथच उस भान में अहं, इदं (विषय-विषयी) निरूप्यमानता (Define-ability, determinateness) प्रस्फुटित हो उठती है और इस प्रकार से जो तत्वतः अनिर्वाच्य (alogical) था, वह अब निर्वाच्य (Logical, Predicable, thin-kable, related) हो जाता है। यही घटना (घटक-घटित के सहकार द्वारा) ही वृत्ति है।

जप में प्राण को एक ओर वाक् और दूसरी ओर भावप्रत्यय और बोधप्रत्यय रूप से 'निरूप्यमाण' करना पड़ता है। यही है जपाकारा वृत्ति ! इस निरूपण द्वारा प्राण समग्रता से निरूपित नहीं होता। प्राण का जो अनिरूपित भाव जपारम्भ में अथवा जप के पूर्व है, वह जप करने वाले (प्रमाता) के लिये 'तमसा' (vieled and covered in determinateness) है। जपप्रमाण के द्वारा ये आवृत्तरूप प्राण-प्रमेय भी क्रमशः छन्द की आकृति में भाव तथा बोध में अपावृत हो जाते हैं। जैसे Asymptote कभी भी Hyperbola को निकट से निकटतम होने पर भी स्पर्श नहीं करता, उसी प्रकार से प्राण सम्पर्क में प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय के बीच एक 'रेस' (दौड़) चलती रहती है। प्राण स्वयं को क्रमशः उज्वलतर, मधुमत्तम, रूप से प्रस्फुटित करता रहता है। इसका अन्त कहाँ है ?

इसका अन्त है अनन्त अथवा शून्य में ! प्रमाता को गुरु-सन्त-शास्त्र को सम्मुख रखते हुये यह प्रश्न करते रहना चाहिए कि वृत्ति का आभास (Illusion), अपभास (Delusion) शून्य की ओर जा रहा है, किंवा नहीं जा रहा है ? 'मान' तो नव-नव रूपों में भासित हो रहा है। कहीं वह 'भाण' रूप में तो परिवर्तित नहीं हो गया ? और अन्त में (इन दि लास्ट लिमिट) समस्त भास उस परम प्रकाश, परम स्वरस अथच परम अनिर्वाच्य भान में पर्यवसित होता जा रहा है, अथवा नहीं हो रहा है ? परम की यह अनिरूप्यता ज्योतिषा, रसौजसा तथा रसमहसा है।

५. अभाव प्रत्ययाभावप्रतियोगित्वमिति च ॥

'कुछ नहीं' इस प्रकार से जो अभाव प्रत्यय होता है, उस प्रत्यय का ही जो अभाव है, उस अभाव का जो प्रतियोगी है अथवा विषय है, वही है वृत्ति ॥ whatever negates pure negation. 'इतिच' कहकर वृद्धिपंचक सूत्र का उपसंहार किया गया। अब वृत्ति के पंचलक्षण हो जाते हैं।

वृत्ति में जो "ऋच्छति" अथवा गतिरूपता निहित है, वह वृत्ति के पूर्वोक्त चार लक्षणों में एक आकृति में उदित हो रही है। प्रथम में 'मोदते' अथवा आनन्द वृत्ति इत्यादि रूप से 'ऋच्छति'। 'बहुस्याम'-सदसत् रूप से 'अस्तिता' में 'ऋच्छति'। अस्मि-असि-व्यक्ताव्यक्तरूपेण भातिता में ऋच्छति ! द्वितीय में वाक् तथा बुद्धि का विषय रूप होकर ऋच्छति ! तृतीय में वस्तु सम्बन्ध घटना रूपेण ऋच्छति ! चतुर्थ में भान के निरूपण के रूप में ऋच्छति ! और इस पंचम में 'ऋच्छति' कहने से जो भावाभावाभाव (Becoming = Being + non--Being) सूचित होता है, वह भावाभाव अभाव में भी शेष कैसे होता है, इसका निर्देश है। प्रकारान्तर से प्रथम लक्षण है तत्व के उद्येश्य से, द्वितीय प्रमाण के उद्येश्य से, तृतीय को प्रमेय के उद्येश्य से कहा गया है। चतुर्थ को प्रमाता के और पंचम को शून्य के उद्येश्य से सूत्रित किया गया है। इस शून्य-पदार्थ की विवेचना पश्चात्काल में होगी।

शून्य पूर्णतः अभावमात्र नहीं है। अभाव, ही है व्यवहार में अन्तर अथवा व्यवधान। भूतल पर घट नहीं है, किन्तु अन्यत्र है। आकाशकुसुम आकाश में नहीं हैं, किन्तु कल्पना तथा उपमा में है। कटहल में आम का गुण कल्पना में नहीं है, परन्तु वार्त्तालाप में है। व्यवहार में जिसे भाव अथवा 'रहना' कहते है, उस भाव के साथ इन सब उदाहरण में अन्तर अथवा वियोगरूपता रहती है। इसलिये व्यवहार में अभाव का अर्थ है (न्यायोक्त आत्यन्तिक आदि चार अभावों के स्थल पर भी) किसी निर्दिष्ट अथवा निरूपित भाव का अभाव-भावाभाव। भाव का यह अन्तर अथवा वियोग रूप जो अभाव है, यदि उसे शून्य कर दिया जाये तब भाव ही शेष रहेगा।

पुनश्च ! व्यवहार में सभी पदार्थ भावभाव मिश्रित हैं। क में केवल ख-ग इत्यादि का अभाव है, ऐसा ही नहीं है। इसकी कोई इयत्ता नहीं है कि क भी अपने मात्रा-पाद तथा कला में कितना है ? यहाँ जो नहीं हैं उसका तात्पर्य हुआ कि जो है उनके साथ 'नहीं' हैं' का अन्तर। इस अन्तर को शून्य में लाओ। 'क' मात्रापाद आदि से काष्ठा में आया। जपादि साधना का उद्येश्य ही यह है इस प्रकार के अंतर को अथवा अभाव को ही शून्य करना, तभी वह पूर्ण हो सकेगा। gap-hiatus आदि को कम-करते-करते Nil में लाना होगा। तभी शुद्ध होगा। अब कोई अभाव नहीं है।

समस्त अभावों को क्रमशः शून्य करते-करते पूर्ण भाव जिसके द्वारा होता है, वह है वृत्ति। वृत्ति ही पूरणी तथा हरणी है। क में ख मिश्रित है। अर्थात् सब 'क' ही नहीं हैं, 'क' का अभाव है। 'ख' का हरण करने पर इस अभाव का ही अभाव होगा। अर्थात् अब 'क' शुद्ध है। साधना में ऐसा दृष्टान्त पग-पग पर है।

'क' को शून्य के स्थान पर रक्खो। शून्य के दोनों ओर एक-एक रेखा खीचों। एक है हरण-एक है पूरण। अब 'क' को पूर्ण करने के लिये पूरण रेखा (on The Positive Side) में जो कुछ अन्तर है, उस अन्तर को शून्य में लाकर 'क' से मिलाओ। जप में छन्द नहीं है? नाद अथवा रस नहीं है? अन्तर दूर करने का यत्न करो। जो दूर है, क्वचित्-कदाचित् है, उसे 'अस्ति' के अव्यभिचार में लाओ। 'एक आध' बार नाद श्रवण से कुछ भी नहीं होगा। इत्यादि। अब पुनः 'क' को शुद्ध करने के लिये 'क' में 'ख' इत्यादि जो कुछ भी त्रुटि अथवा धूल-गन्दगी है, उसके हरण के लिये शून्य के दूसरी ओर जाओ। इससे 'क' में से 'ख' इत्यादि का अन्तर जितना ही हटने लगेगा, उसी अनुपात में 'क' का अपना स्वभाव (और शुद्धि का अभाव) शून्य की ओर आनें लगेगा। अब यदि 'क' को तत्व कहें, उस स्थिति में हरण—पूरण, हान—उपादान रूपी दोनों रेखाओं को असीम करना होगा। असीम से कुछ तो पूरण की ओर आ रहा है, किन्तु तत्व का स्पर्श नहीं कर रहा है। और जिसे हरण (हान) करना है, वह भी हरण की ओर असीम में है। अब वह हरणतत्त्व में (शून्य में) आकर उसे अपनी (अशुद्धि) वृत्ति द्वारा व्याप्य नहीं कर सकता। दोनों ओर + oC और — oC। इनके योग द्वारा शून्य को तत्त्व में रखते हैं। यह सब प्रसंग आगे भी आलोचित है।

आत्यन्तिकतया योऽपि ह्यभावप्रत्ययो भवेत्।
शून्यमिति हि यत्किञ्चित्त्वेन सोऽपि निषिध्यते।
शून्यमपेक्ष्यवृत्तिस्त्वं धनमृणमिति द्वयम् ॥८६॥

घट में तनिक भी जल नहीं है। घट पूर्णतः शून्य है। इस प्रकार का जो अत्यन्त रूप अभाव प्रत्यय होता है, वह 'यत्किञ्चित्' रूपेण निरुपित भाव (जैसे जल—वायु—आकाश नहीं है) के सम्पर्क से होता है। अर्थात् घट को पूर्ण शून्य कहने पर इस 'यत्किचित्' का निषेध (Negation) हो जाता है। शून्य का तात्पर्यार्थ एकान्तिक अभाव नहीं है। शून्य वह ध्रुवस्थल (जैसे गणित में origin) है जिसकी अपेक्षा से धन (पूरणी) तथा ऋण (हरणी) रूपी द्विविधावृत्ति दोनों ओर अपेत—अपेक्षासहकार द्वारा 'इत' अथवा चलित होती है। यहाँ भी है 'ऋच्छति', किन्तु शून्य में आकर उसका भी समापन हो जाता है। समापन = ध्रुव। इस प्रकार शून्य है तत्व, स्वभाव-प्रकृति।

वृत्ति में जो 'ऋच्छति' कला (aspect or partial) है, उसकी एक अवसान भूमि भी है। इसे इस सूत्र में निर्देशित किया गया है। नाना दिक् की ओर ऋच्छति वृत्ति हो रही है। यदि उसका समास (Algebric Sum) शून्य हो जाता है, तब वस्तु स्थिरता से है। गतिविज्ञान के मूल में 'सचल-अचल' रूपी ऋच्छतिकला की मात्रा-पाद एवं काष्ठा का अनुधावन हो रहा है। ऐसा ही अध्यात्मविज्ञान में होता है। जप-ध्यान-पूजा-कीर्त्तन आदि कोई भी साधन क्यों न करें, उनमें इस ऋच्छति कला को सम्यक् रूप से मात्रा, पाद, काष्ठा में चलाना ही होगा। जप में मुख्यतः आश्रयणीय तत्व हैं शुद्ध आकृति (व्याहरण आदि में), शुद्ध छन्दः, शुद्धभाव तथा शुद्धभाति। जपवृत्ति की यह ऋच्छतिकला किस प्रकार से कितनी अग्रसर हो रही है, अग्र्या अथवा क्रमशः अग्र्या हो रही है, इसका लक्ष्य करना चाहिये। 'ऋच्छति' भी ऋजु तथा अनृजु होता है। अनृजु भी सुषम तथा विषम (जिक्षादि) हो सकता है।

प्रत्यक्षादि स्थल में भी इन सब की प्रसज्यता रहती है, इसे विवेचित किया जायेगा। वाह्य प्रत्यक्ष के स्थल में अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य और विषयावच्छिन्न चैतन्य, इन दोनों की समानाधिकरणता के संघटन में ऋजु-सुषम 'ऋच्छति' रहना आवश्यक है। इत्यादि। प्रमाता तथा प्रमेय के बीच का अन्तरिक्ष अथवा व्यवधान नाना स्तर में और नाना भंगी में वर्त्तमान रहता है। अतः वह से यह अथवा यह से वह होता रहता है। इसलिये ऋच्छतिवर्त्म सम (Homogenous) नहीं है। इसे जिस परिमाण में समता के अभिमुख लाया जायेगा (जैसे प्रमाता का राग द्वेष आदि पंचपाश से मुक्त होना) उसकी 'ऋच्छति' उतनी ही सुषम तथा ऋजु होती जायेगी। अब अन्य दृष्टान्तों की आवश्यकता नहीं है।

शून्य का ध्यान, शून्य का साधन केवल बौद्धचर्या में ही विशेषित नहीं हुआ है। यह योगतंत्र आदि में सविशेष रूप से उपदिष्ट है। सूक्ष्मरूप से लक्ष्य करते रहना चाहिये कि ध्यान की एकतानता (ऋजु सुषम ऋच्छति) किस भूमि में जाकर अवसान प्राप्त करती है। किन्तु शून्य कौन सा पदार्थ है?

६. सर्वसापेक्षकाष्ठारम्भकत्वं शून्यत्वम् ॥

जो समस्त सापेक्ष है [जो आरंभ सीमा, काष्ठा, आरंभ और सीमा के मध्य व्यवधान इन तीनों की अपेक्षा रखता है] वह अपनी काष्ठा में जाने के लिये जिस (अपेक्षारहित) आरंभक का आश्रय लेता है, वह है शून्य ॥ The unspecified (i. e neither plus function nor minus) starting point or origin of any specification (such as a series) moving (Positively or negatively) to a limit.

स्पन्दं द्वन्द्वं तथा स्यन्द माश्रित्य यदपेक्षते ।
तद्वृत्तिवृत्तसंङ्कोचे यत्रर्णं याति लीनताम् ।
यत् आरभते सर्वं धनं तच्छून्यमुच्यते ॥८७॥

स्पन्द = आदि में जो ऋच्छति भाव है, Basic stress है, द्वन्द्व आदि पारस्परिकत्व (Basic Reciprocity), स्यन्द = आदिम सचल भाव (Basic Mobility or currency तो मूल स्पन्द स्पन्द नहीं है, प्रत्युत् स्पन्द होने के ठीक पहले उसका कारणरूप जो अव्यक्त (Elan) आवेग है; वह है । जैसे बीज में उच्छूनता होती है, उसी प्रकार । यहाँ इन स्पन्द, द्वन्द्व तथा स्यन्द का आश्रय लेने के कारण जो सापेक्षता (Relatedness or Conditionality) है, उसकी (अर्थात् उस सापेक्ष पदार्थ की) काष्ठाभिमुखी वृत्ति होती है (तद्वृत्ति) । जैसे इस वृत्ति का एक वृत्त अंकित करने का निर्देश दिया । अर्थात् इस वृत्ति की (जैसे वैखरी जप में मानस पर्यन्त) व्याप्ति यहाँ इस अवधि तक होगी, यह निश्चित किया । यदि इस वृत्ति की व्याप्ति को संकोच की ओर ले जाते हैं, तब वृत्ति की ऋणमुखता (निगेटिव फेस) का प्रसार होगा अन्यथा उसे अग्रगति की ओर ले जाने पर होगा धन । अब यह संकोच अथवा ऋणमुखी वृत्ति जहाँ आते-आते यह कहने लगती है कि यह शेष है, अब मैं नहीं हूँ (याति लीनताम्); और धनमुखी वृत्ति जहाँ आकर यह कहती है कि यह मेरा आरंभ है, वही (धन—ऋण और उनकी-उनकी वृत्ति की अपेक्षा से रहित) स्थल है शून्य ।

वियोग (हरण) कहता है "मेरी काष्ठाभिमुखीन वृत्ति का उसी स्थल से आरंभ है ।" योग अथवा पूरण भी यही कहता है । शून्यता ही सर्वसापेक्ष के लिये आवश्यक है । यह योग अथवा वियोग धन अथवा ऋण है ? इसे जानने के लिये आरंभ को ही पकड़ना होगा । यही है (as fixed origin or point of Refrence), समस्त मेय का (धन-ऋण, हरण-पूरण) का मान । शून्य में केवल आरंभकता नहीं है, अवसान भूमि भी है । इसी को समझाने के लिये यह वृत्तसंकोच का दृष्टान्त है । वस्तुत: एक प्रकार से जो आरंभ है, वही अन्य दृष्टिकोणों से अवसान है । असीम भी प्लस-माईनस में मिलकर शून्य में अवस्थित हो जाता है ।

स्पन्द कहाँ से प्रारंभ होगा ? जहाँ ऋच्छति भाव शून्य है, वहाँ से । द्वन्द प्रारम्भ होता है ! जहाँ Reeiprocal or polar का व्यवधान शून्य है, वहाँ से स्यन्द Flow or currency की विश्राम भूमि से, शून्य से प्रारंभ होता है । जैसे सुषुप्ति । यहाँ पर स्यन्द तथा द्वन्द्व, दोनों ही निरपेक्ष आरम्भक शून्य में आ जाते हैं, किन्तु स्पन्द नहीं आता । जब स्पन्द शून्य में आ जाता है, तब है तुरीय ।

इस प्रकार से निखिल सृष्टि का आरंभक शून्य है, परन्तु यह शून्य void नहीं है । नैरात्म्य अथवा पूर्णत: अभाव पदार्थ कदापि नहीं है । गणित आदि व्यव-

हार शून्याश्रय से ही चलता है। मानों समाप्ति अथवा अवसान गोचर में आना नहीं चाहता, किन्तु आरंभ तो गोचर में आ जाता है, यही बोध समस्त व्यवहार में चलता है। शून्य ही स्वाभाविक आरम्भक है। इसीलिये तारचक्र जप में और अन्य जपों में मेरु का लंघन करना वर्जित है। जैसे गायत्री जप को यथासम्भव विन्दुलीन करके अर्थात् शून्य सान्निध्य में लाकर, वहाँ पुनः नादोदय—इस प्रकार से जप करना चाहिये। जपारंभ भी यथासम्भव शांतविराम भूमि से होना समीचीन है। संगीत के आलापन में यह और भी सुस्पष्ट है। ताल प्रभृति में शून्यांक अन्यत्र रहने पर भी सम ही यथार्थ मेरु है। वहीं पर विराम देना होता है। इसमें आरंभक भी शून्य अंक स्थल से ही होता है। शून्य अधिकार के सम्बन्ध में कतिपय सूत्र हैं। इससे भी पहले है पूर्णसूत्र। शून्य में आरंभक भाव 'गोचर' है और अवसान भाव है 'मानो' अगोचर। 'मानो' का प्रयोग इसलिये किया गया क्योंकि दृष्टि कहाँ है—ऋच्छति के 'ऋ' में अथवा 'ति' में? इसी पर ही गोचर तथा अगोचर भाव निर्भर करता है। यदि दृष्टि में गत्यात्मक धातु है, तब शून्य है आरंभक (स्टार्टिंग प्वाइन्ट)। और यदि दृष्टि में कालवाचक 'ति' धातु है, तब विरामरूप अवसानरूप है शून्य। चल तो रहे हैं, परन्तु अवधि कहाँ तक है, कब शेष है, कहाँ शेष है?

यह सत्य है कि घट को शून्य करके ही उसमें जल भरा जाता है। जिस काम की इच्छा है आत्मेन्द्रिय तर्पण, उस काम की लेशमात्र गन्ध रहने पर काम में शुद्ध प्रेम का उदय नहीं हो सकता, इत्यादि। तब घट क्यों है, किस रूप में है? आरम्भ है ऋ, अवसान है ति। किन्तु समापन!

७. सापेक्षत्वानपेक्षत्वयोः समत्वं पूर्णत्वम् ॥

सापेक्ष तथा अनपेक्ष रूपी समता की जो आधार भूमि है, वह है पूर्णत्व॥ the limit where the related and the unrelated meet and unify.

अन्तरितत्वेन सर्वस्य सापेक्षतानपेक्षते।
अपूर्णत्वाद्वैषम्यमादधाते विशेषतः।
तस्य विलोपकाष्ठायां समता पूर्णत मता ॥८८॥

'क' पदार्थ 'ख' की अपेक्षा रखता है, अतः सापेक्ष है। वह 'ग' की अपेक्षा नहीं रखता, अतः उसके सम्पर्क से अनपेक्ष है। व्यवहार में इस प्रकार का भेद सर्वत्र किया जाता है। यह भेद करना सम्भव होता है क-ख-ग इत्यादि सत्ताशक्ति को यथासम्भव पारस्परिक रूप से अलग रखने पर (अन्तरितत्वेन)। मानों प्रत्येक पदार्थ एक-एक वर्त्तुल (Spheriod) हैं। प्रत्येक (है और) क्रिया कर रहा है अपने वर्त्तुल में स्थिर रहकर। (By Limitation and Separation)। यह घट है, पट नहीं है, यह बट का बीज है, अश्वत्थ का बीज नहीं है इत्यादि। वर्त्तुल भी वर्त्तुल का अवच्छेदादि करता है, जैसे मिश्रण में, रसायन में। वे अंग-अंगी, अंश-अंशी

कार्य-कारण आदि सम्बन्ध में भी आ जाते हैं, तथापि यह सब होने पर भी सापेक्षता (related mess) तथा अनपेक्षता (अनरिलेटेडनेस) का व्यवसान तथा व्यवहार शेष रह जाता है। व्यवहार में 'क' यह नहीं सोचता कि विश्व के भूत-भव्य प्रभृति सबसे उसकी सापेक्षता है। अथवा वह यह भी नहीं सोचता कि वह शुद्ध केवल है और किसी से उसका अपेक्षा सम्बन्ध नहीं है। universal relatedness and pure unrelatedness प्रभृति किसी भी स्थिति में स्वयं को अवस्थित नहीं देखता। उसमें 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की उदारता भी नहीं है और उसमें औदासीन्य का 'मुक्त-संग समाचर' भी नहीं है।

इस प्रत्यगात्मा शब्द में द्विविध वृत्ति में से कोई भी नहीं है। अतः जो व्यावहारिक सापेक्षता तथा अनपेक्षता परस्परतः अन्तरित है, वह विशेषरूप से अपूर्णता के अशेष वैषम्य को प्रपंचित करके पकड़े रहती है। (आदधाते विशेषतः)। केवल अपूर्णता को ही नहीं, अन्य आनुषंगिक तथा आनुपातिक विशेषणों को भी पकड़े रहती है। जैसे विशेष ज्ञानी, न्यूनज्ञानी आदि। बहिर्जगत् में जो समालोचन (एप्रिसियेशन) है, उसमें भी आपूर्णादि वैषम्य का अन्त नहीं है।

यहाँ सापेक्षता तथा अनपेक्षता में जो अन्तरित भाव है, मानो उसे संकुचित करते हुए विलोम की काष्ठा में ले आया गया। फलतः सापेक्ष अनपेक्ष मिलित होकर समता में आ जाते हैं। यह समता ही पूर्णता है। जैसे हम सापेक्ष को एक वृत्त में भर कर रख देते हैं। वृत्त के बाहर है अनपेक्ष। वृत्त की परिधि वर्द्धित की जा रही है। अनपेक्ष आगे हटता जा रहा है, तथापि उसका अस्तित्व तो है ही! यदि यह आगे हटता जा रहा है, तथापि उसका अस्तित्व वृत्त अनन्त हो, उसमें परिधिरूपी अंतर ही न हो, तब? सब कुछ सापेक्ष (यूनिवर्सल-इन्टर-रिलेटेडनेस) में आ गया, कुछ भी बाकी न रहा! अच्छा अब! दूसरी विधि को अपनाकर सापेक्ष के वृत्त को कम करते-करते शून्य पर्यन्त ले आये तब? इस स्थिति में वृत्त का परिधिरूप अंतर विलुप्त हो जाता है। फलतः सब कुछ अनपेक्ष है "आकाशो नोपलिप्यते"। दोनों ओर यह समता साधित होना ही पूर्णता है। एक ओर अनन्त, दूसरी ओर शून्य! इन दोनों काष्ठा की 'अपेक्षा' को ग्रहण करने पर ही इसमें स्थिति हो जाती है। 'अपेक्षा' की जो आनन्त्य कोटि है, उस भूमि में बोध तथा भाव को ले जाने पर अपेक्षा का 'अप' अपगत हो जाता है। तब है 'सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि' के बोध में 'आत्मैवेदं सर्वम्' रूपी परमबोध की समीक्षा-परीक्षा-अन्वीक्षा! 'सर्वं ब्रह्मोपनिषदम्'। भाव के अनुसार भी 'जहाँ-जहाँ नेत्र पड़े, तहाँ-तहाँ कृष्ण स्फुरे" यही है उत्तम भागवत का रूप।

अतः Comsic Interrelatedness as a fact एक वस्तु है। उसका appriciation and realization अन्य वस्तु है। इसी के साथ परम अपनेक्षभाव

का भान भी होना आवश्यक है। इन दोनों की समता की साधना में यदि तुम एक कीट के क्लेश का भी कष्टबोध करो, तब वह क्या है, जानते हो? 'परमाराधनं तद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः'' । वह है अनपेक्ष परम प्रकाश और आनन्द आधार की परममरमी—परमदरदी भाव की एक परमाश्चर्य सामग्री! भगवत्ता के अपार अहैतुक करूणारूप और भगवत्ता की अनुग्रहशक्ति के मूर्त्त विग्रह श्री गुरु में यह परमाश्चर्यमयी समन्वय समता वर्तमान रहती है। प्रथम सूत्र में पूर्णता को विस्तार पूर्वक कहा गया है।

यहाँ यह लक्ष्य करो कि सापेक्ष भाव अपनी परिसीमा में आकरः—

(१) अनपेक्षभाव के साथ के व्यवधान (Hiatus) को समाप्त करता है।

(२) अतः वह (Cosmic Destiny अथवा determination) विश्व व्याप्त जाल से जड़ित नहीं होता।

(३) अतः यह समता ही 'योग' है। निर्दिष्ट परिनिष्ठत होने पर ब्रह्म है, क्योंकि वह नित्ययुक्त, नित्यमुक्त भूमि है (प्रकाश-तथा आनन्द)।

(४) इस भूमि में अपेक्षा शून्य नहीं होती, प्रत्युत छन्द की महासमन्वयी तथा परम समन्वयी में अपेक्षा स्थित रहती है। इसलिये Cosmic inter-relatedness है एक Cosmic Symphony, Divine orchestra जिसमें यहाँ जितने करुण कोमल (संगीत के) पर्दे बजते हैं उनमें परम सुरब्रह्म, परममरमी, परमदरदी रूप से परम संवेदन को ग्रथित कर लेते हैं।

(५) अतः यह है universal, unmeasured Resonance and Responsiveness की भूमि।

जैसे शून्य में आरम्भ तथा अवसान है, उसी प्रकार पूर्ण में समता और समापन हैं। इस समापन को आगे के सूत्र में कहा गया है

८. तत्र सर्वसापेक्षानपेक्षकाष्ठासमाप्तिः ॥

पूर्ण में सकल सापेक्ष एवं अनेपक्ष काष्ठा का समापन हो जाता है॥

व्यवहार में सापेक्ष और अनपेक्ष रूप दो पाद मात्रा कला काष्ठा है। इनमें सर्वतोभावेन कोई भी काष्ठा नहीं है। जो सापेक्ष की वृत्ति है, वह अपने विस्तार में क्रम का प्रदर्शन करती है। (क्रम = Seriality)। दोनों के मध्य के अन्तरित भाव को (Hiatus) पूर्व सूत्र में दिखलाया गया है। वर्त्तमान सूत्र में क्रम तथा क्रान्ति की समाप्ति का तथ्य अंकित किया गया है। इन सभी सूत्रों के क्रम अथवा क्रान्ति की समाप्ति का उल्लेख भी अब किया जा रहा है। ये सब सूत्र सार्वभूमिक हैं। ये गणित विज्ञान तथा बहिर्विज्ञान में भी प्रासंगिक है। जल बर्फ हुआ। ताप में ह्रास की अपेक्षा है। शून्य डिग्री सेन्टिग्रेट में वह अपेक्षा अपनी काष्ठा में आती है। बरफ

जम जानें के उपरान्त अब ताप ह्रास की अपेक्षा नहीं रह जाती। वह अनपेक्ष हो जाती है। और कम होने पर कुछ नहीं होगा बरफ जमी ही रहेगी, किन्तु ताप को बढ़ाया नहीं गया। यहाँ दोनों भूमियों में (Field में) Energy level का अन्तर है। यहाँ उच्च भूमि से निम्न भूमि की ओर स्यन्द (Flow) हुआ। जब तक समता नहीं हो जाती ! इत्यादि। जप की संख्या कब पूर्ण होगी, कब पुरश्चरण पूर्ण होगा ? पुर्ण का अर्थ है, (यहाँ पर) क्रिया कारक के कारण किसी एक निरुपित भूमि में आना। जबतक जपादि पूर्ण नही हो जाता, तबतक संख्या प्रभृति की अपेक्षा रहती है। पूर्ण कहने का जो तात्पर्य है, उसके साथ एक अन्तरित भाव (Hiatus) भी है।

संख्यादि पूर्ण हो जानें पर इस अन्तर के अन्तर्हित हो जानें पर संख्यादि का सापेक्ष भाव उसकी काष्ठा में आया और साथ ही उस सम्पर्क में अनपेक्ष भी हुआ। पूर्ण हो गया, अब संख्या चलते रहनें की कोई अपेक्षा नहीं है। चित्तशुद्धि के द्वारा विविदिषा आयी। तब है ऐषणात्रय का त्याग हो जानें के कारण सन्यास। अब पुर्व सापेक्ष भूमि में कर्त्तव्य (विधि—निषेध) की काष्ठा उपनीत हो गई और विविदिषा सन्यास की अनपेक्षता आ गई। इसके अनन्तर इन सबकी कोई अपेक्षा ही नहीं है। विद्वद् भूमि के पारमहंस्य में ये दोनों (अपेक्षा—अनपेक्षा) काष्ठायें समाप्त हो जाती हैं किंवा उनकी समता हो जाती है। रसाश्रित साधन में भी मुख्यत: भाव को लेकर अपेक्षा-अनपेक्षा का और कहाँ पर समता और समाप्ति है, इसका अनुधावन करो। जैसे भाव के रागानुग होने पर विधि अपेक्षा की काष्ठा आई और अनपेक्षा में समता लाभ किया। वैखरी जप में नादादि की अपेक्षा रहती है। जप आदि जब सम्यक् रूप से चलते हैं, तब अपेक्षा का 'अन्तर' कम होता जाता है। तब बीच-बीच में 'एक आध' अपेक्षा रहती है। अपेक्षा के दो दिक हैं। प्रथम है—यह व्यवधान। इसके शून्य में आने पर अनपेक्षा ! अब अपेक्षा नहीं है, नाद प्राप्त है। द्वितीय है—जप सौष्ठव आदि तथा भावरूप में। जब तक यह एक काष्ठा में आकर समाप्त नहीं हो जाते, तबतक नाद नहीं मिलता। क्रिया भाव को एक Critical Efficiency Level तक पहुँचने ही देना होगा। व्यवहार क्षेत्र में पूर्ण होने के यह सब दृष्टान्त हैं। लक्षण को मिला लो।

अब है मूल कथा—

विन्दौ केन्द्रत्वमापन्ने ह्येको बहुत्वमर्हति।
व्यावृत्तत्वञ्च केन्द्राणां पारस्परिकसंग्रहः ॥८९॥
पारस्परिकभेदोऽपि योऽन्तरिक्षव्यवस्थितः।
सर्वसापेक्षतासीमा पूर्णे हि परिनिष्ठिता ॥९०॥

पहले विन्दु बहुधा कथित है। आगे के सूत्र में भी कथित होगा। जब यह विन्दु 'केन्द्र' रूप में आता है, तब एक ही 'बहु' रूप में लक्षित हो जाता है। विन्दु =Absoltue as Perfect Point, अत: one and indivsible एक तथा अविभाज्य है। केन्द्र = Centre of being and functioning अत: many, बहु (पूर्वालोचित वृत्तिरूपता में अभिव्यक्त होने पर ऐसे अनेक केन्द्र आवश्यक हो जाते हैं)। तदनन्तर पुन: केन्द्र से बीजभाव और प्ररोहभाव (Potential and Kinetic) भी आता है। अच्छा ! केन्द्र रूप से बहु होकर वह व्यष्टि और व्यक्ति हुआ। उसनें व्यष्टि रूपेण परस्पर को वियुक्त किया—अलग किया (व्यावृत्ति) और व्यक्ति रूपेण परस्परत: अपने साथ सम्बद्ध किया (संग्रह)। व्यष्टि—व्यक्ति केन्द्र (Centres of Segregation and Individualization) समूहों का जो पारस्परिक भेद (differentiality) है, वह उनमें स्थित अन्तरिक्ष के द्वारा व्यवस्थित (Conditioned and Maintained as such) होता है। यह भी पहले आलोचित हो चुका है। जो भुवनाकृति विन्दु के आधार पर स्थित है, उसमें सापेक्ष-अनपेक्ष (अपेक्षा रूपेण) व्यावहारिक भाव से क्रम हो जाने के कारण, उसका रूप आपेक्षिक हो जाता है। मात्रा पाद कला का—आगमन हुआ। वस्तु-शक्ति-छन्द: तथा आकृति को विचित्र रूप से 'विषय' बनाया। किन्तु आपेक्षिक के दोनों पक्ष ही (व्यावहारिक सापेक्ष-अनपेक्ष) परम काष्ठा को (जहां एक ओर शून्य भाव में अवसान तथा वहीं से आरम्भ होता है, दूसरी ओर पूर्णभाव में समता तथा समापन होता है) चाहते हैं। यही है आदि विन्दु। अध्यात्मभूमि में यह परम काष्ठा प्रवणता स्फुटित होती है, यही है आवेग-आकृति-आग्रह-आस्पृहा इत्यादि के आकार में। एक Fulfilling and perfecting End की ओर निखिल विश्व की अनिर्वाण अपेक्षा !

अत: यह है विन्दुसूत्र :—

९. सर्वारम्भसमाप्तिकाष्ठावच्छेदकत्वं विन्दुत्वम् ॥

सर्व आरम्भ की काष्ठा की जो परमता हैं तथा सर्व समाप्ति काष्ठा की जो परमता है, इन दोनों परमता का अवच्छेदक (यह यहाँ, वहाँ प्रभृति निरूपक) है विन्दु। विन्दु इन दोनों परमता का अवच्छेदक है, परन्तु स्वयं अवछिन्न नहीं होता। मानों विन्दु दोनों परमता से कहता है "तुम दोनों यहाँ एकत्र हो जाओ, परन्तु यह नहीं कहता कि "यह तो मैं ही इनमें निरूपित हो रहा हूँ"। तभी तो विन्दु स्वरूप का कोई लक्षण ही नहीं दिया जा सकता। लक्षण तो तटस्थ परिसीमा (Closest possible aporoximation) अवधि है। वस्तुत: 'आनन्दं ब्रह्मेति व्याजानत्' ब्रह्मवस्तु को जाना है, किन्तु विन्दु को ? तारा प्रभृति समस्त बीजमंत्रों में यह विन्दु शीर्ष पर है ब्रह्म भी इसी बीजरूप से ही सृष्टि में अनुप्रविष्ट रहते हैं। किन्तु धारणा और ध्यान में इसे लाना क्या सहज है ? जैसे रिलेटिविटी थ्योरी में NowLine

और Here-Line भी धारा Cross करते हुये Here-now रूपी प्रतिति को घटित कराती है, यहाँ भी वैसा ही है। 'क' से आरम्भ 'ख', ख से ग इत्यादि क्रम से आरम्भ काष्ठा अब समाप्ति काष्ठा है।

ये दोनों काष्ठायें व्यवहार भूमि में विपरीत मुखी है, किन्तु उनके पारस्परिक अवच्छेद की एक भूमि है। जैसे बीज से अंकुरादि क्रम होते-होते फल में परिसमाप्ति होती है। यहाँ फल द्वारा आरम्भ रेखा (क्योंकि फल ही बीज है), और समाप्ति रेखा (क्योंकि फल ही समाप्ति भी है) को प्राप्त किया। फल से पुनः बीज ! अतः फल कहता है "मैं अंकुरादि क्रम से धारा की समाप्ति तथा प्रारम्भ, दोनों हूँ।" तारचक्रादि जप में विन्दु से आरम्भ और विन्दु में ही समाप्ति। वृत्तादि केन्द्र विन्दु से आरम्भ, उसी में समाप्ति 'अरा इव नाभौ समर्पिताः' यह दृष्टान्त सृष्टि में सर्वत्र है।

आरम्भश्च समाप्तिश्च गच्छतः क्रमिकतान्वयम्।
काष्ठायां विन्दुभावेन संङ्गच्छेते परस्परम्।
सर्वाद्यन्तविभेदस्य स विन्दुरद्वयस्थितिः ॥९१॥

आरम्भ और समाप्ति रूपी धारा रूप से क्रमान्वय (one link or stage after another) चलता है। यह भी परिलक्षित होता है कि यह दो विपरीत दिशाओं की ओर है। जैसे गंगा का आरम्भ इस लोक में गोमुखी से है और समाप्ति का संधान मिलता है गंगा सागर में। जड़ विश्व प्रारम्भ होकर सम्भवतः Cosmic Neubula में कैसे समाप्त होता है, इसकी भी खोज अभी नहीं हो सकी है। पृथ्वी का प्राणि जगत एक घरेलू दृष्टान्त है। अध्यात्म जगत् में भी आदि कहीं से है, अवसान कहीं है। इन दोनों क्रमान्वय का लेख हम अंशतः ही प्राप्त करते हैं, समग्रतः प्राप्त नहीं करते। विश्व अपने शेष पर्यन्त -घूम फिर कर' 'यथापूर्वम्' (अपनी पूर्वा स्थिति) में आता है अथवा नहीं, यह हमारे 'लेखे' में परिलक्षित नहीं होता। फिर भी काष्ठा अथवा परिसीमा को तो मानना होगा। इस काष्ठा परिसीमा में, आरम्भ-समाप्ति में क्रमान्वय आकर परस्परतः संगत होता है (संङ्गच्छेते परस्परम्)। देश असीम है, किन्तु अखण्ड मण्डलाकार समस्त के संस्था रूप में। काल भी निरवधि है, तथापि वह विश्व घटनापुंज के साथ एक महानेमि के समान आवर्त्तन करता रहता है। सचराचर सम्पर्क में यह अखण्ड मण्डल है और चर—संचर, प्रति संचरादि रूपेण भी as Cosmic cycle of events यह है अखण्ड मण्डल। ये दोनों मण्डल है संकोच-प्रसार धर्मी। ये सम्यक् ध्रुव (स्थिर) आकृति युक्त नहीं हैं।

इतने पर भी इन दोनों मण्डलों का एक ध्रुव 'ओकः' किंवा स्थल है। जैसे समस्त संकुचत्-प्रसरत् का होता है। इसी में देश, काल, निमित्त, प्रभृति समस्त कुछ

आरम्भ का मूल आरम्भ स्थित है और समस्त समाप्ति की चरम समाप्ति स्थित रहती है। विश्व में आदि तथा अन्त के कारण जो विभेद है, उसकी अद्वयस्थिति का स्थल है यही "ध्रुवौकः"। अर्थात् दो में नहीं, एक में ही स्थिति ! मुख्यतः देशकाल निमित्त रूपी वर्त्मत्रय द्वारा ही सबके आरम्भ तथा समाप्ति को खोजने चला हूँ। कभी-कभी यह वर्त्मत्रय आस-पास हो जाते हैं, जैसे सारनाथ में बुद्ध ने इस समय अपने उपदेश का प्रचार किया था। किन्तु इस प्रकार का साहित्य अनियत है। काष्ठा में चलने पर उसका आरम्भ कहाँ है, कैसे है, इस तरह के प्रश्नों के कारण अध्रुव तथा अनिश्चय आ जाता है। महामण्डल का परिक्रमण करने पर भी एकान्तिक को, इस अनापेक्षिक को, नहीं पा सका। यहाँ प्राप्त होगा विन्दु। जैसे दो अथवा तीन सरल रेखा। यदि वे परस्परतः किसी बिन्दु को काट रही हैं, तब वे उस विन्दु पर आकर यह कह सकती हैं "हम तीन में है। अन्यत्र उसमें हैं, तो इसमें नहीं हैं। यही नहीं एक स्थल पर कह सकती है कि "यही सब रेखाओं का प्रारम्भ तथा अन्त है।" विन्दु को शून्य भी कह सकते हैं और अनन्त असीम भी कह सकते हैं।

अतः विन्दु को इन चार भागों में बाँटकर समझने का प्रयत्न करो—

(क) आरम्भ के क्रमान्वय में (Series of Begining)

(ख) समाप्ति के क्रमान्वय में (Series of Endings)

(ग) इन दोनों अन्वयों (आरम्भ तथा समाप्ति) की काष्ठा (Limits infra और ultra) में

(घ) (शून्य तथा पूर्ण) दोनों काष्ठायें समसंस्कार में आ रही हैं (the point or Continunm where the limits Coinhere)

जैसे अ उ म। अ से आरम्भ और म से समाप्ति ! इन दोनों को क्रमान्वय में देखो। आरम्भ का आरम्भ कहाँ है, समाप्ति की समाप्ति कहाँ है ? सन्धान करो ? यही सन्धान है प्रणवजप। सन्धान होता है शेष विन्दु में। विन्दु ही नाद रूप होकर स्वराकृति में उच्चारित होता है। 'म' भी नाद का आश्रय लेकर विन्दु में लीन हो जाता है। इस उदय-स्थिति—अन्त रूप में कलाशक्ति स्वयं को आकारित करती है। शक्तिरूपेण कला और उसके शाक्तीतनु रूप में अर्धमात्रा।

अब पिछले सूत्र को स्पष्ट करके पुनः—

१०. तत्र शून्यतापूर्णते एकत्र ॥

पूर्णता-शून्यता एकत्र हैं, समसंस्था में मिलते है ॥ Point as pure; and Continum as perfert both meet aud unite.

आदिराम्भधारायाः स्पन्दादीनामभावो यः।
असदेवाग्र आसीद् वै श्रूयतैवं हि शून्यता ॥९२॥

सदेव चाग्र आसीद् वै पूर्णतापि विवक्षिता ।
सद्‌सद्‌व्यापिका वृत्तिविन्दुत्वेन हि गृह्यते ।।९३।।

स्पन्दादीरूपेण विश्व की अंतः धारा का जो आदि है, अथच जो स्वयं स्पन्दादिरूप से आरम्भधारा नहीं है, वह सब 'असदेवेदमग्र आसीत्' पहले 'असत् हुआ है।'' यह सुना गया है। यह इस प्रकार की शून्यता के ही लिये कहा गया है। पुनश्च, यह भी श्रुत है कि ''सदेवेदमग्र आसीत्' ये नब पहले सत् (जो है जहाँ 'नहीं' रूपी कुछ भी नहीं है) हैं। इनको पूर्णता भी कहा जा सकता है। जैसे एक बीज अथवा सुषुप्ति 'स्थिति' अथवा एक अक्षर। इन्हें समझने का यत्न करो। इस प्रकार से सत् (सब है) तथा असत् (कुछ नहीं है), इन दोनों में जो वृत्ति व्याप्त है उसे ग्रहण करो बिन्दु के रूप में।

इन 'सदसत्' के सम्बन्ध में वृहदारण्यकादि उपनिषदों के भाष्य में तथा अन्यत्र जो विपुल विचार किया गया है, उसे यहाँ विवेचित करने से कोई लाभ नहीं हैं। तब भी यह लक्ष्य करना है कि समस्त विवादों को दूर रखकर और सब पक्षों के समन्वय के द्वारा (विज्ञान गणित आदि के भी द्वारा) यहाँ जपादि साधन के सम्बन्ध में लक्षणों को सूत्रित तथा आलोचित किया जा रहा है। जैसे जब तारचक्र अथवा नाम जप में बिन्दुलीनता आती है, तब क्या मात्र शून्य में ही अवसान है ? नहीं, तब तो तार अथवा नाम की पूर्णता में स्थिति होती है ! It is a state of Perfected Equilibrium and Harmony पाद-मात्रा, कला, काष्ठा में जो व्यक्तभाव उन्मेष से उन्मेष में, विकास से विकास में जा रहा है, वह यहाँ ''धप्प'' से बुझ नहीं जाता। वह एक परम अव्यक्त निबिड़ता में पूर्ण हो जाता है।

यह युग्मभाव (शून्यता-पूर्णता) सृष्टि के समष्टि-व्यष्टि सब कुछ में रहता है। जैसे काले में समस्त रंग लीनता को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार ! जिसे व्यवहार में Blank (कोरा) कहते हैं (जैसे सुषुप्ति), वही सब कुछ को समता तथा समापन में लाने का उपयुक्त स्थल है। यह आरम्भ तथा अवसान का भी स्थल है। Equilibrium (समता) तथा Harmony (सुषमता), यह दोनों ही इस भूमि में perfected (समाप्त) हो जाते हैं। यही है निखिल विश्व-व्यवहार की आदि आरम्भ भूमि तथा शेष अवसान भूमि। यही है व्यक्त-अव्यक्त व्याकृत-अव्याकृत द्वन्द्व की सन्धिभूमि। अतः—

११. तमेवाधित्यानुप्रवेशो ब्रह्मणः ।।

इसी विन्दु को अधिकार करके ब्रह्म सृष्टि में अनुप्रविष्ट हैं ।।

इस सम्बन्ध में ग्रन्थ के पूर्व-पूर्व खण्ड में सविस्तार वर्णन किया गया है। (ह य व र ल प्रसंग देखो)। इस सम्बन्ध में महामाया का सूत्र पुनः चिन्तन करो।

सृष्ट्वनुप्राविशद् ब्रह्म सर्वं खल्विदमेव च ।
विन्दुब्रह्मत्वमायाति समन्वयादिति द्वयोः ॥९४॥
पूर्णापूर्णे न वा शून्यं समेत्य यन्ति सर्वताम् ।
कलावाचौ तथा विन्दुर्दीत्यदिति च कश्यपः ॥९५॥

श्रुति का कथन है कि सृष्टि के लिये ब्रह्म ने उसमें अनुप्रवेश किया। और यह भी कहा कि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'। शुद्ध निर्विशेष (शुद्ध सद्रूप) में इन दोनों का ही (अर्थात समस्त में वे अनुप्रविष्ट हैं और सब वे ही हैं) समन्वय हो जाता है। यह सृष्टि में सर्वत्र उदाहृत हैं। केवल बीज, सुषुप्ति ही नहीं, एक धूलि अथवा मन का एक भाव लेकर देखो! आरम्भ-अवसान तथा समापन की भूमि को खोजो। वह सर्वत्र ही है। यही भावद्वय की काष्ठा का अवच्छेदक और संयोजक रूप भी है। एक ऐसा स्थान है जहाँ आरंभ अवसान आकर कहते हैं 'अब नहीं, हम पूर्ण हैं। समाप्त'' समता तथा समापन भी कहते हैं 'अब नहीं, हम पूर्ण हैं।' व्यवहार अर्थात् पादमात्रादि में सर्वत्र कौन आकर रहता है? पूर्ण अपूर्ण, शून्य-अशून्य रूपी युग्म का द्वन्द्वस्थित आकार! इस युग्म द्वंन्द्व के बिना तो 'सर्वं' का कोई रूप ही गठित नहीं होता!

कला तथा (कलाशक्ति नहीं, वर्णादिरूपेण कला = aspect or partial) वाक् (स्फोट तथा नादरूप में), ही क्रमशः दिति एवं अदिति हैं। (स्फोट-नाद कभी भी छिन्न नहीं होता, अतः अदिति है)। विन्दु है कश्यप। यह भावना करो। जब तक किसी बीज अथवा नाद का भरण विन्दु द्वारा नहीं होता तब तक उसमें बीजधानता अथवा बीजत्व ही नही आ सकता। जब तक ब्रह्म विन्दुरूपेण उनका भरण नही करता, तब तक उनमें विन्दुभावना निष्ठित नही हो सकती। इस विन्दु में बीजादि की स्थिति होने पर विन्दु धारण होता है। यही है बीज का 'जीवन' विन्दुपात (विन्दु न होना) ही मरण है 'मरण विन्दुपातेन'। सगुण सविशेष स्थल में = केन्द्र, नाभि, में समस्त केवल सूक्ष्म नही हैं, परन्तु कारणभूमि पर्यन्त वृत्तिमत्ता का अधिकार रहता है Involution of Becoming into being. जैसे एक त्रिभुज तथा वृत्त में उसके समस्त धर्म अनुप्रविष्ट हैं। यहाँ है Logical Implication बीज के समय भी Functional Implication.

अब उस परमारम्भ को शून्य से पुनः आरम्भ किया जाता है :—

१२. शून्यमपेत्य वृत्तित्वं द्वन्द्वत्वम् ॥

जो वृत्तिमत्ता शून्य से अपेत है, हटी हुई वह है द्वन्द्व ॥

द्वन्द्व = Polarity, state of Being Something and its opposite. The condition of A becoming 'A and Not—A'. अतः हटाना का अर्थ

देश, काल, निमित्तादि से अन्यथा होना नही है। किसी प्रकार का अन्यथात्व होना (otherness) ही द्वन्द्व नही है। जब समसंस्थाक ही असमसंस्थाक होता है तभी द्वैत अथवा भेद होता है। पहले जिस विमर्श का उल्लेख किया गया है, उस विमर्श की अपेक्षा से ही प्रतियोगिता सम्बन्ध का उदय होने पर द्वन्द्व परिलक्षित होने लगता है। जैसे अहं-इदं, अस्मि-अस्ति, पुं-स्त्री आदि। दिवा-रात्रि, सुख-दुःख, शीत-उष्ण, उत्तरी ध्रुव-दक्षिणी ध्रुव, ये सब द्वन्द्व हैं। जो द्वैत अथवा भेदमात्रारूपेण प्रतीत होता है, वह भी द्वन्द्वगर्भित रहता है। जैसे घट तो घट है, वह पट नहीं है। इस प्रकार का अन्योन्यभाव है द्वन्द्व। अथवा घट उत्तर में है, पट है दक्षिण में। अतः भेदस्थल में द्वन्द्व बीज स्थित है। द्वन्द्वप्ररोह नहीं भी रह सकता है। हर-गौरी भी कलह करते हैं। द्वन्द्व अहर्निश है। ब्रज में 'श्रीमती' भी तो कलहान्तरिता हैं! इन सब परमयुगल का द्वन्द्व है स्वारस्य-सामरस्य के आधार पर द्वन्द्व! यह प्रापंचिक द्वन्द्व का सजातीय नहीं है। जप में नादविन्दु का द्वन्द्व है, वह है स्वभावमैत्र तथा पुष्टि का द्वन्द्व। किन्तु अग्निमात्रा और सोममात्रा के द्वन्द्व में मैत्र तथा पुष्टि की बाधा भी घटित हो सकती है। अर्थात् मात्रा की समता के स्थल पर विषमता आकर विघ्न कर देती है।

एक चुम्बक लेकर देखो! मध्य में एक उदासीन (Neutral) स्थल है। वहाँ से प्रारम्भ करके चुम्बक धन तथा ऋण भाव से द्वन्द्वस्थ रहता है। उदासीन स्थल में चौम्बक वृत्ति (Reaction Index) शून्य है। इस दृष्टान्त को व्यापकतः ग्रहण करते हुये कहा जा सकता है कि शून्य वह स्थल है (State or point or plane), जहाँ से कोई निर्दिष्ट क्रिया अथवा प्रतिक्रिया का सूचक अथवा मापक (वाह्य समीक्षादि से अथवा आन्तर प्रतीति से) कहता है "और किसी सूचक अथवा माप का सूचन अथवा मापन नही हो सका (zero or measureless)।" इस स्थल से अपेत होने पर ही सूचन-मापन हो सकेगा।

शून्यन्त्वात्यन्तिकाभावश्चाथवा द्वन्द्वशून्यता।
अथवालोचनाधारमूलविन्दुर्निरुपकः।
ऋणता धनता वा स्याच्छून्यतास्थित्यपायतः ॥ ९६ ॥

शून्य सूत्र में सविशेष कहा गया। यहाँ 'अपेत भाव' विशेषतः प्रदर्शित करने के अभाव का तात्पर्य है शून्य'। द्वन्द्व नहीं है, अर्थात् उदासीन-निरपेक्ष भाव है शून्य! अथवा किसी आलोचन (Review or representation, जैसे गणित विज्ञान में, Analysis में) को करने पर उसके आधार (Frame) आलोचन के क्षेत्र में ही नहीं, प्रत्युत आन्तरालोचन में भी (सब्जेक्टिव ऐनेलसिस में) कोई आलोचनाधार अथवा निरूपक स्थल (Point or plane of reference) आवश्यक है। जैसे जप में ध्वनि सम्बन्ध, भावसम्बन्ध, भातिसम्बन्ध, क्रान्तिसम्बन्ध आदि के रूप में

आलोचनाधारा परिकल्पित हो सकती है। साथ ही प्रत्येक आधार में एक-एक निरूप्यमाणता निरूपक स्थल (जैसे ध्वनि में नाद-विन्दु) चाहिये। अब निरूप्यता- (इस स्थल से आरम्भ करते हुये समस्त वृत्तिलेख की समीक्षा करना होगा और जहाँ उसकी अवसानभूमि है वहाँ तक) रूप स्थल को भी शून्य कहा गया है। इस शून्यस्थिति (ध्रुव) से कहीं भी 'अपाय' हुआ या नहीं हुआ, यही निरीक्षण करने पर ऋण तथा धन 'मान' निरूपित हो जाता है। जैसे जप में नादस्फुरण अवश्य हो रहा है, किन्तु खण्डितभाव से ! यहाँ 'लेख' को सावधानी पूर्वक देखना होगा। यदि अखण्ड शुद्ध नाद को शून्य की जगह पर रक्खें, तब हमारा लेख किस ओर कितना है, इसका निरूपण हो जाता है।

द्वन्द्व की प्रकारता पहले भी कही जा चुकी है। भेदस्थल में द्वन्द्व प्रवाहरूपेण न रहने पर भी बीज (गर्भित) रूप से रह जाता है। भेद के ही समान द्वन्द्व को भी स्वगत, स्वजातीय तथा विजातीय रूप से देखा जाता है। एक Germplasm से दो सहोदर अथवा सहोदरा का द्वन्द्व अनेक स्थान पर विजातीय आकार में भी परिलक्षित होता है। किसी बीजमन्त्र में अग्नि तथा सोम का स्वगत-स्वजातीय द्वन्द्व विद्यमान रहता है, तथापि उसमें वैजात्य भी घटित हो जाना असंभव नहीं है। अर्थात् अग्नि = केवल हरण, और सोम = पूरण। अथवा उनके मात्रागत अनुपात वैषम्य से जपलेख भी सुषमता (Rhythmicity) त्यागकर विषमता में आ जाता है। प्रकाश-विमर्श, निष्कल-सकल, शून्य-पूर्ण, हर-गौरी, प्रभृति नित्ययुगल का द्वन्द्व-भाव विशेषतः प्रणिधान योग्य है। कतिपय आकृतियों की विवेचना पहले ही विशेष रूप से की जा चुकी है। सूत्र में जो 'अपेत्य' पद है अथवा कारिका में जो अपायतः है, उसे समझ लेना होगा। यदि शून्य (अथवापूर्ण) को अनपाय कहा जाये, तब इससे भिन्न कोई भाव अवश्य है, और वह भाव इस अनपाय भूमि का प्रतियोगी है (जैसे सकल-निष्कल)। यहाँ यह विचार करो कि यह अपाय क्या है ? लौह में चौम्बकत्व नहीं था, वह आया है। यही अनपाय से अपाय को समझ लो। अनपाय के साक्षात् सम्बन्ध में अथवा परस्पर सम्बन्ध में द्वन्द्व का विचार करो।

१३. शून्यमपेक्ष्यवृत्तित्वं सव्यापारत्वम् ॥

शून्य की अपेक्षा से जो वृत्तिमत्व है, उसे कहते हैं सव्यापार होना ॥

अभाव कञ्चनोपेक्ष्याथवोदासीनतामपि।
सर्वो व्यापार आयाति कञ्चिद् विन्दुं निरूपकम्।
देशविन्दुं कालविन्दुं बीजविन्दुमहङ्कृतिम् ॥ ९७ ॥

अन्तर्बहि किसी भी व्यापार के परीक्षण द्वारा क्या देखते हो ? किसी न किसी अभाव (मात्रा-पाद-कला अथवा आत्यन्तिक) के लिये, उसकी अपेक्षा से ही व्यापार

चलता है। केवल अभाव न कहकर उदासीनता भी कह सकते हैं। चाहे जैसे कहो; व्यापार मात्र ही किसी निरूपक विन्दु सम्बन्ध से ही होता है। अर्थात् कोई भी बाह्य अथवा आन्तर व्यापार कहता है "मैं अपने जिस लेख का अंकन करूँगा, उसका निरूपक विन्दु (ı oint of Reference, Base of operation) दो" इस Base को अभाव अथवा उदासीनता के आधार (Frame and context में) में पाना होगा। जो कुछ नहीं है अथवा न्यून है, उसका पूरण करना होगा। अथवा हेय होने पर उसका हरण करना होगा। किस ध्रुव स्थान में रहने पर (end, Ideal, Finished Result) हरण पूरण व्यापार चलेगा ? अथवा अभाव सम्यक् न रहने पर भी एक अनपेक्ष भूमि को आधार बनाकर निरूपक विन्दु द्वारा व्यापारवान होना पड़ेगा। जैसे एक कोरा कागज ! 'लेख' सम्बन्ध से पूर्ण उदासीन। कागज पर एक विन्दु अंकित करो और कहो 'इस विन्दु को निरूपक स्थल पर रखकर वृत्त अथवा "पैराबोला" अंकित करूँगा।' जो मुक्तसंग हैं वे इस उदासीन भूमि पर स्थित होकर व्यापारवान् हो जाते हैं। जप में नादस्फोट भूमि में स्थित होने पर भी जपादि किया जाता है। जिन्हें नाद स्फोट नहीं हुआ है, उनकी भूमि है अभावभूमि। त्वं पदार्थ तथा तत् पदार्थ के शुद्धि साम्य में अर्थात् उदासीन भूमि में स्थित होने पर भी श्रवणादि व्यापार चल सकता है। यह जीवन्मुक्त क्षेत्र में भी चल सकता है। रसभूमि में भी इसके दृष्टान्त को देखो।

इस विन्दु को देशविन्दु, कालविन्दु, कालदेशावच्छेदक विन्दु (Here-Now Point), बीज अथवा कारणविन्दु एवं अहंकृति, इन पाँच प्रकार से कारिका में वर्णित किया गया है। इसमें निखिल आन्तर बाह्य व्यापार की व्याप्ति होती है। प्रथम तीन (देश-काल तथा कालावच्छेदक विन्दु) का आश्रय लेकर Event in the spacc Time Continum निरूपित होता है। शेष (कारणविन्दु तथा अहंकृति) चेतना की भूमि में विशेषतः अभिव्यक्त होने पर भी व्यष्टिसृष्टि में मौलिक हैं। अर्थात् इस अहं विन्दु के अभाव में सृष्टि कभी भी व्यष्टि रूप में आकृत नहीं होती। (जैसे वटबीज, हाइड्रोजन अणु)। इन सब दृष्टान्त स्थल पर अहंकृति है। इस मौलिक के मूल में है बीजविन्दु।

जपादि साधना में भी इन पंचधा विन्दु के आश्रयण का विशेष महत्व तथा उपयोग है। जप में अभावभूमि तथा उदासीन भूमि का उल्लेख किया गया है। अभाव अनुकूल वेदनीय (धनमुखी) होने पर जप के उल्लासादि लसित भाव की अवस्था आती है। इसके प्रतिकूल वेदनीय हो जाने पर (ऋणमुखीनता) एक अबूझ व्यथावेदना का अनुभव होता है। इत्यादि ! तारचक्र में उदयास्त की सन्धि अथवा मेरु है देशविन्बु। नाद का उदय = मध्यान्ह। अस्त = कालविन्दु। अर्धमात्रा = बीजविन्दु। प्रणव में अधिष्ठित ब्रह्मविन्दु जापक के 'धीमहि' तथा 'प्रचोदयात्' के सम्पर्क

द्वारा है 'अहंविन्दु'। जापक अपने अहंविन्दु की 'धीमहि' रूप से इस ब्रह्मविन्दु में आहुति देते हैं और ब्रह्मविन्दु 'प्रचोदयात्' रूप से हवन को सफल, चरितार्थ करते हैं। किंबहुना विन्दुसूत्र में विन्दु जिस प्रकार से लक्षित है, उन सब निरूपक विन्दुओं से, व्यावहारिक विन्दु से, उसकी व्याप्ति को संकुचित कर लेना होगा। साधनामात्र में इसे करना होगा।

१४. शून्यं समेत्य वृत्तित्वं निर्व्यापारत्वम् ॥

शून्य में जो 'समेत' (सम्यक् तथा समभावेन 'इत' अथवा जात) वृत्तिता है, उसे निर्व्यापार अथवा व्यापार रहित होना कहते हैं ॥

समेत्येत्यस्य बोद्धव्या शून्यतास्थितिकल्पना।
अथवा शुन्यतावाप्तिः समासे द्वन्द्ववृत्तयोः ॥९८॥

जैसे क–ख–ग रूपी शक्तित्रय किसी कुछ पर क्रिया कर रहे हैं। उस क्रिया के फलस्वरूप किसी ओर गति हो रही है। यहाँ निर्व्यापार होने के लिये क-ख-ग में से प्रत्येक को शून्य स्थिति में लाना होगा (Idividually vanish) अथवा समास में (संघात में) उनकी शून्य स्थिति से समीकरण होना चाहिये (Sumtotal eqated to zero)। प्रथम को शून्यता स्थिति, द्वितीय को शून्यता व्याप्ति (शून्यता + अव्यप्ति) कहा जाता है। सुषुप्ति, प्रकृतिलय प्रभृति में शून्यता व्याप्ति का ही कल्प संभावित होता है। तत्तद् संस्था की निर्व्यापारता अवश्य है, तथापि निर्व्यूढ़रूपेण नहीं है। बीजभूमि को प्रसुप्त कहने पर एक अवस्था है। वहाँ स्थूल-सूक्ष्म का भी व्यापार नहीं रहता। यह कहने पर कि कारण में कुछ नहीं रहता, भावी व्यापार कल्पना का गौरव हो जाता है (अर्थात् एकान्त निर्व्यापाररूप कारण स्थिति पुनः कैसे व्यापार युक्त होती है, इसे समझ सकना सहज नहीं है।) द्वन्द्ववृत्त (Polarity Condition and Function) शून्य में समीकृत होकर उदासीनवृत्त (Neutral) हुआ। यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि शून्य केवल अवसानभूमि नहीं है, आरंभभूमि भी है। लय ही सृष्टि है। अतः पुनः आरंभ होने का यदि कोई सम्भाव्य संवेग (Potential Momentum or latent urge) शेष रह जाता है, तभी इस शून्य से पुनः आरंभ होगा।

प्रथमकल्प में जो शून्यता स्थिति है, उसमें अव्याप्ति है लय (केवल Reach ही नहीं) और स्थिति (Rest)। अतः वह शून्य को छोड़ कर अन्य किसी व्यापार में नहीं जायेगी। जो विन्दु निखिल सृष्टि में अनुप्रविष्ट है उसमें शून्य तथा पूर्ण समानाधिकरण में होने पर सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ भी निर्व्यापार होकर (जैसे सुषुप्ति में) शून्य में विश्रान्त हो जाते हैं (eqalibriated or balanced Rest), और वे निरन्तर पूर्णता की ओर (as evolution) यात्रा भी करते रहते हैं। शून्य में

आकर प्रत्येक पदार्थ विश्रान्त हो जाता है, किन्तु जागकर पुनः यात्रापथ पर चल पड़ता है। Involution absolute नहीं होता क्योंकि अभी भी evolution पूर्णतः Pefect नहीं हुआ है। बीज से शनैः-शनैः अंकुर पादप हुआ। वहाँ अब पुनः बीज होता है, क्योंकि वहाँ एक आवेग है कि अभी भी हमारे विकास तथा सफलता की चरितार्थता नहीं हो सकी है।

जपादि साधना में इस शून्य में अवसान तथा आरंभ है। इन दोनों को ऐसा आकार प्राप्त करने का यत्न करना पड़ता है जिससे अवसान शुद्ध हो और आरंभपूर्ण की ओर अभिमुखीन रूप से ऋजुग, छन्दोग तथा धामग हो जाये। वैखरी को नादानुसंधान कराते हुये मध्यमा की अवर-वर सन्धि तथा एवं सेतु पार कराते हुये पश्यन्ति के परोवरीयान ग्राम समूह में लाकर क्रमशः एक-एक स्तर पार करने के अनन्तर पूर्ण परिक्रमा करना होगा। इस यात्रापथ में जहाँ-जहाँ अवसानता—रंभ भूमि मिलती है, उसे शुद्ध तथा यथार्थ करते हुये प्राप्त करना होगा। यदि सुबह उठकर कोई दुर्गम चढ़ाई पार करने का श्रम करना है, तब रात्रि में निद्रा तथा विश्राम प्रयोज्य है।

१५. शून्यं व्यतीत्य वृत्तित्वं भूमत्वम् ॥

शून्य के बिना (उसके स्थल पर अवसान तथा आरंभ की अपेक्षा किये बिना) जो वृत्तिमत है, वह है भूमत्व (भूमा) ॥ व्यतीत्य — without reference to any 'origin' or plane of reference whatever.

न द्वन्द्वो नाप्यभावश्च नास्ति यत्र निरूप्यता।
निरूपकत्वमन्यस्य तत्रैवास्ति च भूमता।
व्यतीतोत्यत आयाति विशेषातीतवृत्तिता ॥९९॥

जहाँ द्वन्द्व, अभाव नहीं है, निरूपकता अथवा निरूपकत्व नहीं है, वहाँ भूमा को लक्षित जानों। सूत्र में जो व्यतीत्य पद है, उसके द्वारा कोई विशेष अथवा विशिष्टता की ('इस प्रकार' से अथवा 'इस रूप से' कहने पर जो किसी विशेष निरूपण को प्राप्त होता है) अतीत (Tronscending) वृत्तिता (स्थिति) ज्ञात होती है। अतः 'शून्यं व्यतीत्य' कहने पर सीधे-सीधे 'शून्य के अतिरिक्त' वृत्तिता का तात्पर्य नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि 'भूमा' पदार्थ के लिये यह आवश्यक नहीं है कि पहले मूल निरूपक (आरंभ तथा अवसान) को लो, उसके पश्चात् उसके द्वारा यह समझो कि भूमा क्या है ? भूमा के संदर्भ में इसकी आवश्यकता ही नहीं है। यह देखा जाता है द्वन्द्व, अभाव, निरूपित तथा निरूपक श्रेणी भाव (कैटेगरीज) के द्वारा प्रत्ययादि तब तक यहीं हो सकते जब तक शून्यरूप मूल निरूपक (पाईन्ट आफ बेसिक रिफरेन्स) को अंगीकृत न किया जाये। किन्तु भूमा द्वन्द्व, अभाव, निरूपित तथा निरूपक रूपी चारों भावों द्वारा विशेषित नहीं

होता। अतः 'भूमत्वम्' शून्य व्यतीत है। यह व्यतीत्य (Transcending-अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्) भाव ही भूमत्व को अन्य पदार्थों की तुलना में विलक्षण सिद्ध करता है। भूमा कहते हैं "मैं ही बहुत्व अथवा ब्रह्मत्व हूँ। मैं किसी भी अल्प, परिमित, खण्डित भूमि में जाने पर भी उससे अतीत रहता हूँ।" अल्प परिमित, खण्ड भूमि में तो सुख नहीं है। निरतिशय रूप से 'बहुत्व' न होने तक नदी के तट जैसी बाधा तो रहती ही है और गति, प्राप्ति तथा उपलब्धि में बाधा रहने का अर्थ है दुःख (Implied Activity)। सृष्टि में सर्वत्र निरन्तर भूमा की प्राप्ति के लिये असीम अभियान चला करता है। जो सीमातीत समस्त सीमाओं को उसकी सीमा का भान करा देता है, उस सीमातीत में ही समस्त ससीम की स्थिति रहती है। उसकी विशेष संस्था है अवस्थिति-परिस्थिति। ये उसकी असीमता मे स्वभाव स्थिति का हमारे समक्ष प्रकाशन नहीं होने देतीं। तभी बन्द कुयें का जल, गर्त्त का जल इतना दीन, कृपण तथा कुण्ठित सा है।

भूमा ही रस है। क्योंकि अस्ति-भाति में नेति-नेति करते हुये सीमातीत अखण्ड की बोधधारणा में पहुँचा जाता है, (Approach by negation); किन्तु रस की वेला में 'यह यहीं, वह नहीं, नेति-नेति' करने से कुछ भी नही होता। यहाँ मात्र अनुभूति से ही नहीं, धारणा द्वारा नेति-नेति के स्थान पर अन्वय मुख होकर 'यह है, की स्थिति में जाना होगा। Approach by Positive affirmation और यह जो नकारात्मक की जगह सकारात्मक (यह है, यही तो) की स्थिति गति है, यह समस्त बाधाओं का अतिक्रमण करती हुई सीमापार की ओर चलती रहती है। रस में पर्याप्ति नहीं है। आरंभ-अवसान नहीं है। समता-समापन की 'बातचीत" (खबर देने वाली स्थिति) वहाँ नहीं है। 'मधुरं मधुरं मधुरं मधुरं' इत्यादि। इसी कारण 'भूमैव सुखम् नाल्पे सुखमस्ति', रसो वै स भूमा'। रस में अल्प को छोड़कर बहुः होने तथा निर्व्यूढ़ होने की वृत्ति पूर्णतः 'साक्षात्' है। बहुः शब्द से भूमा और यह भी पुनः 'निपातने' !

यह स्वयं साक्षात्, अवच्छेदादिविरहित, अतिशयरहित अस्ति तथा भातिरूप है। भूमा आनन्द ही है अस्ति-भाति। अतः सब कुछ का अस्तिताभान तथा भातिता भान भूमा के ही स्वरूपमान में रहना है। परन्तु वह इन चारों द्वारा (द्वन्द्व-अभाव-निरूपित-निरूपक) कभी भी पकड़ा नहीं जा सकता, जाना नहीं जा सकता। शून्य तथा पूर्ण, इन दोनों के सम्पर्क द्वारा नैकटिक-ताटस्थ्य (Close approximation) रूप से आरंभ तथा अवसान के लक्षण प्रत्यक्ष होते हैं परन्तु भूमा में उनकी गति नहीं है। तभी व्यातीत्य है। यद्यपि शून्य तथा पूर्ण, दोनों स्वभावतः अनिरूप्य है, तथापि 'मान' की भूमि में आरंभ ही समता का और अवसान ही समापन का निरूपक हो जाता है। परन्तु भूमा तो निरूप्य-निरूपकभाव' से व्यतीत है।

१७. शून्यं समीक्ष्य वृत्तित्वं निर्व्यूढ़त्वम् ।।

शून्य का सम्यक् (समग्रतः, सर्वथा, सर्वतः) ईक्षण करने की वृत्तिता ही निर्व्यूढ़त्व है ।।

सामग्र्येण सर्वथापि सर्वतोऽपि समीक्षणात् ।
हानोपादानशून्यत्वे निर्व्यूढं स्यान्निरूपणम् ।
अन्यापेक्षनिरुप्यत्वं व्यूढत्वमिति कल्प्यते ।।१००।।

भूमा के सम्बन्ध में निरुप्य-निरूपक-निरूपण नहीं है। भूमासूत्र में शून्य प्रविष्ट है, अतः शून्य को लेकर ही समस्त निरूपण होता है। निरूपण भी व्यूढ़ तथा निर्व्यूढ़रूप से होता है। अन्य (वृत्त के बाहर अथवा 'कुछ की, कुछ और की' अपनी भूमि) की अपेक्षा द्वारा जो निरूपण होता है, वह है व्यूढ़। यदि निरूपण सर्वाधिकरणरूप से (Complete as a process) न होकर किसी-किसी अधिकरण में होता है, तब भी वह व्यूढ़ है। और केवल निरूप्य-निरूपण ही नहीं, यदि निरूपक भी यथार्थतः शुद्ध नहीं है, तब भी वह व्यूढ़ ही है। सामग्र्येण, सर्वथा एवं सर्वतः के द्वारा इन तीनों की (निरूप्य, निरूपक-निरूपण) भर्त्ति, पूर्त्ति तथा शुद्धि का वर्णन किया जा चुका है। इन तीनों को पुनः काष्ठा में ले जाना होगा। इन्हे अन्य की तुलना अथवा अपेक्षा में रखना उचित नहीं है। काष्ठा अथवा परिसीमा में आनेपर यदि निरूपण हानोपदान रहित हो जाता है, तब (अर्थात् तत्व में उपनीत होने पर) वह निर्व्यूढ़ है। व्यवहार 'मान' में शून्य-पूर्ण-विन्दु-भूमा-तथा ब्रह्म व्यूढ़भाव से निरूपित हो रहे हैं। जब तक इनका निर्व्यूढ़ निरूपण नहीं हो पाता, तब तक तत्व में परिनिष्ठित हो सकना संभव ही नहीं है।

बहिर्विज्ञान के मत से जपादि अध्यात्म विज्ञान का तत्त्व क्या है, तत्व का संकोच, व्यतिक्रम, व्यभिचार प्रभृति क्या है, इसके सविशेष समीक्षण की अवश्यकता है। मिथ्या आलेख अथवा आलोक-पुलक का किंचित आभास मिलने से ही कुछ नहीं होगा। अतः निरूपण का लक्ष्य है तत्वविनिश्चय।

१८. शून्यं परीक्ष्य वृत्तित्वं प्रमाणत्वम् ।।

शून्य अथवा मूलनिरूपक की परीक्षा करने वाली वृत्ति ही प्रमाण है ।।

प्रायशः प्रत्ययक्षेत्रेऽविस्पष्टतादिहेतुकः ।
आभासः प्रतिभासश्च भासो वैकल्पिको भवेत् ।
शून्यं त्रिविधमाश्रित्य प्रमाणं हि परीक्षणम् ।।१०१।।

व्यूढ़ निरूपण ही विज्ञानादि समस्त जागतिक व्यवहार है। बहिर्विज्ञान के सम्बन्ध में कहा जाता है—Science is measurement अर्थात् यथार्थ मान ही विज्ञान है। मान के इस याथार्थ्य व्यूढ़भाव (on a restricted scale and under Set Condition) की 'जाँच-परख' करना ही संभव है। समस्त परीक्षण क्षेत्र में

निरूप्य-निरूपक-निरूपण को ही बाध्य होकर किसी न किसी संकीर्ण अथवा अपेक्षिक परीक्षण ढांचे (Frame of Investigation) में बलपूर्बक (as rigidly as possible) अटकाये रखना पड़ता है। इतना ही प्रांसंगिक है (Range of what is relavant to the purpose) शेष इस क्षेत्र में प्रासंगिक नहीं है, यह मान कर एक ऐसी ही भेदक रेखा (लाइन आफ डिमार्केशन) खींचकर परीक्षणादि में हम प्रवृत्त होते हैं।

योगजज्ञान में भी ज्ञानभूमि की परम्परा रहती है। इसलिये प्रमाण में; व्यवहार स्थल में, व्यूढ़ सम्बन्ध स्थापक निर्व्यूढ़ता की व्याप्ति नहीं है। अथच वही आदर्श तथा लक्ष्यरूप है। अन्यथा प्रतिष्ठा नहीं होती। यहाँ क्या साधारण है, क्या वैज्ञानिक है, क्या यौगिक है, इन सभी स्थल पर मुख्यतः आकारत्रय में विस्पष्टता का अभाव परिलक्षित होता है, जैसे

(१) सभी प्रत्यय स्थल में व्याकृत (veiled)
(२) विसंवादित (doubtful and disputed)
(३) वैकल्पिक (alternate and antithetical)

इसमें प्रत्यय परीक्षण तथा परिशुद्धि के लिये प्रमाण (याथार्थ्य निरूपण) की अत्यन्त आवश्यकता रहती है। यथार्थ ही व्यावृत होकर आभास रूप हो जाता है। किसी अशुद्ध असंस्कृत प्रतिफलक में (इन्द्रिय चित्त आदि) अयथा प्रतिक्रिया (रियैक्शन) होने पर प्रतिभास होता है। वृत्ति के पारस्परिक विरोध को भंग करने पर (as mutally exclusive or opposed Compoents) वैकल्पिक भास परि लक्षित होने लतता है। विज्ञान तथा जपादि साधना में ये तीनों दृष्टान्त प्रचुरता से प्राप्त होते हैं। जैसे जप में दैहिक रक्तचालन आदि से उत्पन्न जिन सूक्ष्म-सूक्ष्म ध्वनियों को प्रथमतः सुना जाता है उसे नाद मानना ही आभास है। इन्हें झिल्ली ध्वनि कहना ही उचित है (The Sound of Slow physical Combustion। विराट के क्षेत्र में भी यही है। यह सोमनाद नहीं है, Positive नहीं है, यह है निगेटिव। (लोकक्षयकृत, अग्नि की दहन ध्वनि)। प्रतिभास तथा वैंकल्पिक भास के दृष्टांतों को स्वयं ही देखो। शुद्ध ध्वनि, वर्ण, आकृति तथा छन्द में, अवच्छेदक (रिसीविंग एन्ड प्रोजेक्टिंग मीडिया) में अयथा प्रतिक्रिया, अपक्रिया तथा विक्रिया रूपी दोष आ सकते हैं। अतः आत्मप्रत्यार्थ गुरु-सन्त-शास्त्र रूपी त्रयी की शरण लेना आवश्यक है। 'तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते'। शास्त्र = Standard Experience व्यवस्थित याथार्थ्य ! यहाँ आभासादि ही प्रत्यय को यथार्थ्य से दूर रखते हैं। अतः इन्हें पकड़कर शून्य में लौटना होगा (अर्थात् इन्हें शून्य में लाना होगा, the difference and divergence factor must be brought as near as possible to zero)। इस प्रकार से करने पर जो 'परीक्षण' (सर्वतोभावेन, समग्रभावेन, सर्वप्रकारेण)

होता है. वही है प्रमाण ! परीक्षक को आप्तभूमि, रागद्वेषादि पक्षपात शून्यता, 'भ्रम प्रमाद विप्रलिप्साराहित्य' से युक्त होकर यथार्थ प्रमाता बनना आवश्यक है।

साधारण प्रत्यक्ष के स्थल पर बुद्धि के स्वच्छ, अवभासक केन्द्र में स्थित होकर प्रमाता के प्रमेय को ग्रहण करना उचित है। वह केन्द्र नाना प्रकार के राजस-तामस संस्कारों की मलिन विकृत स्तर परंपरा द्वारा आच्छादित सा रहता है। इन्द्रियाँ भी अपने छन्द की पाटवभूमि में नहीं रहतीं। अतः वास्तव इन्द्रिय सन्निकर्षजन्य प्रमाता सम्बन्ध से उद्भूत क्रिया ऋजु तथा ऋत नहीं रहती। प्रमाता की प्रतिक्रिया (विषय देश में गमन आदि क्रिया) ऋजुगा तथा ऋतगा नहीं रहती। जहाँ जिस वस्तु को जैसा देखा अथवा सुना, उन-उन क्षेत्र में पूर्वोक्त आभासादि 'आपतित' हो रहे हैं। अनुमानादि के स्थल पर भी 'गोलमाल' बढ़ता जा रहा है। मिटता नहीं है। अतः प्रमासूत्र कहा जाता है —

१९. शून्यमन्वीक्ष्य वृत्तित्वं प्रमात्वम् ॥

शून्य अन्वीक्षापूर्वक जो वृत्ति है, वही है प्रमा ॥

तत आभासिके क्षेत्रे त्वन्वयव्यतिरेकतः ।
स्थापितत्वं हि योग्यत्वे युक्तस्येति भवेत् प्रमा ।
स्थापनं शून्यमन्वीक्ष्य युक्तशिष्टसमन्वयः ।।१०२।।

अब अन्वीक्षतावृत्तिता द्वारा 'प्रमा' क्या है, यह कहा जा रहा है। पूर्व सूत्र में जिन आभासिक क्षेत्रत्रय (एपरेन्ट गिवेन, प्रेजेन्टेड आर रिप्रेजेन्टेड फील्ड) का प्रसंग वर्णित है, उन तीनों में जो (Settled fact) है, उसमें अभी तक स्थापना नहीं हो सकी है। स्थापक का बाधक कौन अन्तराल अथवा अन्तराय है; यह तो समझा जा सकता है।

जो स्थापित और व्यवस्थित है, उसे ध्रुव कहा जाता है। इस स्थिति में जो अस्थापित तथा अव्यवस्थित है, वह है अध्रुव। वही है व्यभिचारी। अतः बाधित होगा। समग्रतः सर्वतः तथा सर्वथा बाधितः होने योग्य तो कुछ भी नहीं है। यहाँ तक कि आकाशपुरुष भी नहीं है, इस प्रकार से बाधित होने योग्य। इस अध्रुव बोधयोग्य में (जैसे पृथ्वी स्थिर है) वही 'धूमावती का शूर्प' रूपी व्याहृति का होना आवश्यक है। ध्रुव को अन्वय में आना चाहिये और उसके व्यभिचारी, आरोपित अनृत भाग को व्यतिरेक में जाना चाहिये। जैसे तत्वमस्यादि का शोधन किया जाता है। यही तो है जप का प्रधान कर्म। जो Assimilable है; वही है assimilated और जो Eliminable है, उसे Eliminated होना चाहिये।

ऐसा परीक्षण के क्षेत्र में तो है ही, मन के क्षेत्र में भी यही अन्वय व्यतिरेक रीति (Method of Agreement and difference) सर्वदा प्रयुक्त होना चाहिये। 'केवल' होने पर उस 'केवलत्व' को स्थापित भी होना चाहिये। इस

प्रकार की व्याहृति के द्वारा जो व्यभिचारी 'अयुक्त' था वह 'योगत्व' के कारण युक्त हो जाता है। अब यह ध्रुव तथ्य अथवा तत्व से युक्त तथा अन्वित होने योग्य हुआ। सर्वत्र यही व्यूढ़भाव है, निर्व्यूढ़भाव नहीं है। इसलिये बहिर्विज्ञान, तथा अध्यात्म-विज्ञान में स्थापना का एक परोवरीयान् क्रम चल रहा है। किसी एक व्यूढ़ प्रसंग में (With respect to any restricted and relative analysis) जो प्रमारूपेण ग्राह्य है, वह है सापेक्षप्रमा। अतः व्यापक रूप से यह कहा गया है कि योग्यत्व में जो युक्तरूप से स्थापित कर देती है, वही वृत्ति ही प्रमा है। यह भी कहा गया है कि योगत्व किसके सम्बन्ध से है। आस्तिक दर्शनों में प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द के प्रमाजनकत्व को एक प्रकार से (यहाँ तक कि वैशेषिक गण भी मन्दस्वर से इसे मानते हैं) सभी मानते हैं। इन सब के सम्बन्ध में तर्क का अन्त ही नहीं है। उससे हमें क्या काम ?

वेदशब्द का (विशेषतः मन्त्र का) प्रामाण्य चूड़ान्त है 'रवेरिव रूपविषये'। इसे प्रत्यक्ष भी कहा जाता है। जपादि साधन में इसी प्रत्यक्ष प्रमाण भूमि में प्रथमतः योग्य, मध्य में युञ्जान तथा अन्त में युक्त (युक्त-युक्ततम) होना पड़ता है। अतः जपसाधन ही प्रमाण साधन है। जो व्यूढ़ स्थापित है, उसे कहते हैं तथ्य और निर्व्यूढ़ स्थापित है 'तत्व'। प्रथमतः गुरुशास्त्रादि के अन्वय को तदाश्रित करके अन्त में उसे तत्वाश्रित करना पड़ता है। प्रथमतः उपायाश्रय, अंत में उपेयाश्रय। उपायाश्रय द्वारा उपाश्रय में अस्थापित का संस्थापितत्त्व होता है। योग, ज्ञान तथा रस-रूपी भूमित्रय में इस प्रमासाधन को अप्रमाद होकर करो। 'अप्रमत्तेन वेद्धव्यम्'।

उस मूल निरूपक शून्य (आरंभ-अवसानभूति) को सम्यक्रूपेण जानकर ही इस अन्वीक्षा को अस्थापित-स्थापन में जगाना होगा। यहाँ तक कि रसभूमि में भी वही। जैसे प्राकृत कामगन्ध के अवसान में कृष्ण अंगगन्ध (मृगमद और नीलोत्पल के साथ तुलना करने पर जब रसिक कविगण भी 'जीभ काटकर' मौन हो जाते हैं)। ठीक है, किन्तु अन्वीक्षा क्यों ? अन्वीक्षा द्वारा जो युक्त और शिष्ट है, उसका समन्वय घटित हो जाता है, यह जब 'योग' में आता है और जब वियोग चला जाता है (शिष्ट = Remainder बचा हुआ) तब वे दोनों ही इस स्थापनरूप प्रमा में आकर कहते हैं "अब हममें विरोध नहीं है। अब हम मिल चुके हैं।" ललितासखी ने श्रीराधा को मिलनकुंज के परमयोग में स्थापित किया और स्वयं हट गयीं। वियोग विधुरा ? नहीं, वे हैं प्ररमप्रेमयोग में ही संयुक्ता। उस प्राकृत काम के कृष्णकाम में (लौल्य) Simple Elimination नहीं है, Perfect Sublimation रहता है। इसे अपरापर भूमियों में भी मिलाओ। विज्ञान-गणित आदि अपनी-अपनी भूमि में भी इसी प्रमा तथा प्रमाण को सम्यक् रूप से 'अपने समान' बना लेते हैं। दृष्टान्त क्षेत्र में नहीं जाना है।

२०. शून्यमुपेक्ष्यवृत्तित्वमुदासीनत्वम् ॥

शून्य की उपेक्षा करते हुये जो वृत्ति है, वह है उदासीन ॥

यहाँ यह देखो कि 'उपेक्ष्य' पद तात्पर्यविभ्रम का उन्मेष न करे। 'उप' उपसर्ग में सामीप्यादि वृत्ति है। अतः समीपस्थ अथवा तटस्थ होकर (दृश्य तथा भोगों में पतित अथवा लिप्त हुये बिना) जो ईक्षण होता है, उसका भी उपेक्षण तथा उपेक्षा हो सकती है। यह पातित्य अथवा लिप्तता अनेक प्रकार से हो सकती है। मुख्यतः इसे तल-तम्ब तथा वेध रूप सम्बन्धत्रय द्वारा परिलक्षित किया जाता है। जिस तल में विषय है, तुम भी उसी में पड़े हो, अथवा किसी उर्ध्वतन या अधस्तन तल के विषय में पड़े हो, अथवा किसी उर्ध्वतन या अधस्तन तल से उसमें गिरे हो। और वह विषय तुम्हें विद्ध कर रहा है, किंवा तुम ही विषय को विद्ध करते जा रहे हो। यह सब दृष्टान्त वाह्य एवं अन्तस् में सर्वत्र ही मिलेगा। जब तक जप में तलवृत्तिता है, तब तक स्थूल में ही व्यापार चल रहा है। स्थूल जप करते-करते कोई स्थूल शब्द सुना और चित्त उसी में चला गया। मध्यमा में जाकर नाद भी सुना जा रहा है। उसमें भी चित्त है। वहाँ से इच्छाकृत अथवा अनिच्छाकृत स्थूल में आये। वेध का प्रचुर दृष्टान्त है। उदासीन भाव क्या है ?

तल आदि (तल-लम्ब-वेध) के इन तीन अवस्थानों के सम्पर्क के कारण पातित्य अथवा लिप्तभाव में केवल सामीप्य अथवा ताटस्थ्य स्थिति को घटित करा सकने पर वह है 'उपलक्षण'। लिप्तत्व शब्द का तल सम्बन्ध में, पातितत्व का लम्ब सम्बन्ध में तथा विद्धत्व का वेध सम्बन्ध में व्यवहार करो। इन तीनों को उनकी अवसान भूमि शून्य में ले जाकर दृश्यभोग्य आदि सम्बन्ध में पूर्वोक्त सामीप्य अथवा ताटस्थ्य भूमि में अवस्थान कराना ही है उदासीनभाव। जैसे चलचित्र की छवि उसी प्रकार ! सम्यक् रूप से उदासीनभूमि में स्थित होने के लिये अपने देहादि संघातों को भी इसी छवि में 'शामिल' कर लिया जाता है। विशेषतः अपने चित्त में जितनी वेदनायुक्त छवि उत्खचित हैं उन्हें। अनासक्त भूमि से "साक्षी चेता केवलो निगुणश्च" भूमि पर्यन्त श्रुति में उक्त उसी 'अपर सुपर्ण' को (अनश्नन् इत्यादि) मिलाना होगा। अथच, इस उदासीन उपेक्षण में दृश्य-भाग्य-प्रपंच अथवा उनका जो भान है, वह तिरोहित नहीं होता। वरन् उसका जो रस है, मधु है, उसका शुद्ध सम्पूर्ण 'सन्दोह' संभावित होता है इसी भूमि में ही। गोपालतापनीयोपनिषद् में श्रीकृष्ण तभी हैं ब्रह्मचारी और दुर्वासा हैं पूर्णतः उपवासी। शुद्ध तथा सच्चा वैरागी न होने पर तो कोई भी यथार्थ अनुरागी नहीं हो सकता। रस में जो अप्राकृत है, चिन्मय भूमि है, वहाँ भी यही परमसामीप्य अथवा ताटस्थ्य भाव है।

अब विज्ञानादि सब कुछ को अन्य रीति से देखोः—

स्पन्दद्वन्द्वौ तथा स्यन्द इति लिङ्गैर्निरूपितम् ।
शून्यमुपेक्ष्यवृत्तित्वमौदासीन्यमितीरितम् ।
व्यतीत्यवृत्तिता-कल्पा नैव सोपेक्ष्यवृत्तिता ॥१०३॥

स्पन्द, द्वन्द्व तथा स्यन्द की चर्चा साधारण रूप से कही गयी है। Principles of vibration, Polarity and Flux = (V. P. F. तीनों का पहला अक्षर)। प्रणव में अ = स्पन्द, अ तथा म = द्वन्द्व, उ = स्यन्द। यहाँ इन तीनों का लिंग (Index) लेकर शून्य (आरंभ-अवसानभूमि) का सन्धान करो। जैसे प्रणव जप में आरंभ का विन्दु तथा अवसान का विन्दु। इस प्रकार से निरूपित जो शून्य है उसमें सामीप्य तथा ताटस्थ्य अवस्थान को औदासीन्य कहा गया है। शून्य की एकान्तिक स्थिति में यह चलचित्र अवसान प्राप्त, शेष हो जाता है। अत: उत् + आसीन, भाव नहीं रहता। तभी है सामीप्य (उप)। चित्र है और चल रहा है, किन्तु मैं उसकी आरंभ तथा अवसान भूमि के निकट ही रहता हूँ। जप कर रहा हूँ अथवा जप चल रहा है, किन्तु विन्दु-विच्युत होकर नहीं! उर्ध्वरेता: उर्ध्वस्त्रोता भूमि में जाना चाहिये। वैज्ञानिक परीक्षण के स्थल पर भी इन तीनों को यथासंभव उदासीनभूमि में (a background or context of unprejudiced neutrality में) लाना होगा।

यहाँ जिस उदासीनभूमि की चर्चा की गयी है, वह 'भूमा' सूत्र की 'व्यतीत्य वृत्तिता' नहीं है। वह तत्कल्पा (उसी के करीब-करीब approximate) है, तथापि बिल्कुल वैसी ही नहीं है। इस विभेद की भावना करो। उदासीनभूमि में व्यवहार्यता संभव है, भूमाभूमि में यह संभव नहीं है। दोनों ही स्थल पर है Transcendence, तथापि विलक्षणता है। द्रष्टृ, कर्त्तृ, भोक्तृ, नियंत्रि, निर्वाहयितृ, इन सब से उदासीनता बाधित नहीं है। अत: 'द्वा सुपर्णा सयुजा' इत्यादि यहाँ द्रष्टृत्व है, भोक्तृत्व नहीं है।

२१. शून्यं प्रतीक्ष्य वृत्तित्वं निर्वाच्यत्वम् ॥

शून्य की प्रतीक्षा में जो वृत्तिता है, उसे कहते हैं निर्वाच्यता अथवा निरूपणीयता ॥ The state of being dfinable and specifiable.

किं निर्वाच्यमनिर्वाच्यं वेति विकल्पनास्थितौ ॥
शून्यं प्रति निधायास्थां कुरुष्वमध्वनिश्चयम् ।
निरूप्यमाणताधर्मावच्छेदिकेयं हि शून्यता ॥१०४॥

कौन निर्वाच्य अथवा निरूपणीय है और कौन नहीं है, इस प्रकार की विकल्पना अथवा संशय के स्थान पर क्या करोगे? विचार कर देखो इस प्रकार की कौन भूमि या स्थल है जो नि:संकोच यह कहे "यह तो मैं ध्रुव निरूपक भाव में हूँ (जैसे रात्रिकालीन अनन्त सागर के वक्ष पर स्थित जहाज के लिये ध्रुवतारा दिशा निरू-

पक है), मुझे पाकर ही समस्त की निरूप्यमाणता संभावित होती है (निरूप्य-माणताधर्मावच्छेदिका)। अतः मुझमें आस्था स्थापित करके निरूपणादि का अध्व (way, Method, ऋताध्व) स्थापित कर लो। सभी अनिश्चय के स्थान पर मुझे निश्चित रूप से आगे कर दो।" ये सब किस वर्त्म का 'पाक' कर रहे हैं? यहाँ कौन सी उत्क्षिप्त वस्तु (प्रोजेक्टाईल) किस वर्त्म में चल रही है?

उत्तर देने के लिये उद्यत होने पर इस निश्चायक शून्य (फोकस इत्यादि रूप से) को ही लाना होगा। एक ध्रुव रेखा का अंकन दिया, तब भी 'पैराबोला', (जो सचल विन्दु का ऋताध्व (Locus) है,) कहता है "केवल इससे नहीं होगा, एक स्थिर विन्दु भी रक्खो। तभी हम दोनों के साथ वाले दूरत्व में एकत्व रखते हुए चलेंगे। इत्यादि। हमारे लक्षण में शून्य = ध्रुवविन्दु नहीं है। यह कितनी बड़ी व्यापक संज्ञा है, यह देखा गया। इस दृष्टान्त में (१) ध्रुवविन्दु, (२) ध्रुवरेखा, (३) ध्रुवतल तथा आधार एवं (४) ध्रुव अव्यय (समदूरत्व) इन चार ध्रुवों के द्वारा 'पैराबोला' की निरुप्यमाणताधर्मावच्छेदिका है शून्यता। अर्थात् इस (curve (वक्र) की आरंभ तथा अवसान भूमि नियत तथा निश्चित है। गणित के Equation द्वारा इस निरूप्यमाणता धर्म को अवच्छिन्न करके प्रदर्शित किया गया है।

यहाँ अध्यातम क्षेत्र में भी इस अवच्छेदक तथा निश्चायक की प्राप्ति आवश्यक है। जप में (जैसे तारचक्र में) विन्दु से नाद, नाद से विन्दु इस प्रकार से आरंभ—अवसान होने पर नाद के सूक्ष्मभाव—इस विन्दु को निरूपक शून्यरूपेण (यथासंभव) पाना होगा। किसी भी निर्वाचन स्थल में यह 'शून्यं प्रतीक्ष्य वृत्तिता' आवश्यक है। जैसे रोग में ज्वर के आरंभ तथा अवसान को सम्यक् रूप से प्राप्त करना आवश्यक है, यथा ९८° फारेनहाइट तापक्रम। इस ९८° को ध्रुव मानकर ज्वर का बढ़ना-घटना अंकित किया जाता है। संगीत में भी ध्रुव परदे को बाँधना पड़ता है। जप में भी गुरु ने जिस ध्वनि तथा भाव को उपदेशित किया है, प्राण तथा हृदय के मूल भावों को उसी ध्रुव में बाँधकर जप-कीर्त्तनादि को साधना होगा।

जो भूमा हैं–पूर्ण हैं–विन्दु हैं, वे इसी अनिरुप्य-निरूपक अनिश्चय-निश्चायक शून्यरूपेण ही कृपा कर रहे हैं। इसी शून्य में (रंध्रे) परमपुरुष फुंकार करते हैं, तभी परम आलापन में भूमा के परम अस्थायी की राग ध्वनित होने लगती है। कारिका के 'आस्थां निधाय' अंश का विचार करो। भूमा कहते हैं "मेरा स्थान कहाँ हैं? तब भी स्थान देना ही चाहो तब स्थान दो कलातीत में"। पूर्ण कहते हैं "मैं ही तो सब हूँ, तब भी कला-शक्ति में रहता हूँ।" शून्य कहता है "न हो तो मुझे विन्दु में बैठाओ"। अब वस्तु किसे कहते हैं?

२१. सर्वसापेक्षत्वाश्रयविन्दुत्वव्यापकवृत्तित्वं वस्तुत्वम् ॥

विन्दु का आश्रय लेकर (The Fundamental 'Point' or Basic Pointness) ही समस्त सापेक्ष भाव (यूनिवर्सल टीशू आफ रिलेशन्स अथवा रिलेटेडनेस) स्थित रहते हैं । इस विन्दुत्व के द्वारा व्याप्त होकर 'वर्तमान' (विद्यमान) होना ही है वस्तु। । The thing as such. अर्थात् वस्तु के सम्बन्ध में जानने के लिये इस जिज्ञासा तथा ज्ञान की व्याप्ति को विन्दु पर्यन्त ले जाना ही चाहिये । यह विन्दुत्व क्या है, इसको जान लेने पर ही किसी वस्तु का वस्तुत्व होगा ? विन्दु सूत्र में जो विन्दु लक्षित है, वह है विन्दुभाव की परमता । शून्य की भी भावना निरूपक विन्दुरूप से हो चुकी है । जप में नाद का जो सूक्ष्मभाव प्राप्त होता है, वही है विन्दु । परम विन्दु को इसी प्रकार आरोह-अवरोह अथवा मूर्च्छना में बाँधकर 'परोवरीयान्' क्रम से उसकी परमता में पहुचना पड़ता है । साधनाशास्त्र का यही नियम है ।

विन्दुसूत्र में जो विन्दुत्व है, वह है विन्दु स्वरूप और यहाँ पर जो विन्दुत्व विवेचित है, वह है विन्दु जाति अथवा विन्दु गोत्र । वर्त्तमान सूत्र में यह गोत्र भी अवम, मध्यम नहीं है, परम भी नहीं है । किन्तु तटस्थ परम में जो सर्वसापेक्षताश्रय रूप परम कल्प, परमप्रतिभू विन्दु है, वहाँ पर्यन्त । अर्थात् किसी भी पदार्थ का जो सर्वसापेक्षतासम्बन्धावच्छिन्न व्यष्टित्व अथवा व्यक्तित्व है उसके आश्रय अथवा कारण (बीज) पर्यन्त इस विन्दु की गति लक्षित होती है । जड़ हो अथवा प्राण-मन की भूमि ही हो, प्रत्येक पदार्थ (भाव-आकृति-नाम) में एक-एक व्यष्टिभाव रहता ही है । अवश्य ही उस व्यष्टि का बीज भी है । वही जड़ाणु में Nucleus है, प्राणी में Germplasm है, चेतन में अहं है (अवश्य ही आकृति तथा व्यक्तित्व से) । व्यूढ़ निर्वचन के लिये इनमें से प्रत्येक के पाद, मात्रा, कला तथा काष्ठा का परिमित अथवा परिमेय (measured or measurable) सापेक्ष विचार लो । नहीं तो व्यवहार में निर्वचन घटित ही नहीं होता ।

यह भी निश्चित है कि उसके सम्बन्ध जाल को आवश्यकता के अनुसार सिकोड़ कर छोटा कर लेने पर भी वह जाल है विश्वभुवनजाल ! एक रेणु भी निखिल से अलग नहीं रह सकती, अथच उसका निजत्व निरूपक बीज उसे निखिल अखिल के साथ सत्ताशक्ति-छन्दः आकृति द्वारा ग्रथित करके भी उसे 'खिलवृत्ति' तथा 'व्यष्टिवृत्ति' में ही रखता है । तभी एक रेणु क्या है इसे जानने में गत शताब्दि का ऐटम, अथवा वर्त्तमान की Nuclear Energy, यहाँ तक की Wave Mechanics भी आजतक विशेष सफल नहीं है मैं रेणु का ज्ञाता, रेणु के ठीक बाहर भी नहीं हूँ और उसे छोड़ कर भी तो नहीं ही हूँ ! प्राण मन (विराट तथा व्यष्टि) से उस रेणु को अपना बना लेना होगा । 'अहल्या पाषाणी' के समान रेणु होकर प्राणहीनता,

तलहीन चेतना में नहीं पड़े रहना होगा। क्या Mass और Energy को केवल समीकरण में ही बोध देने से त्राण मिलेगा ? बहिर्विश्व में, आन्तर जगत् में तो मात्र छाया के पीछे काया का और छवि की पृष्ठभूमि में वस्तु का सन्धान चलता है। जपादि में भी सादे-रंगीन बुद्‌बुदों की बाजीगरी परिलक्षित होती है ! किन्तु वस्तु-वास्तव कहाँ है ? मीमांसक सम्प्रदाय विशेष वाले तो देवताओं के मान्त्रीतनु के अतिरिक्त दर्शनादि में प्रत्यक्ष योग्य अन्य तनुओं की स्थिति ही नहीं मानते ! इससे वस्तु-वास्तव तो रह ही नहीं गया अथवा रह गया ? भक्त साधकगण इस वाद को तो प्रवाद ही मानते हैं। जो कुछ भी हो छाया-बुदबुद आदि भी तो वस्तु का पूर्ण वर्जन करके स्थित नहीं है। शुक्तिरजत (बालू में चाँदी भासित होना) में रजत की अनिर्वचनीय उत्पत्ति 'मानने पर भी वह नहीं है। हमारा लक्ष्य है दर्शनीय का दर्शन। हमारा लक्ष्य दार्शनिक मर्शन नहीं है।

यथोर्णनाभस्तथाहि विन्दुः
सूते च धत्ते च निसर्गजालम्।
व्याप्नोति विन्दूमभितश्च जाल
ममेयवृत्ति स्वयमेव वस्तु ॥ १०५ ॥

उर्णनाभ (मकड़ी) के समान विन्दु भी इन देश काल-निमित्तादि में विस्तारित निसर्ग जाल का अपनी नाभि से प्रसव करता है और उसे धारण भी करता है (गृह्णते च)। यहाँ विन्दु का अर्थ परम नहीं है, किन्तु इसका अर्थ है परम तटस्थ परम गोत्रीय विन्दु। परम के सम्बन्ध में व्याप्य-व्यापकभाव भी उचित नहीं लगता। यहाँ यह निसर्ग जाल (कास्मिक रिलेटेडनेस) ही अमित (अनमेजर्ड, अनएन्डेड) रह जाता है (बहिर्विज्ञान तथा अध्यात्मविज्ञान में भी)। और जो वस्तु है, वह केवल अमित नहीं है। वह स्वयं अमेयवृत्ति होकर इस विन्दु (निसर्ग जाल की समष्टि नाभि) पर्यन्त व्यापक होकर विद्यमान रहती है। अतः वस्तु का ज्ञान = निसर्ग ज्ञान के समष्टि सापेक्ष जो व्यष्टि अथवा व्यक्ति है उसका ज्ञान। अर्थात् 'क' अखिल सापेक्षता में स्थित होने पर भी किस प्रकार से खिलवृत्ति अथवा व्यष्टिवृत्त रूप से अपनी उपलब्धि करता है, उसका ज्ञान। जैसे इलेक्ट्रान, प्रोटोप्लाजम आदि।

ब्रह्म वस्तु में इसी लक्षण की अव्याप्ति है ? नही ! ब्रह्मवस्तु = पूर्णब्रह्म = भगवत्ता, इस अभेद समीकरण का विचार करो। निर्गुण-निर्विशेष भाव तथा सगुण सविशेष भाव के लिये सूत्रोक्त विन्दुत्व की 'परमरूप' भावना करो। इसमें शून्यत्व-पूर्णत्व एकत्रित है। सर्व सापेक्षता को केवलमात्र शून्य करो, यह है निर्गुणभाव। उसे एकान्तिक पूर्ण करो—भावना करो वे ही सब कुछ हैं। 'सर्वं ब्रह्मोपनिषदम्'—वे ही सब में पूर्ण विन्दुरूपेण अनुप्रविष्ट हैं। वे हैं 'प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्'। इस स्थिति में समस्त सापेक्ष पूर्ण में आ गया। विशिष्टाद्वैत में चिद्‌चिद

जगत् उनका शरीर है। द्वैताद्वैत-अक्षर, ईश्वर, जीव तथा जगत् रूपेण ब्रह्म है चतुष्पात् इत्यादि।

अब वस्तु से द्रव्य की ओर—

२३. तस्यैव प्रमेयतावच्छिन्नत्वे सति सर्वसापेक्षतावच्छेदक संव्यूढत्वावच्छिन्नवृत्तित्वं द्रव्यत्वम् ॥

यदि वस्तु प्रमेय (प्रमाण योग्य) रूपेण विशेषित हो (वस्तु मात्र नहीं) और यदि वह प्रमेयरूपेण संव्यूढ़ भाव में (पूर्वोक्त) सर्व सापेक्षता (यूनिवर्सल रिलेटेडनेस) को अविच्छिन्न करे (लिमिटिंग रिस्ट्रिक्टिंग, कन्डीशनिंग), उसके द्वारा (सव्यूढ़ता द्वारा) विशेषित करे, तब वह वस्तु ही द्रव्य है ॥

संव्यूढ़ता = Compact and Subtle Co-Inherence जैसे एक हिलियम ऐटम। इसमें चार इलेक्ट्रान एक (आपेक्षिक) ध्रुव संहत रूपता प्राप्त करते हैं। जैसे किसी प्राणी का जर्मसेल आदि। दृष्टान्त सर्वत्र है। वस्तु का रूपान्तरण द्रव्य-रूप में होने के लिए यह आवश्यक है—

(क) प्रमेय होना

(ख) प्रमेय का संव्यूढ़ होना

(ग) इस संव्यूढ़ रूप में वह सर्व सापेक्षता को (दि टीशू आफ कास्मिक रिलेशन्स) 'विशेष' बनाकर स्वानुरोधसम्बन्ध स्थापित कर लेगा।

केवलमात्र मूर्तद्रव्य ही नहीं, आकाश, दिक्, काल, आत्मा, द्रव्यत्व में भी इसी लक्षण को स्थापित करो! लक्षण में यह सब अवच्छेदकवच्छिन्न भाव हैं, अतएव ब्रह्मवस्तु कभी भी ब्रह्मद्रव्य नहीं हो सकती। अथवा 'भूमैकरसः' रूपी रसवस्तु भी रसद्रव्य नहीं होती। स्पिनोजा द्वारा वर्णित Substance = द्रव्य, वह यह भी नहीं होता (अर्थात् ब्रह्मवस्तु स्पिनोजा द्वारा वर्णित Substance भी नहीं हो सकती।)

प्रमेयतास्ति द्रव्ये समस्ते
सापेक्षतापि द्रव्ये प्रसक्ता।
संव्यूढ़ता च तस्मिन्निधेया
प्रमेयमात्रता द्रव्यता न ॥१०६॥

प्रमेय समस्त द्रव्य है। तथापि केवल प्रमेय होने से ही (प्रमेयमात्रता) द्रव्य नहीं होता पूर्वोक्त सर्वसापेक्षताधर्म भी द्रव्य में प्रसक्त है (Incidental to bring a knowable or definable substance)। इन दोनों के अतिरिक्त एक और तीसरा लक्षण चाहिये, वह है संव्यूढ़ता (स्वयं को किसी निर्दिष्ट संहति में क्षेमयुक्त अथवा स्थित रखना)। इस संव्यूढ़ता को कोई निर्दिष्ट आकृति कहेगा, कोई इसे बिना छूये-कहेगा "Permanent possibility of charecterestic

reactions'। मीमांसक कहेंगे—यह मन्त्र ही इन्द्र अथवा वरुण का द्रव्यत्व (Substantiality) है। मन्त्र को यन्त्र-तन्त्र के साथ लेकर भी कोई कुछ कह सकते हैं। यहाँ विचार आवश्यक नहीं है। तब भी 'संव्यूढ़' शब्द का चिन्तन करो। जप में वाक्, चित्त तथा प्राण संव्यूढ़ता में आते हैं। इस स्थिति में मन्त्र समर्थ होगा। अर्थात् मन्त्र होगा द्रव्य और अन्त में द्रव्य ही वस्तु रूप हो जायेगा।

संव्यूढ़ता के लिये 'धर्म' की अपेक्षा रहती है। मिश्री का जल जैसे 'दाना बाधता है'' नमक अथवा फिटकिरी का जल उस प्रकार से आकरित नहीं होता!

२४. संव्यूढ़तासंगठितत्वावच्छिन्नवृत्तित्वं धर्मत्वम् ॥

संव्यूढ़ को संगठित रूप से विशेषित करने पर (Analytecally) परिलक्षित होता है धर्म॥ समग्रभाव से (जैसे एक बीज, मन का भाव) देखने पर (टोटली एप्रिहेण्डेड एन्ड एप्रिशियेटेड) वह संव्यूढ़ है (ए सिस्टम, आर्गेनिक यूनिटी)। भग्न करके देखने पर और पादमात्रा की पारस्परिक घृति अथवा योग-क्षेम, गतिस्थिति, हरण-पूरण-नियामक, स्थिति स्थापक रूप से देखने पर यह संगठन है। यहाँ धर्म सर्व क्षेत्र में संगठन करता है। इसका तात्पर्य केवल रिलिजन नहीं और यह केवल अध्यात्मक्षेत्र में ही सीमाबद्ध नहीं है। (Principle of Cohesion Coordination, Co-operation, Equipoise, Balance)। 'यतोभ्युदय निश्रेय—साधिगमः' यही लक्षण आ सकता है।

संव्यूढ़तां समाश्रित्योपकुर्वाणाः परस्परम्।
सहगाः सममन्त्राश्च समतन्त्रा समन्विताः ॥१०७॥
विभागशो हि धर्माः स्युरविभागेन धर्मता।
जनिसूत्रक्रियासूत्राकृतिसूत्रैश्च सूत्रिता ॥१०८॥

संव्यूढ़ता के लिये धर्म की आवश्यकता है। अपेक्षा है। अपेक्षित धर्म इसी संव्यूढ़ता का आश्रय लेकर अपने संगठित रूप को दिखलाता है। यह अन्योन्याश्रय है, किन्तु स्वाभाविक है। जैसे चक्षु और उसका धर्म। चुम्बक तथा चौम्बकत्व। मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र और उनका धर्म। द्रव्यभाव में (Structurally as an organic unity) व्यापारभाव में (as functional Co-ordination and unity) इन दोनों प्रकार से 'देखना' को अब समास और व्यास में साधना होगा। इनकी भी परस्परापेक्षा है। समास तथा व्यास; दोनों प्रकार से देखने पर यह परिलक्षित होता हैं कि जो संव्यूढ़ रूप से विद्यमान है, उसके अंग तथा अवयव में भी परस्पर का उपकारक भाव है (उपकुर्वाणाः परस्परम्)। उनके संगठन-संघटक धर्म भी इसी प्रकार से हैं। धर्म का यह उपकुर्वाण रूप किस प्रकार का है?

वह सहग है, अर्थात् जो संव्यूढ़ की समग्रता (Organic or structural integrity) है; वह उसका सहगामी तथा सहकारी होकर (Congruently and

Co-efficiently) उसे अलग से बनाये रखती है (जैसे वर्णधर्म, आश्रमधर्म इत्यादि)। और उन-उन की क्रियावृत्ति का जो समच्छन्दभाव (Functional order and Harmony) है, उसे भी बनाये रखती है। सहग द्वारा इन दो स्थिति का द्योतन होता है। जैसे जप में कोई मन्त्र अथवा व्याहरण-अनुस्मरण। जप अपने धर्म में स्थित है—अर्थात् उक्त दोनों स्थितियों में वैरुप्य-वैकल्य नहीं है। जैसे तार-चक्र में मेरु का लंघन नहीं होता, अतः प्राणभ्रान्ति नहीं हो रही है। विद्युत की बत्ती का सर्किट ठीक है। करेन्ट का 'लीकेज' नहीं हो रहा है।

इस सहग को अब पुनः दो प्रकार से देखना होगा। प्रथमतः उनमें सममंत्र तथा समतन्त्र होना चाहिये। किस आकार में, किस प्रकार में ? सममन्त्र, समयन्त्र तथा समतन्त्र का उत्तर है मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र। इनके सम्बन्ध में पहले कहा जा चुका है। विज्ञान की दृष्टि से इनका एक फार्मूला अथवा ईक्वेशन मिलना आवश्यक है। उनका लेख अथवा Curve एक ही गोष्ठी में (फैमिली में) भुक्त होना चाहिये और उनमें वे सब लक्षण होने चाहिये जिसे गणित में Congruity, Symmentry अथवा Homology इत्यादि कहते हैं। हम जिसे पादमात्रादि कहते हैं, उनका लेख एक समानाधिकार में होना चाहिये। (In a Common type or patterm) समतन्त्रता (Functional and reactional Sympathy and alliance) भी आवश्यक है। कारिका में 'समन्विताः' कहा गया है अर्थात् समयन्त्रता। जपादि साधना में अधिकार, मन्त्रादि चर्या के निरुपण में धर्मलक्षण प्रभृति विशेषतः भावनीय हैं। इनमें से कहीं भी धर्म की ग्लानि (Antipathy) होने पर धर्म के अभ्युत्थानार्थ परम कृपा की इस त्रिमूर्ति (समयन्त्र, सममन्त्र तथा समतन्त्र) को साधित करना आवश्यक है।

इन्हें विभागशः (अथवा Analytically) कहा जाता है धर्म और अविभागशः कहते हैं धर्मता। पुनश्च धर्म को जनिसूत्र, जननसूत्र तथा जातसूत्र (जननसूत्र = आकृति, जातसूत्र = क्रिया) इन त्रिसूत्र के रूप में देखो। यज्ञोपवीत में यही त्रिसूत्री है। प्रथम सूत्र कहता है—यहाँ सब कुछ एक सामान्य नियामकरूप (theme and Formula) में रहेगा।

द्वितीय सूत्र का कथन है—समस्त सब् कुछ एक सामान्य नियत आकृति (Common Basic plan or pattern) में रहेगा। तृतीय सूत्र कहता है—समस्त क्रिया की एक सामान्य नियन्त्रिता (Common devotion; direction and determination) रहेगी। कोई गढ़े बनाये और कोई उसे तोड़ दे, यह सब नहीं होगा।

२५. तस्यैव नाभिनिष्ठत्वं स्वधर्मत्वम् ॥
धर्म यदि नाभिनिष्ठ है, तब स्वधर्म है ॥

नाभिकेन्द्रं समाश्रित्य वृत्तौ संव्यूढ़ता स्थिता ।
अन्तर्बहिश्च सर्वत्र स्थूले सूक्ष्मे च कारणे ॥१०९॥
तन्नाभिनिष्ठवृत्तित्वं स्वधर्मत्त्वं हि मन्यते ।
गत्या स्थित्या च तन्निष्ठा द्वैविध्यं भजते पुनः ॥११०॥

किसी वृत्ति को संव्यूढ़तारूप करने के लिये किसी नाभि का आश्रय लेना होगा। वृत्ति के स्थितिभाव को लो (Static persistence), गतिभाव (Kinetic performance) को लो। एक नाभि (Nucleus, Centre Focus origin) में उसे मिलना होगा। बहिर्विश्व अथवा मानसक्षेत्र में इसका व्यतिक्रम नहीं होता। सर्वत्र विन्दु अनुप्रविष्ट है। स्थूल-सूक्ष्म-कारण, सर्वत्र सन्धान करो "नाभि का पता लगाओ" ! विन्दु परमभूमि से कारण में नाभि, सूक्ष्म में केन्द्र तथा स्थूल में व्यूढ़रूप से अथवा व्यूहरूप से अवतरण करता है। मध्य में दो सन्धियाँ भी हैं, कारण-सूक्ष्म में बीज सन्धि और स्थूल-सूक्ष्म में केन्द्रीण सन्धि। सब मिलाकर पाँच। मन्त्र में-कारण में, कलाशक्ति, सूक्ष्म में विन्दुनाद, स्थूल में हकारादिवर्ण।

किसी भी पदार्थ की कारणरूपा जो नाभि है, उस नाभि में निष्ठ जो क्रियात्मक और गत्यात्मक वृत्ति है, वह है उस पदार्थ का स्वधर्म। यदि इस कारणरूप को स्वधर्म कहा जाये, तब उनका स्वभावनिष्ट धर्म (स्थिति-गति) है स्वधर्म। यह नाभि अथवा स्वभाव है "स्वो भावः" जिसे गीता ने अध्यातम कहा है। यहां भाव के 'स्व' से आत्मा का 'अधिकृत्य' संभावित होता है। It is the core of self existence and self activity. यदि स्वतन्त्र रूप में विश्व कहीं है, तब वह है विन्दु की प्रतिभू इस नाभि में। यहाँ Spontaneous, स्वभाव स्वच्छन्द वृत्तिता संभव है। अतः स्वभाव में चलो' वही Stotic मत वालों का सूत्र 'आत्मनं विद्धि' 'सम्बन्ध जानो' इत्यादि। जड़ जगत् में रेडियोएक्टिव द्रव्य में 'स्वोभाव" की छाया परिलक्षित होती है। प्राण तथा मानस भूमियों से Mechanistic व्याख्या निरस्त नहीं हो सकती। किन्तु जड़ में स्वयं ही 'तण्डुल' बनाकर देने की व्यवस्था है। 'नाभि वगैरह सभी कारणभूमि में अगन्तुक हैं। एक स्वभाव अनेक अनेक भावों का समष्टि भाव है' यह सब पक्ष सहज ही नहीं छट सकते। क्योंकि स्वभाव तथा परभाव के बीच अव्यवहित दौड़ (Race) चलती रहती है। इनका निदान है। करणभूमि में।

तब चाहे जो हो, व्यवहारतः इसकी कार्यतः नाभिनिष्ठ गति और स्थिति को द्रव्यमात्र में मानें बिना उद्धार ही नहीं है। एक रेणु भी कहती है 'यह मैं स्थिर हूँ तो स्थिर हूँ ही। बिना किसी के चालित किये नहीं चल सकती। और एक बार चल देने पर बिना किसी के रोके रूक भी नहीं सकती, वापस लौट भी नहीं सकती"। सब कुछ में एक Intrinsic, innate, original को माने बिना कैसे चजेगा ?

जपादि के प्रत्येक बीज अथवा नाम में यह नाभिनिष्ठ धर्म किंवा स्वधर्म रहता है। निष्ठ=नितरा स्थितः। यह व्यभिचारी, अनियत आगन्तुक, अभ्यस्त नहीं है। स्थिति और गति रूपेण परिलक्षित होता है। स्थिति में भी एक प्रकार की गति—स्थिति स्थापकता (कास्मिक इलैस्टिसिटी) है। फलतः स्वभाव के किसी भी अभिघात स्थल में (इम्पैक्ट इत्यादि) वह किंचित् कुंठितवत् होने पर भी स्वभाव में पुनः आ जाती है। गति के समय निष्ठा के रूपद्वय हैं आकर्षणी तथा विकर्षणी। विकर्षणी (जैसे रस में मान, विरह) विरोध में कर्षणी नहीं है 'विशेष' में कर्षणी है। यह विशेष विरोध में नहीं जाता। यह सब प्राणप्रसंग में विस्तृत रूप से बिवेचित होगा।

और एक बात। स्वधर्म का जो लक्षण है उसके अनुसार उसे छोड़कर सब कुछ को परधर्म नहीं मान लेना। भयावह परधर्म 'स्वमैत्र' में नहीं है। वह है स्ववैर में। अर्थात् कारण स्थिति में (जैसे सुषुप्ति में अथवा भाव में) जो नाभिनिष्ठ स्वधर्म है, वह प्रस्फुटित हुआ। स्वप्न तथा जागरण में अन्य धर्म अधिक हैं। किन्तु वे सभी भयावह नहीं हैं। वे मित्र हैं। चातुर्वर्ण के स्वधर्म प्रभृति का विचार करो। जाबाल सत्यकाम को अपना गोत्र नहीं ज्ञात था, परन्तु वे गौतम ऋषि के अन्तेवासी हो सके थे। कर्ण गोत्र को गोपन रखकर परशुराम के श्राप से ग्रस्त हुये। इसमें स्वधर्म कहाँ है, इसे खोजो। कैसे स्वधर्म स्फुरित हो रहा है?

२६. **आदित्यो नाभिर्भुवनस्य ॥**

आदित्य भुवन की नाभि हैं ॥

भुवनस्य समग्रस्य नाभितादित्यकल्पिता।
जगतस्तस्थुतश्चापि सूर्य आत्मेति मन्त्रितम् ॥१११॥
पूषा च नाभिवृत्तित्वं द्विधा विश्वे हि विश्रुतम् ॥ ११२ ॥

अब अन्त के कतिपय सूत्रों में लक्षण साधन का विनियोग प्रदर्शित किया जा रहा है। विन्दु की परमभूमि में व्यास (डिफरेन्सियेशन) अथवा समास (इन्टिग्रेशन) के लिये कहीं स्थान नहीं है। किन्तु नाभि में है। नाभि में व्यष्टि तथा समष्टिभाव रहता है। समष्टिभाव भी व्यक्ति समूह के सम्बन्ध में 'प्रभवः प्रलयः स्थानम्' है। स्थूल में विराट, सूक्ष्म में हिरण्यगर्भ और कारण में ईश्वर। ये तीनों परस्परतः व्यावर्त्तक वृत्तत्रय के समान नहीं हैं। कारणवृत्त में सूक्ष्मवृत्त, सूक्ष्मवृत्त में स्थूलवृत्त। देश-काल की व्याप्ति के कारण ऐसा नहीं है। प्रतिपदार्थ का कारण भाव जिस भूमि में सबसे अधिक निबिड़ तथा निष्ठित (काम्पैक्ट और कम्पाउण्ड) रूप को प्राप्त होता है, वही भूमि उसकी नाभि है। जैसे अणु में न्यूक्लियस। भुवनों में ऐसी नाभियां असंख्येय है। समस्त व्यष्टिकारणता की आधार भूता एवं कारण-

त्रय हेतु कोई नाभि अवश्य है। प्रजापति सृष्टि करते हैं, परन्तु वे पद्मनाम की नाभि पर आसीन होकर यह करते हैं।

जो भुवनों की नाभि हैं, उन्हे वेद आदि में आदित्य कहा गया है। आदित्य शब्द अदिति रूपी अखण्ड सामग्री का द्योतक है। इन भुवनस्य नाभिरूप-आदित्य को पूषा तथा सूर्य रूपी दृष्टिद्वय से भी देखा जाता है। वेदमन्त्र के अनुसार सूर्य सचराचर की आत्मा हैं। आत्मा = मूलनाभि। नाभि की दो मुख्यवृत्ति है 'सूते एवं धत्ते' अर्थात् प्रसव तथा विस्तार। पोषण तथा पालन। प्रथम है सूर्य अर्थात् सूते, प्रसव, तथा पोषण ही है सूर्य और धत्ते, विस्तार तथा पालन = पूषा। Creating and Sustaining. किम्बहुना आदित्य के इन रूपद्वय को किसी स्थूल (Solar Mass आदि) से मिलना उचित नहीं है। अणु में, जीवकोष में, मानस में—सर्वत्र आदित्य ही भुवनों की नाभिः हैं। अणु में Nnclear, कोष में 'मेटाबालिक', मन में 'पैरासाई-किक' (Subliminal and Superliminal) ही नाभि वृत्ति का उदाहरण है।

२७. अदितित्वेन तस्यायनमादित्यहृदयम् ॥

अदितिरूपेण, अखण्डाकारणरूपेण, (विशेषतः काल सम्बन्ध मे) जो आदित्य का अयन है, वही है आदित्यहृदय ॥

अदितिस्वरूप अर्थात् 'हृत्'। अतः स्थूल अथवा अन्य किसी कारण से यदि आदित्य को 'अल्प' अंश, खण्डित, परिच्छिन्न-परिमित करके देखा जाये, उस स्थिति में तो 'हृत्' नहीं है। 'आदित्यहृदयम्' नामक स्त्रोत्र में तथा जप में इसी अदित्यरूप को विशेष करके ध्यान में लाया गया है।

नाभौंकस्त्वेन नाभौ तु वृत्तिरर्कस्य खण्डिता।
हृदि स्थितोऽपि सर्वत्रायत इति रविर्विभुः ॥११३॥

नाभि में वृत्तिमान है, इससे यह तात्पर्य ध्वनित नहीं होता कि अर्क की वृत्ति 'अभौंकस्त्व', धर्म द्वारा परिच्छिन्न खण्डित हो गयी है ! 'अभौंकस्त्व' = देश-काल-निमित्त आदि में अल्प व्याप्ति। जैसे "सौर जगत् में सूर्य यहाँ हैं, वहाँ नहीं हैं, दिवा में हैं रात्रि में नहीं हैं, अपने तापकिरणादि से युक्त हैं, अग्नि विद्युत आदि से युक्त नहीं है"—यही सब 'अभौंक' भावना ! अणु के क्षेत्र में भी यही है। किसी एक इलेक्ट्रान का स्पन्दभाव सर्वत्र विद्यमान है। इत्यादि !

मन से अभौंकः भावना निवृत्त करने के लिये ही हिरण्यगर्भ भावना की जाती है। रवि ही निखिल के हृदि (मर्मौकः) में स्थित होकर ही सर्वत्र अबाध अकुण्ठित गति युक्त है। (अयते), इसी कारण वे विभु (सर्वव्यापक) हैं। यही 'हृदि अधिष्ठितम्' अथच विभु भाव भुवननाभि स्वरूप आदित्य में परिस्फुट रहता है। भिन्न—भिन्न पदार्थों की नाभि मूल महानाभि से विधृत और समन्वित रहकर पारस्परिक सम्पर्क से व्यक्तिविशिष्ट धर्म के द्वारा अवच्छिन्न होती है। फिर भी जो

महानाम आदित्य हैं, वे विभु हैं। 'ॐ ह्रीं घृणिः सूर्य आदित्यः' मन्त्र द्वारा उनका जप तथा उनकी भावना करो। घृणि = भुवनों की रेतः अथवा ओजःस्वरूप (भर्ग जिसका श्रेष्ठ रूप है)। सूर्य एवं आदित्य के सम्बन्ध में पहले ही विवेचना हो चुकी है। घृणि, ह, र वर्ण द्वारा सूर्य तथा ई द्वारा आदित्य की विशेष भावेन सूचना मिलती है। विज्ञान के दृष्टिकोण से घृणि = Prime Energy। सूर्य = Nuclear Condensed Mass, आदित्य = Basic Cosmic Radiation। शरीर में घृणि = Life Energy (मुख्य प्राण), सूर्य = Vital Centre for Strong and propagating Energy (प्राण केन्द्र), आदित्य + The universal Plenum of Life (प्राणब्रह्म)।

२८. तत्रारनेमिसम्बन्धेनाग्नीषोमीयत्वमपि ॥

वह भुवन नाभि आदित्य का आश्रय लेकर अर एवं नेमि सम्बन्ध के कारण 'अग्निषोम' रूप हो जाती है ॥

दिग्वृत्तित्वमरत्त्वेन नेमिवृत्त्या च चक्रता।
दिक्षु विस्तारयत्यग्निररस्थो हव्यवाहनः ॥१४॥
यतो हि पौरुषे यज्ञे विश्वेऽगुर्जना जनिम्।
अन्नं भूत्वा च सोमेन स्थाप्यते निखिलं स्थितौ ॥११५॥

अर = दिग् वृत्तित्व, दिक्‌रूपेण अभिव्यक्त होना (डाईरेक्टेडनेस—Vectorigation) सूचित होता है। नेमि = चक्रवृत्तित्व, किसी प्रकार की परिधि-सीमा (लिमिटेडनेस, बाउन्डेडनेस, Whence roundedness) का भाव आना। नाभि ने सृष्टि में सर्वत्र इसी मौलिक आकृति (बेसिक पैटर्न) को ग्रहण किया है। यह तत्व आगे भी—कहा जायेगा। यहाँ अग्नि विशेषरूप से 'अर' को लेकर अरस्थ होकर समस्त सत्ता शक्ति को दिगदिगन्तर (दिक्षु) में विस्तारित करते रहते हैं। इसी मूल व्यापार का निर्वहण करने के कारण ही अग्नि को हव्यवाहन कहा गया है। अग्नि ही समस्त विस्तार के निर्वाहक तथा उन्मेष के निर्वाहक (Expanding and unfalling ELan) हैं। आदिम पुरुषयज्ञ (ऋग्वेदोक्त तथा अथर्ववेदोक्त) द्वारा "विश्वे जनाः" विश्व की उद्‌भव-अभिव्यक्ति हुई है और होती जा रही है (अगुः)। आदि पुरुष वन्हिरूपेण (छन्दोभिः दिक्षु विस्तारयन्) इसी आदिम 'जनियज्ञ' का निर्वाह कर रहे हैं। वे स्वयं अन्न रूप होकर (जैसे ऐतरेय श्रुति ने कहा है) निखिल जगत् का पोषण करते हैं (पुष्णाति) और पोषाण करके उन्हें उनकी-उनकी स्थिति में स्थापित भी करते हैं। यही स्थिति-स्थापना ही है नेमिवृत्तिता।

सब कुछ अपनी-अपनी नेमि, परिधि में विद्यमान रहता है, और अपने-अपने कक्ष में आवर्त्तन करता रहता है, इस अन्न संस्था के व्यवस्थापक हैं सोम! अतः सोम सर्वत्र Balancing, Conserving, Rounding principle हैं। अग्नि तथा सोम

दोनों अग्निसोम रूपेण निखिल नाभि का अर-नेमि आकृति में व्याकरण-विधारण करते रहते हैं। एक जड़ रेणु से लेकर विराट विश्व पर्यन्त सर्वत्र ही इस युग्म को जान लो। उसे पहचानों और अपने जपादि में भी इसका सन्धान करो। जैसे जप की अग्नि-मात्रा, सोम मात्रा। गान राग में जो वादीस्वर अथवा ध्रुवस्वर है, उसकी नाभि का आश्रय लेनें पर संवादी-अनुवादी स्वर के द्वारा अर-नेमित्व निरूपित हो जाता है। यह दृष्टि रखना चाहिये कि उसे विवादी स्वर विद्ध न करे! तान में अग्नि, लय में सोम!

२९. अरेणादिशो दिशिति ॥

अरत्व आनें पर जो (जैसे नाभि) स्वयं अदिश् (दिग्वृत्तित्वरहित—undirected है, वह दिश् का रूप प्राप्त करता है ॥ (Become directed or Vector) ॥

दिक्शून्ये येन दिग्वृत्तिस्तस्यैवारत्वमुच्यते।
अव्याकृतस्य मूलस्य व्याकरणं तदाश्रयम् ॥११६॥

जो दिकशून्य अथवा उसी प्रकार से प्रतिभात होता है उसमें दिग्वृत्ति है। 'यह इस ओर, वह उधर, यह इधर, उस प्रकार,' की दिग्वृत्ति अथवा उनका प्रत्यय होने पर यह कहा जाता है कि अब 'अरता' आ गई। मन की कौन सी वृत्ति किस ओर अभिमुखी है यह समझ में नहीं आता। वहाँ अर रूपता जो नहीं है। अतः विदित हुआ कि पराक्, प्रत्यक्, गुरु, इष्ट, नाद, विन्दु, लय इत्यादि मुखीन स्थिति में अर रूपता आती है। अर-नेमिता आनें पर चक्रता है। किन्तु चक्रमात्र ही 'चक्कर' नहीं है। विषम-सुषम भेद पहले ही वर्णित हो चुका है। सुषम चक्र सुदर्शन का कृपापात्र है। पराक् आदि क्रम (पराक्-प्रत्यक्-गुरु आदि) से मुख है पेषण चक्र। आध्यात्मसाधन में यहीं गुरुमुखीन प्रभृति भाव यत्नपूर्वक साधित होता है। विज्ञान-गणित प्रभृति में भी इस अर का समाचार सम्यक् रूपेण प्राप्त होना चाहिये। यह पाजिटिव—नेगेटिव-ऐंगुलर-मोमेन्टम प्रभृति अनेक आकार में रहता है। संगीत आदि शिल्प, चिकित्सादि व्यवहार, अर्थ नीतिगत-राजनीतिगत परिस्थिति में इस 'अर' को ही पकड़ो। समस्त दृष्टान्तों के द्वारा यह निष्कर्ष निकलता है कि जैसे प्राचीन तथा नवीन में से कोई-कोई यह कहते हैं कि अर का आश्रय लेकर ही अव्याकृत मूल (अनडिफरेनशियेटेड रूट आर कन्टियुअम) का व्याकरण (डिफरेनशियेशन इन्टिग्रेशन, ऐनेलसिस-सिन्थिसिस) हो सकता है।

सृष्टि में ऐसा दृग्दृष्टि तथा मुख-मुखीन भाव गम्भीरता से रहता है। मूलस्थ ईक्षण में ही यह निहित है। 'दिश'—'अदिश' शब्द द्वय को समस्त पार्श्वों से संलग्न करके देखो। बाह्य व्यवहार तथा साधन व्यवहार में जो यन्त्र गृहीत, परिकल्पित होता है, उसमें कौन सी नाभि (मन्त्र अथवा प्रिंसपल) को किस अर-नेमि

आकृति में प्राप्त करना होगा, यह जानना आवश्यक है। तदनन्तर प्राप्त को समर्थ तथा सफल तन्त्र के रूप में कार्यरत करना होगा।

३०. अकारेणादिगुकारारेण दिक् चेति ॥

अकार के द्वारा अदिक् तथा उकार द्वारा दिक् की सूचना मिलती है ॥

अकारेण ह्यदिग्वृत्तिमुकारेणाश्नुते दिशम् ।
मकारेण च मेयत्वमित्योङ्कार इदं जगत् ॥ ११७ ॥

प्रणवस्थ अ=अदिग्वृत्ति, उ=दिग्वृत्ति, म=मेयवृत्ति। सर्वस्वरों की आदि तथा सर्वव्यञ्जनों की आश्रय है 'अ' नाभि। यह मूल में ही उच्चारित है। वैखरीरूप में कण्ठमूल से उच्चारित होने पर भी नाभि। नाभि से उच्चरित होने पर मातृका पीठ मूलाधार। उ ओष्ठवर्ण है। इससे अरविस्तार तथा अरसंकोच होता है। 'म' है अन्तिम स्पर्शवर्ण (ओष्ठ्य)। इससे नेमिरूपी सीमा अथवा परिधि का द्योतन होता है। किन्तु 'म' मे जो नेमित्व है तथा मेयत्व है, वह तो कूर्मवत् संकुचत-प्रसरत है। अतः अर्धमात्रारूप सेतु उभयमुख (नाभिमुख में विन्दु तथा नेमिमुख में नाद) की काष्ठा पर्यन्त पहुँचा देता है। परन्तु सर्वप्रथम 'उ' द्वारा अर की इस कौर्मवृत्ति को सम्यक् साधित करना आवश्यक है। अतः नादानुसन्धान में 'उ' को ही प्रथम ज्या बनाया गया है।

अतः मूल निखिलभुवनाकृति भी ॐ में निहित है। 'ॐ कार एवेदं सर्वम्'।

३१. मकारेण मेयत्वमिति सर्वमोङ्कार एवेति ॥

म कार मेयत्व अथवा पूर्वोक्त नेमित्व को लक्षित करता है,
सब कुछ ॐ कार है ॥

पूर्व सूत्र में यह मेयत्व अथवा नेमित्व वर्णित है। तारचक्र समाचरण के उदय में उ वर्ण को मध्य में करके विस्तार में म को व्यक्त करना पड़ता है। अन्त में अथवा विलय में इसी उ द्वारा विलोम में 'म' को पुनः आद्यस्वर में अथवा मातृका-पीठ में लीन करना पड़ता है। यही है विन्दुलीन भाव। अथवा भावों की तटस्थ स्थिति। यही मेरु है। मेरु का लंघन नहीं होता। प्रणव के सर्वात्मभाव को विभिन्न रूपों में इस ग्रंथ में प्रदर्शित किया गया है। यहाँ नाभि-अर-नेमि में ॐ कार की स्थिति को विवेचित किया गया। प्रणव ही सब कुछ है, अतः प्रणव में समाश्रय होने पर सर्वसमाश्रय स्वतः हो जाता है। जो परमतत्व अवाङ्मनसगोचर हैं, वे ही कृपाक्षर स्वरूप होकर प्रणव तथा नाम बन गये हैं। नामश्रय ही उनका आश्रय है। अब कारिका का चिन्तन करो :—

किं वाग ब्रह्मेति का वा विषयिविषयता वाचकं किञ्च वाच्यं
सर्वं तूर्येऽपि धाम्नि त्वनवसरपदं केन सम्पद्यमानम्।

नादो विन्दुः कलेति त्रितयमपि कुतो बाधितं साधितं वा
गम्भीरेऽस्मिन्नपारे ध्रुवमतितरितुं ध्रौव्यदिग् दर्शनं किम् ॥११८-११९॥

श्रुति ने "वाग् वै ब्रह्म" कहकर नाम-नामी के अभेद का उपदेश दिया है, किन्तु मननविचार में जाने पर बुद्धि कहती है कि जहाँ विषय-विषयता सम्बन्ध ही नहीं है, वहाँ वाच्य-वाचक कौन होगा ? तुरीयधाम में तो पादमात्रा आदि सब कुछ 'अनवसरपद' है (अर्थात् उस धाम की ओर ये सब अग्रसर ही नहीं हो सकते)। तब उस परम में उपनीत करने वाला जो पद है (तद्विष्णोः परमपद को मिलाने वाला जो पद है) वह पदरूप सम्पद्यमान कैसे हुआ ? अर्थात् किसी भी पद के द्वारा जिसकी पद्यमानता ही नहीं है, उसकी प्रणवादि द्वारा परमप्राप्ति की सम्पद्यमानता कैसे हो सकती है ? केवलमात्र पद्यमानता ही नहीं, सम्पद्यमानता ! "इसका आश्रय लो परम में सम्पन्न होगे ही !" जिस तुरीय धाम का प्रसंग चल रहा है, क्या वह नाद-विन्दु-कला से अतीत नहीं है। यदि है, तब नाद-विन्दु-कला (अर्थात् प्रणवादि की केवल व्यक्तमात्रा ही नहीं साधारणतः अव्यक्त अर्धमात्रा भी) बाधित होने पर भी कैसे, किस प्रकार साधित होती है ? अर्धमात्रा किस प्रकार से त्रिमात्र एवं अमात्र के मध्य का सेतु है ?

इस प्रकार से बुद्धिजनित मनन विचार एक अत्यन्त गम्भीर स्थिति में ला छोड़ता है ! यह जो गम्भीर-अपार 'कुतस्ता'-'कथन्ता' की अगाध राशि है, उसका ध्रुव उत्तर देने के लिये ध्रौव्य का दिग्दर्शन (तुम्हारी कृपा के अतिरिक्त) और क्या है ? तुम्हारी कृपा ही इस गम्भीर अपार में ध्रुवतारा के समान दिशानिर्देशक होकर विभ्रान्त जीव से कहती है "जो नाम है, वही कृष्ण है, इसे निष्ठापूर्वक भजो !" यहाँ समस्त का 'गम्भीरान्तः" है। जहाँ कोई तल किनारा नहीं मिलता, वहाँ यह कृपा (प्रणवादि-नाम) ही साक्षात् एवं प्रत्यक्ष ध्रुव अवलम्बन है। इसके आश्रय द्वारा 'आत्मप्रत्यैकसारं" परम तूष्णी पर्यन्त की गति प्राप्त होती है।

उपसंहार में जपोल्लासविलासवल्ली के उसी नाम्ना-नाम्नी श्लोक में वर्णित परम पद में सम्पद्यमान होने के लिये निश्चित उपायरूप से नाम का ही आश्रय लेने का निर्देश किया जाता है। वह श्लोक पुनः अनुधावनीय है।

चतुर्थ अध्याय

१. तत्त्वस्य प्रकृति प्रत्ययत्वापत्तिस्तत्कल्पनम् ।

जो मूल व्यापार तत्व प्रकृति-प्रत्ययरूपेण रूपित होता है, वही है 'तत्कल्पनम्' ।।

यह मूल कल्पन ही तत् अथवा तत्त्व का ही स्वकल्पन है । अन्य कुछ के द्वारा कृत कल्पन नहीं है ।

सोऽकल्पयत् वशीदमकामयत चैक्षत ।
बहुस्यामिति तत्त्वस्यानिरुक्ता स्पन्दमानता ।। १२० ।।
तपसा चेति लिङ्गेन क्वचिद् ज्ञेया क्वचिन्न वा ।
ऋत—सत्ये इति द्वन्दः प्रत्ययप्रकृतीत्यपि ।
सर्वं तत्कल्पनं गूढ़मात्मदृष्ट्या हि बुध्यताम् ।। १२१ ।।

वे 'वशी' अथवा कल्पनादि सर्वव्यापार से स्वतन्त्र होने पर भी (Not as one merged and involved in the process, but as One Eternally transcendent and emergent) 'इदं' रूपी अखिल को कल्पित करते हैं । वे 'कामना' अथवा इच्छा करते हैं, ईक्षण करते हैं । परतत्व स्वयं को प्रकाश विमर्श शक्ति रूप में कलन करते हैं । इत्यादि । सूत्र में इसी कलनादि मूल व्यापार को 'तत्कल्पनम्' कहा गया है । मूल से निसृत इस प्रापंचिक प्रवाह को आत्म दृष्टि से तथा अनात्म (इतर) दृष्टि से देखा गया है । इतर दृष्टि है प्राकृत जड़ दृष्टि । इसकी परिणति होती है प्रकृतिवाद, अज्ञातवाद अथवा जड़वाद में (नेचुरलिज्म, एग्नोस्टिसिज्म, आब्जेक्टिव मेटीरियलिज्म) । इस दृष्टि से तत्व में कुण्ठित प्रभृति पूर्वोक्त भाव मिलित हो जाते हैं । आत्मदृष्टि से केवल मात्र Snbjective मानने से ही नहीं चलेगा । कान्ट का 'Critical Outlook' भी इसका तात्पर्यार्थ वहन नहीं करता ।

जपसूत्र में तत्व लक्षण के सम्बन्ध में तथा अन्य क्षेत्र में जिस दृष्टि का अनुसरण किया जा रहा है, वह है अपरोक्ष भानदृष्टि । साक्षात् अनुभव को समग्र अखण्ड तथा निर्व्यूढ़रूप से (as fact) ग्रहण करो । इसी आत्मदृष्टि से (upon the back-ground of experience as fact, not as fact section, etc) पूर्वोक्त कल्पना आदि को समझो (बुध्यताम्)

यह मत सोचना कि इसमें केवल अध्यात्म विश्लेषण (सब्जेक्टिव एनेलिसिस) ही होगा, अधिभूतादि (आब्जेक्टिव रीयैलिटी) रह जायेगा, छूट जायेगा ।

हमारी आलोचना से ये अलग नहीं रहते। Anappreciation of the cosmic order as a whole, बहिर्विज्ञान, गणित आदि को क्रोड़ीकृत करके ही जप के आधार की प्रस्तुति करने में प्रवृत्त हुआ गया है। कुछ लोग इस प्रकार की 'सार्वभूमिका' से किंचित विव्रत होंगे, किन्तु जप पदार्थ को, जप की माला के एक-एक रुद्राक्ष को अलग करते हुये 'किंचित्' देखने पर क्या ज्ञात हो सकेगा ?

यहाँ आत्म अथवा तत्वदृष्टि से चार मूल अवभासक (एक्सपोनेन्ट) हैं। इनकी वर्णना पहले की जा चुकी है। यहाँ उनका केवल उल्लेख ही होगा। प्रथम है अस्तिता, द्वितीय है भातिता, तृतीया को प्रियता कहा जाता है। चतुर्थ है इन तीनों की स्वतः स्फूर्त्तता और विविध नाम-रूप-भाव आदि में स्वतः मूर्त्तता। ये चारो मूल अवभास (प्रत्यय तथा प्रकृतिरूपी आकार में) हैं, इन्हें अपने अनुभव में मिलाओ। मानों अपने भीतर की वस्तु कहती है "हूं एवं हूँगी, देखती हूं और देखूँगी, रस तथा रसभुक् हूँ और होऊँगी" दोनों अन्तहीन स्फूर्त्त एवं मूर्त्त भाव भी रहते हैं और रहेंगे ! इस से चार प्रकार से निजवस्तु का आत्मसंवेदन होता है। ये चारों मूल में जानेपर यथाक्रमेण अकल्पयत्, इक्षत्, अकामयत् तथा अतप्यत् हैं। इनमें रस अथवा काम (न वै रेमें) विश्व के मूल स्पन्द को ला देता है। तप लाता है मूल आवेग (Elan vital), उच्छ्वास, उच्छूनता (तपसा चीयते ब्रह्म) को। और 'तपसा' की मध्यस्थता में अस्तिता से सृष्टि के आदि में तथा आधार में आता है 'ऋतञ्च सत्यञ्च'।

भातिता से विश्व के प्रत्येक केन्द्र में आत्मदृष्टि होती है, कहीं पर मूढ़, कहीं रूढ़ (Explicit, emergent)। व्यष्टि से विश्व, तैजस प्राज्ञ का और समष्टि द्वारा विराट, हिरण्यगर्भ, ईश्वर का द्योतन होता है। 'तपसा' को मध्य में रखकर समस्त का सब कुछ का विकास-संकोच (इवाल्यूशन, इनवाल्यूशन) परिकल्पित होता है। अतः यह अपरूप वैचित्र्य लीलायित हो रहा है। संगीत में नाद, नाद के आभ्यन्तर में ज्योति और ज्योति में रस ! यहाँ ज्योति का तात्पर्यार्थ है रागादि में शुद्ध अवभास। कलाविद् की 'तपसा' के द्वारा इन तीनों का अपूर्व निवेदन-संवेदन संभावित होता है। बहिर्विज्ञान के विश्लेषण में अस्ति द्वारा तलवृत्ति, भाति द्वारा लम्बवृत्ति, रस द्वारा वेधवृत्ति और तपः कालिक वृत्ति या छन्द गठित होता है। अस्ति से नाद, रस से मात्रा, तपः से कला, भाति से काष्ठा। इसी प्रकार इन चार मौलिक (फन्डामेन्टल) को नानारूपेण समझ लो।

कारिका में तत्व की 'बहुस्यात्' इत्यादिरूप स्पन्दरूपता को 'अनिरुक्ता' कहा गया है। पुनश्च 'तत्कल्पनं' को गूढ़ भी कहते हैं, जैसा श्रुति आगमादि बारंबार कहते हैं। इन दोनों शब्दों पर ध्यान दो। प्रथम के द्वारा बुद्धि-मनन प्रभृति विमर्श वृत्ति व्याप्त नहीं हो सकती, यह कहा गया है। और द्वितीय के द्वारा यह प्रतिपादित

किया गया है कि बुद्धि की जो आत्मदृष्टि है (इन्ट्यूशन आदि) उसे जब तक समाधि की प्रगाढ़ता में नहीं ले आते (अर्थात् सब कुछ के हृत् अथवा आत्मापर्यन्त गति न होने तक) तब तक गूढ़, गुहाहित, गह्वरेष्ठ भाव में अनुप्रवेश नहीं हो सकता।

और एक बात ! 'ऋतञ्च तथा सत्यञ्च' इन चकार युक्त द्वन्द्वभाव को प्रकृति तथा प्रत्यय के रूप में समझो। अर्थात् सत्यम्—प्रकृति और ऋतम्—शुद्ध प्रत्यय : जैसे प्रणव जप में प्रणव की जो प्रकृति है, उसके सम्बन्ध में शुद्ध प्रत्यय अथवा 'ऋतम्' तब होता है, जब उदय—विलय-सन्धि इन तीनों में जप अवहित रूप से हो। अन्य प्रकार के जप में भी यही उदाहृत है।

अब इस सूत्र तथा कारिका में सृष्टि के 'मौलिक' को संक्षेपतः प्रदर्शित किया जा रहा है। जो मौलिक का भी मूल है :—

२. तस्यानन्दस्यैव वृत्तत्वम् ॥

वह तत् कल्पनादि मूलतः आनन्द अथवा रस का ही वृत्तिभाव है, वृत्तिमान होना है ॥

आनन्दाद्ध्येव खल्वेवं मिथुनकल्पनादितः ।
उल्लसितत्वमस्यैव स्वोभावोऽध्यात्ममीरितः ।
सर्वनिदानतायां यदनिदानं यथात्मनि ॥१२२॥

आनन्द तथा रस दोनों ही परम सान्द्रता की समाधि के 'जिजागरिषु' जागृतिरूप से स्वयं अन्तहीन वैचित्र्य का प्रस्फुटन करने हेतु अपनी परम अस्ति तथा भाति के आधार में एक निगूढ़ काम को सुरक्षित रखते हैं। विश्व को पूर्णतः हटाकर (acosmic state) वे रमण ही नहीं कर सकते 'न स वै रेमे'। आनन्द और लीला, रस एवं रास—इन दोनों अविनाभाव युगल के अभाव में वह मूल आकांक्षा (Basic yearning) परिलक्षित ही नहीं हो सकती। इसी मूल आकांक्षा से मिथुनादिक्रमेण लीलाविस्तार और रसवितान होता है। यदि आनन्द के इस स्वतः स्फूर्त्त भाव को उल्लसित कहें, तब उस आनन्द का ही स्वोभावः—अध्यात्मभूमिका। अपनी आत्मा को ही लेकर यह होता है। इसमें अन्य की अपेक्षा ही नहीं है। श्रुति ने कहा है 'सोऽबिभेत्' वे अकेले भयभीत थे। अथच 'द्वितीयाद् वै भयं भवति'। इस भय को लीला तथा सृष्टि में अच्छी तरह से समझ लो। इसे पहचानने पर ही अभय है। गोपाल को वक्ष से हटाकर कक्ष में ले जाने में यशोदा को कितना भय ! और गोष्ठ में, गोपवन में, दूरवन में भेजने में ? प्रलय में 'आसीदिदं तमोभूतं' वे सृष्टि से हट गये, छिप गये, परन्तु गये नहीं। आलोक के साथ अन्तहीन लुकाछिपी ! न जाने कितने अपरूप भय पकड़े रहते हैं, लज्जा, शर्म, भय, भ्रमे। इन्हें छोड़ कर रस अपने रसायन में जाने से नाराज है। भय की बात तो मूल की बात है। समग्र सृष्टि के निदान आनन्द अथवा रस को 'यह चाहिये' 'किन्तु क्यों' इन दोनों

मूलभाव में ही खोज कर पाना होगा। अथच यह स्वयं अनिदान है (मुञ्च मयि मानमनिदानम्) परम परमा का 'मान' ! अथच इस अनिदान मान से ही निखिल है "नाम ना जाना तृणकुसुम" है जिसके पास एक 'अबूझ गरजी' भ्रमर बार-बार आ रहा है, बार-बार लौट जा रहा है। उसके अपने भान के गागर को दिवाविभावरी ने सायंकाल भर दिया है।

अपनी रसानुभूति से इसे मिलाकर देखो। 'यथात्मनि'। 'आनन्दाध्येव' इत्यादि श्रुति तथा आगमादि के मूलमंत्र की यहाँ भावना करो। क्लीं बीज काम-बीज है।

ऊपर की भाषा से कोमलबोध हुआ, इस बार है अवच्छिन्न भाष्य:—

३. निरतिशयसाक्षाद्घनत्वाश्रयत्वेऽनवच्छिन्नहृत्वं सर्वस्यानन्दः ।।

आनन्द को लक्षणों में कौन लाँयेगा, तथापि वर्त्तमान सूत्र में सर्ववस्तु के हृत् (Inmost Core) के रूप में आनन्द को संज्ञित किया गया है ।।

साक्षादिति च संवित्त्वं घनत्वेन ह्यमेयता ।
आदिलिङ्गेन काष्ठा च तारतम्यक्रमस्य नौ ।
स्थेष्ठ–नेदिष्ठ-भूमौको-निष्ठत्वमपि गृह्यते ।।१२३।।

सूत्र में जो 'साक्षात्' शब्द है, उससे संवित् अथवा संवित्ति का द्योतन हो रहा है। आनन्द है अपरोक्ष संवेदनरूप, यह कभी भी पारोक्ष्य में नहीं जाता। स्मृति में भी नहीं और दुःखादि में भी नहीं। जहाँ जाड्य है (जैसे प्रस्तरादि में) वहाँ भी नहीं। पदार्थ मात्र का जो हृत् है, वही आनन्द है। सूत्र में 'घनत्व' शब्द द्वारा यह द्योतित होता है कि 'एष आकाश आनन्दः' इस प्रकार से आनन्द केवल नाद अथवा विस्तार रूप से ही स्थित नहीं है। मानों यह वेधनिरूपक अथवा लिंग (डेप्थ डाइमेन्शन) को अंगीकार करते हुये विन्दुभावेन अगाध घनीभाव में भी विराजित है। यह है रसघन-आनन्दघन। इस प्रकार से इसका तल नहीं है—अन्त नहीं है। यही घनरूपता से 'हृदि सन्निविष्टः' है। रसचक्र की नाभि है। मर्मौकः अतः घनत्व शब्द में अमेयत्व है। 'निरतिशय' इस आदिलिंग से क्या ध्वनित होता है ?

सर्वत्र रसबोध की तारतम्यता का जो क्रम है, उस क्रम की काष्ठा अथवा परिसमाप्ति है यह 'हृत्'। वस्तु को हम पहले व्यष्टिभाव से भी देख चुके हैं जैसे तुम्हारा, हमारा, इस रेणु का हृत्। किन्तु यहाँ 'भूमैव रसः' भूमा के आधार में उसे देखो। एक रेणु का स्थेष्ठ-नेदिष्ठ-मर्मौकः जो हृत् है, वह केवल व्यष्टिभाव का रस किंवा आनन्द नहीं है, वह भूमा ही है। सूत्र में 'अनवच्छिन्न' शब्द है। सब कुछ की हृत्वस्तु होने पर भी रस तथा आनन्द समस्त निरुप्य-निरूपक-निरूपण से अतीत (व्यतीत्यवृत्तित्वं) है। इस भाव को भी अपनी रसानुभूति में समझ लो। तुम्हारे

अन्तर की मधुमत्तम कणिका कभी यह नहीं कहेगी "मैं उससे अलग हूँ"। कारिका का अनुवाद ही सूत्र का भावानुवाद है।

आनन्द है परमाकाश, रसभूमा। अतः वह पाद-मात्रा-कला-काष्ठा से अतीत है। तथापि वह 'सर्वस्य हृत्' रूप में निखिल में अनुप्रविष्ट भी है। प्रणवादि बीज तथा नाम में विन्दु को नाभि बनाकर नाद तथा कला में आनन्द तथा रस के घनीभाव का प्रकाश तथा संवित्ति का उदय होता रहता है। अतएव निष्ठा तथा भाव को साथ पकड़कर ध्वनि में जाओ। नाद में ज्योति है, ज्योति में रस है। निष्ठापूर्वक व्याहरण अथवा नाम जप करते-करते बेसुरे में भी सुर (Tunning) हो जाता है। और यन्त्र (वाक्-प्राण-मन) का सुर बंध जाने पर उनमें भावपुलक तथा आलोक का स्फुरण होना अवश्यम्भावी है। जो भी अपेक्षा है, वह सुर बाँधने की है। उसमें वेदना भी है। धीरज भी चाहिये। गुरु आश्रय ही एकमात्र संबल ! सुर जो बाधोगे किससे मिलाकर और उसे कौन मिलायेगा ?

केवल 'हृत्वं' नहीं आनन्द ही है सर्वस्वरूप !

४. तस्यैव सर्वस्य स्वरूपत्वम् ॥

सर्व का स्वरूप भी आनन्द ही है ॥

स्वरूपत्वेन बोद्धव्या परमत्वेन वृत्तिता।
किंरूपत्वक्रमावाप्त-काष्ठानन्दे समर्पिता ॥१२४॥

स्वरूप अर्थात् पूर्वालोचित परा-अपरा का अतिक्रम करके परमा पर्यन्त की गति सूचित होती है। अपरा में आनन्द गुण्ठितादि आकार में लुप्तवत् है, किन्तु तब भी है समस्त कुछ के हृत् रूप से। आनन्द की मात्रा से ही सब कुछ 'जायन्ते-जीवन्ति' उत्पन्न होता है और रहता है। परा प्रकृति में लुण्ठित भाव (carried भाव) नहीं रहता, तथापि उक्त कुण्ठित-लुण्ठित भावद्वय का अवशेष रह जाता है। यही हमारी अन्तरतम वस्तु ही (हृत्) मधु-रस-आनन्द है। यह वस्तु सब कुछ 'आगमापाय' में सनातनी है और हमारे जगत् (युनिवर्स) में मूल नाभि में विधृत होकर चलती रहती है (Revolves)। 'ययेदं धार्यते जगत्'। 'इदं' पद को लक्ष्य करो। यह संवित्ति रहने पर भी परमता में एक स्वतः आकांक्षा 'परम काम' अवश्य ही रहती है। योगी-ज्ञानी-रसिक-भक्त इसी आकांक्षा को मिटाने के लिये अपने साधन मार्ग पर चलते रहते हैं। 'तत्वमसि' है साधारण रूप से 'पन्थानुसरण' !

यदि सब पदार्थों से (एक धूलिरेणु इत्यादि से) यह जिज्ञासा करें "अच्छा हमें यह बतलाओ कि तुम्हारे रूप, भाव क्या हैं ?" इसका उत्तर वे पूर्णतः एक बार में नहीं दे सकते। विज्ञान भी नहीं दे सकता। वह किंरूपता (what, How, why) का एक क्रम दिखलाते हुये कहता है, "आगे बढ़ो, आगे जाओ" "एह वाह्य आगे कह आर"। यह बाह्य ही 'यह है' हो जाता है, जब हम अपरा की

सीमा में आते हैं। परा की भूमि में 'यह है उत्तम' किन्तु वहाँ भी 'आगे' (बढ़ने का इंगित है) है। योगी-विज्ञानी-ज्ञानी इस क्रमान्वय को अपने-अपने मार्ग से समझते रहते हैं। यहाँ यह जो क्रमान्वय है, यदि इसकी कोई काष्ठा है, तब वह भीउसी आनंद (निरतिशय भूमा-निखिल हृदय का हृत्) को समर्पित है। अतः निखिल के संधान का अवसान यहीं है। जहाँ किंरूपता की पराकाष्ठा है, वहीं है स्वरूप !

अब पादमात्रादि :—

५, एतस्यैव पादा अध्यात्मादीनि ॥

अध्यात्म, अधिदेवादि इस आनन्द अथवा स्वरूप के पाद हैं ॥

अध्यात्ममधिदेवञ्चाधिभूतञ्चाधिकारतः।
अध्यक्षराधियज्ञे चानन्दपादा इमे मताः।
पादेनात्र विजानीत सम्पद्यमानवृत्तिता ॥१२५॥

कितने पद अथवा भूमि में, अधिकार अवस्था में स्वयं को अभिव्यक्त स्फुरित करेंगे, इस भाव की अपेक्षा तब होती है जब भूमा पदार्थ अभिव्यक्ति के लिये अवतरण करते हैं। तब जो अपाद-आनन्द था, वह हो जाता है सपाद। यहाँ पाद का तात्पर्य है कोई लिंग, संज्ञा, आकृति का अधिकार करते हुये स्वयं को व्याप्त-व्यापक भाव से आयतवान रूप में सम्पादित करना। पाद के प्रसंग में व्याहृति सूत्र कहा गया है। आयतन (मैगनीट्यूड, एक्सटेन्शन) की चर्चा व्यापक भाव (अर्थात् Physical ही नहीं) लेकर यह होती है कि तधिकरण में जो सम्पद्यमानता है, वह है पाद। यहाँ अध्यात्म, अधिदेव, अधिभूत; अधियज्ञ तथा अध्यक्षर रूपी पंचाधिकार का प्रसंग है। इसमें अध्यात्म, अधिदेव, अधिभूत तथा अधियज्ञ गीता में निरूपित हैं। जपसूत्र में भी इनकी विवेचना हो चुकी है। आनन्द के ये पंचपाद सूत्र में उल्लिखित हैं।

अध्यक्षर = प्रणवादि अक्षर का वाचक है और अक्षर रूप अधिकरण में उनका वाचक है। प्रणवादि के अध्यात्मादि उपरोक्त चतुःपाद हैं। जैसे स्थूल वैखरी भाव में अकारादि अधिभूत (जड़ नहीं) हैं। मध्यमा में नादादिरूप से नित्य स्फोट संधान में अधिदेव, बिन्दु मुखी अथवा हृन्मुखी होने पर अध्यात्म और जो बिन्दु में अधिष्ठित हैं, जो हृदि में सन्निविष्ठ हैं, उन्हें समर्पित होने पर अधियज्ञ। विश्व में भी स्वरूप आनंद स्वयं को इन चतुः पाद में सम्पादित करता रहता है। एक बीज अथवा धूलि-रेणु को लेकर परीक्षण करो !

अब है मात्रा :—

६. एतस्यैव मात्रा भुवनानि विश्वा ॥

विश्वभुवन में (केवल पादरूपता नहीं है) यह आनन्द ही मात्रारूपेण रहता है ॥

अमेयो मेयतावृत्तिरङ्गीकुर्वंस्तनोति वं ।
विश्वभुनरूपेण तन्मात्रा विश्वजीवनम् ॥१२६॥

पाद-मात्रा-कला-काष्ठा को लेकर है संख्येयत्व (मेजरेबिलिटी)। जो संख्यान के योग्य हैं वह संख्येय। जो संख्यान आकृति में है। मेय एवं मेयता तो और भी व्यापक वृत्ति है। वह संख्येय नहीं भी हो सकती है! व्यवहारतः दोनों (मेय-मेयता) की व्याप्ति मिलित भी हो जाती है। यहाँ मेयता तथा संख्येय में संधि अथवा योजक रूपा है मात्रा। जैसे कर्त्ता (कारण) और कर्म के बीच करण। कारण अपने में करण व्यापार को रखकर कार्य करता हैं। यहाँ पारिभाषिक विचार निष्प्रयोज्य है, सीधे-साधे समझ लो। यदि कर्त्ता को 'माता' कहें, तब यह लक्ष्य करो कि इसकी एक वचन तृतीया है 'मात्रा'। पाद के समय अधिकरणता और मात्रा के समय करणता की मुख्यता रहती है। और सब भी साथ रहते हैं। सम्प्रदान-अपादान की मुख्यता है कला में। कर्त्ता-कर्म द्वारा विशेषतः काष्ठा निरूपिता होती है।

अब देखो! जो आनन्द मेयता के अतीत (भूमा) हैं, वे मेयता वृत्ति अंगीकार करके स्वयं का त्रिश्वभुवन रूपेण विस्तार करते हैं (तनोतिवै)। अमेय ही स्वयं अपने ही 'माता' हैं। आनन्द हो गया 'आनन्दी! केवल यही नहीं, स्वयं को विचित्र भाव तथा छन्द में मिलाने के लिये हो जाते हैं 'आनन्दभुक्'! यह 'माता' की मात्रारूपता है। अखिल भुवन, अणु से लेकर महान्, सर्वत्र ही इस मात्रा का मूर्त्तत्व है। प्रत्येक पदार्थ कहते है--"यह जो आनन्द हमारी हृत्वस्तु हैं, इन्हें मैं इन-इन करणों में (उपाय-रूप,तथा भाव में) भोग करूँगा। अन्न-अन्नाद सम्बन्ध से लेकर विमल रसास्वाद पर्यन्त सभी क्षेत्रों में आनन्द मात्रा को धारण करके ही हमारी सत्ता है।" जिसे हम अणु-विराट के जड़ बिम्बरूप में देखते हैं, वहाँ पर अनन्वय छन्दोरूप में यह आनन्द मात्रा किस अपरूप भाव में अपने को प्रकाशित करती है और अस्तित्वपूर्ण बनाये रखती है! यह कवि का विस्मय है और उससे भी अधिक यह है विज्ञान का विस्मय।

मात्रा को करण रूप के अतिरिक्त 'कृत' अथवा फलरूप में भी ग्रहण करो। जपादि साधन में मात्रा को करण तथा कृत, इन दो रूपों में आनन्द (हृत्व में) में स्थापित रक्खो? जैसे अग्नि तथा सोम धारा! दोनों मात्रा आनन्द का करण हैं, किन्तु दोनों की समता आरक्षित रहनें पर 'कृत' कभी भी 'ऋत' नहीं हो सकता। अतः आनंद में लुण्ठितादिभाव भी आ जाते हैं।

७. अपादस्तु स परम आकाशः

अधिकृत्य अथवा अधिकरणतावच्छिन्न भाव को छोड़ देने पर (अर्थात् कुछ अधिकार करके अथवा कुछ का अधिकरण है यह न मानने पर) आनन्द ही परम आकाश है। यहाँ मेयमानता नहीं है और सम्यग्मानता का भी अवसान है।

कोऽन्यादीति वाक्येनाकाशस्यानन्दरूपता ।
भूमैव परमाकाशो यो वै रस इतीरितः ।
सर्वाधारत्वसर्वत्वे तस्मिन्नेव प्रतिष्ठिते ॥१२७॥

आनन्द की आकाशरूपेण उपलब्धि न होने पर (आकाश=as unbounded plenum) कौन स्पन्दित होता और कौन प्राणन वृत्तिवत् होता ? यह वाक्य कहकर श्रुति ने इसी आनन्दाकाश को ही इंगित किया है । ऐसा नहीं है कि आनन्द केवल हृत् को ही अधिकृत्य करके सर्वत्र रहता है और मात्रापादादि रूपेण स्वयं को स्फुरित करता है ! मेय तथा संख्येय में अवगाहन करने पर भी आनन्द अमेय तथा असंख्येय है । आनन्द का यह परमाकाशभाव है भूमा । यही है 'रसो वै सः' । रस पदार्थ का जो स्वाभाविक भूमत्व अथवा विभुत्व है, वह मूर्त्तभाव से भी बाधित नहीं होता । अमूर्त्त एवं मूर्त्त ब्रह्म अथवा आनन्द की पूर्ण बाध रहित भूमि ही भगवत्ता है । 'मूर्त्त' को स्थूल में ही आवद्ध मत रक्खो । इसलिये कहा जाता है कि आनन्द में 'सर्वाधार एवं सर्व' ये दोनों स्वच्छन्दता से प्रतिष्ठित रहते हैं । प्रपञ्चोपशम में सर्व भी शून्य में आ जाता है परन्तु आधार में तो आनन्द ही है । दूसरी ओर सर्व पूर्ण हो जाता है, तब भी उसका आधेय है आनन्द ! प्रथम को इस सूत्र द्वारा सूत्रित किया जा रहा है—

८. अमात्रश्च स शान्त आत्मा ॥

अपाद आनन्द अमात्र होने पर शान्त आत्मा है ॥ इस शान्त आत्मा को कठोपनिषद् के 'यच्छेद वाङ्मनसि, मन्त्र में एवं माण्डूक्य के 'शान्तं शिवमद्वैतं प्रपञ्चोपशम स आत्मा स विज्ञेयः' मन्त्र में विशेषतः कहा गया है । माण्डूक्य श्रुति ने 'अमात्र' भी कहा है । पादमात्रा, इन दोनों को लेकर ही कला काष्ठा है । जहाँ पादमात्रा नहीं है (अर्थात् मुख्यतः अधिकरण तथा करण नहीं है) वहाँ कारक क्रिया-फल रूपी त्रिपुटी का भी अभाव रहता है । मेय पुनः अमेय में लौट आया ! निरुक्त आया अनिरुक्त में, इत्यादि !

नान्तः प्रज्ञं बहिःप्रज्ञमित्यादिना समूहितम् ।
आत्मप्रत्ययैकसारं यत् तदेवामात्रमुच्यते ।
प्रपञ्चोपशमात्तत्राप्रसंगोऽबाधबाधयोः ॥१२८॥

अन्तप्रज्ञ नहीं है, बहिप्रज्ञ नहीं है, दोनों प्रकार का प्रज्ञ भी नहीं है इत्यादि नेति-नेति जप से जो चरम अनुभव भूमि श्रुतिवाक्य में समूहित (जिसे कहने सुनने का विषय होने पर भी जनाने का यत्न किया गया है ।) है उसे अनिरुक्तादि कहने पर भी 'आत्मप्रत्ययैक सारं' रूप से निर्देशित किया गया है । यह अमात्र है, क्योंकि वाक् अथवा मन के किसी लिंग सूचक, निरुपक (कारण) द्वारा इसका 'मान' नहीं हो

सकता। और प्रपंचोपशम परम भावरूप शान्त भूमि में अबाध बाध की एवं छन्दों की भी प्रसज्यता नहीं है। अर्थात् इसी 'उपशम' को लेकर मनन विचार करने पर वह नहीं रह जाता (वह मनन विचार में नहीं आ सकता)। निम्न भूमि (बौद्ध अथवा वाच्य भूमि का) का कोई भी 'पक्ष' यहाँ अपनी पञ्चधर्मता की स्थापना नहीं कर सकता। अद्वैतादि किसी पक्ष का भी विवाद इस चरम-परम भूमि के अनुभव पर्यन्त नहीं आ सकता। पूर्वखण्डोक्त 'अद्वैताद्वैतदशकम्' देखो! 'शान्त आत्मनि' चरम आहुति में सब कुछ शान्त है। इस सम्बन्ध में श्रुति तथा अनुभव, किसी को भी सन्देह नहीं है।

योग-ज्ञान तथा भक्ति की जिस परमनिष्ठा भूमि का उल्लेख किया जा चुका है और आनन्द के जिस परम स्वलसितभाव का पुनः-पुनः संकेत दिया गया वह सब इसी परमशान्त को लक्ष्य करके कहा गया है। जो शम-दम आदि वाला 'शान्त' है उसे इस परमशान्त से मिलाने की चेष्टा व्यर्थ है। (अर्थात् यहाँ शान्त शब्द का अत्यन्त व्यापक तात्पर्य है।)

९, सपादस्तु स विष्णुरुरुक्रमः ॥ तथा च गायत्री ॥
आनन्द सपाद हो जाने पर वह विष्णु का उरुक्रम है।
ऐसे ही गायत्री भी ॥

त्रेधा यो निदधे पादं पादस्येति च श्रूयते।
सम्पद्यमानः स एव स्वयं विष्णुरुरुक्रमः ॥१२९॥

वेद के श्लोकों से उद्धृत इस मन्त्रद्वय में पद एवं पाद रूपी पदद्वय श्रुत हुये हैं। 'भूर्भुवः स्वः' आदि अनेक रूपों में उन्होंने अपने परम पद का विश्वचेतना के पादरूप में 'निधान' किया है। अथच विश्वचेतना (कास्मिक कांशसनेस) भूमि में क्या उन्होंने स्वयं को निःशेष करके रक्खा है? नहीं, उनके इस पादरूप ने कहीं से भी उनके इस परमपद को निःशेषित नहीं किया है। विराट विश्व में भी नहीं और धूलिरेणु में भी नहीं! यह विश्वभुवन उनका एक पादमात्र है! इस पाद में क्षरभाव भी लक्षित होता है। यह निश्चित है कि इस 'अयं' रूप से जो कुछ प्रतीत हो रहा है, उसके ऊर्ध्व (transcending it) 'असौ' रूप जो भूमि है—उस द्यौ रूप भूमि में (स्वः) उनका अक्षर (अमृत) पाद भी है। यह सत्य है।

यह अमृतपाद त्रिपाद भी है। अतः 'अयं' या व्यक्त भूमि में भी तीन क्षर पाद हैं। 'असौ' या अक्षरभूमि में तीन अक्षरपाद (अमृत पाद) की स्थिति रहती है। क्षर-अक्षर, मृत-अमृत के द्वन्द्व से अतीत है 'तद्विष्णोः परमं पदम्'। इस प्रसंग में गीतोक्त 'यस्मात्क्षरादतीतोऽहम्' का स्मरण करो। विश्व के समस्त में, सब कुछ में इसी सप्तव्याहृति का ध्यान करो। प्रणव के अ उ म, ये हैं प्रथम त्रिक्। नाद-विन्दु-कला—द्वितीय त्रिक्। अन्त में है कलातीत। जप में वैखरी भूमि में तीन क्षर वाचि-

कादि हैं। मध्यमा, पश्यन्ति, परा—ये तीनों हैं अमृत—'अमृतं दिवि'। इन तीनों से अतीत जो है—वह है 'परम'। जब तक सम्पद्यमानता रहती है, तब तक पाद की स्थिति है। स्थूल-सूक्ष्म-कारण, व्यक्त-अव्यक्त, व्यष्टि-समष्टि, अणु-महान, अन्दर-बाहर यह सम्पद्यमानता तो सर्वत्र है। किसी भी मेय काष्ठा से यह निःशेषित नहीं होती। जैसे बीज, सुषुप्ति, प्रलय आदि। यह सब क्रमानुसार चलता है। कहीं भी रेखा खीचों, उसका अतिक्रम करते हुये विष्णु उरुक्रम कहता है "देखो! मैं तो इससे परे हूँ।" निरूप्यमाणता के प्रसंग में इसे समझने का प्रयत्न किया गया है। जप में इसी उरुक्रम को वाक् प्रभृति की सम्पद्यमानता में मिलाना पड़ता है। जैसे 'नादोरुक्रमाष्टकम्' में है। गायत्री आदि के पाद की इस सूत्र के द्वारा सविशेष भावना करो। वस्तुतः समस्त सपाद की संपादयित्री हैं छन्दों की 'छन्दसां' माता गायत्री!

समात्रश्च स ॐकारमात्रा ॥

आनन्द ही समात्र होने पर ॐकारमात्रा है॥

अकारादय एव स्यूर्जाग्रदादिविलक्षणाः।
आनन्दस्यैस्व मात्रास्ता नादविन्दुकलात्मनः ॥१३०॥

जाग्रदादि अवस्थाओं द्वारा तथा 'भूर्भुवः स्वरादि' विभिन्न रूप से विशेषतः लक्षित ॐकार को आनन्दमात्रा मानते हुये ध्यान करो। अकारादि को बहिप्रज्ञादि-मात्रा एवं तुरीय को अमात्र रूप से प्रदर्शित किया गया है, यह माण्डूक्य श्रुति का वचन है। जपसूत्रम् में सेतु (अर्धमात्रा) का उल्लेख पुनः-पुनः हुआ है और उस सेतु का आश्रय लेने का निर्देश भी दिया गया है। यहाँ कारिका में नाद-बिन्दु-कलात्मा विशेषतः संकेतित किया गया है। लक्ष्य करो कि इस सूत्र में भी 'च' शब्द है। अर्थात् पाद और मात्रा परस्पर में अन्वित तथा अभेदरूप से विद्यमान है। एक दृष्टि से जो पाद है अन्य दृष्टि से वह मात्रा है। यहाँ प्रत्ययभेद मात्र है। पद्यमानता और मीयमानता। गायत्री इत्यादि में जिस प्रकार से पादविन्यास होता है, उसमें अन्वय है, किन्तु इस प्रकार का तादात्म्य (दृष्टिभेद पूर्वक) नहीं है ऐसा विदित होता है। छन्द के अनुरोधानुरूप पाद की पद्यमानता जिस प्रकार की है, मूल प्राण प्रयत्न (as basic pranic function) की दृष्टि से उसी प्रकार की नहीं है।

इस प्रकार वह वर्णदृष्टि से प्रणव तथा व्याहृति के बिना २४ है और प्रणव तथा व्याहृति के साथ २८ है। पददृष्टि के अनुसार प्रणव के साथ और व्याहृति के साथ १४। इन सब आकार में गायत्री की पद्यमानता अथवा पाद निर्देश हो सकता है। चतुर्दश भुवन ही गायत्री के पदरूप इन चतुर्दशपाद में संगृहीत होते हैं। मीयमानता तथा मात्रा की दृष्टि से भी (अनुबन्धानुरोध से) इन्हें अनेक प्रकार से देखा जाता है। इसमें अग्निमात्रा है सात और सोममात्रा है सात। इन्हीं चतुर्दश मात्रा के ग्रहण तथा इनकी समता के विधान द्वारा—व्याहरण अनुस्मरण करना साधन

में अत्यावश्यक है । जैसे पद्यमान ही मीयमान हो जाता है उसी प्रकार से मीयमान भी पद्यमान हो जाता है । जैसे संगीत की ताल में है चौताल एवं एकताल । दोनों की बारह मात्रायें हैं । फिर भी उनका पादविन्यास एक जैसा नहीं है । पादमात्रा भी इसी प्रसंग में आगे विवेचित होगी । पहले विवेचित अधिकरणमुख्यता तथा करण-मुख्यता का स्मरण रखना होगा । अधिकरण तथा करण में अन्योन्य अपेक्षा रहती है । जैसे शास्त्र आदि में पद की अपेक्षा है । जैसे 'वरेण्यं' श्रीगुरु इसी पद को पाद-मात्रा में मिला देते हैं । वे ही यह बतलाते हैं कि यह पद त्रिपाद नहीं है, परन्तु इसका चतुष्पात् व्याहरण करना होगा । साथ ही अग्नि तथा सोममात्रा के अनुपात साम्य की रक्षा करना होगा । वास्तव में यही है गायत्री में अग्निषोम समता विधान का सन्धिस्थल (Key Position) ।

स्पन्दन, वीचि के विचय तथा समुच्चय का विचार और गणना (वेव मैकेनिक्स) द्वारा पादमात्रा ज्ञान ही तो विज्ञान कहलाता है । पादमात्रा के छन्द अन्यरूप के हो जाने के कारण ही कार्बन कोयला भी बन जाता है और हीरा भी बन जाता है । संगीत में भी पादमात्रा ही प्राण है ।

११. अव्यवहार्यत्वेनापद्यमानत्वमपादत्वम् ॥

किसी व्यवहारयोग्य न होने के कारण जो पद्यमान भी नहीं है (अर्थात् जो सम्बन्ध में उपपन्न, प्रतिपन्न, निष्पन्न प्रभृति संज्ञा से व्याप्त नहीं है, वह है) अपाद ॥ (पहले एक सूत्र में इसे अपाद कहा गया है ।)

अलक्षणतया यस्य न व्यवहारयोग्यता ।
क्रियाकारकभेदो वाऽपाणिपादः स उच्यते ॥१३१॥
जवनग्रहणे तस्य किमाश्चर्यमतः परम् ।
सर्वतः पाणिपादंतदित्यपि भावय सुधीः ॥१३२॥

जो किसी लक्षण में नहीं आता उसे लेकर कोई व्यवहार सम्पादित नहीं हो सकता । जिसमें क्रियाकारक भाव (अधिकरणादि) किसी प्रकार से संगत नहीं होता, अर्थात् जिसे क्रिया भी नहीं कहा जा सकता और कारक भी नहीं कहा जा सकता, उसीके लिये (परब्रह्म के लिये) श्रुति तथा अनुभव दोनों ही 'अपाणिपाद' प्रभृति कहते हैं । इससे भी अधिक आश्चर्य तो यह है कि इस 'अपाणिपाद' परम-तत्व के लिये ही वे यह भी कहते हैं 'जवनोग्रहीता, पश्चत्यचक्षुः, इत्यादि । वे ही गमन भी करते हैं, ग्रहण भी करते हैं, देखते तथा सुनते भी हैं । उन्हे छोड़ देने पर कुछ भी नहीं किया जा सकता । वे ही मूल आधार हैं । मूल अधिष्ठानरूप से वे सब कुछ के निर्वाहयिता हैं, इसके अतिरिक्त और क्या कहा जा सकेगा ? सर्वतः पाणि-पादस्तत् सर्वतोक्षिशिरोमुखम्' इत्यादि । 'सहस्त्रशीर्षा' इत्यादि । अतः 'विद्याविद्या-

विषय' करने पर भी एकान्ततः निर्विशेष नहीं हुआ जा सकता। इसलिये 'किमाश्चर्य-मतःपरम्'।

१२. तस्मिन् क्रियाकारकव्यवहारयोग्यतापत्तिः सपादत्वम् ॥

अपाद में क्रियाकारक व्यवहार आने पर (अध्यास अथवा अन्य प्रकार से, उसका विचार यहाँ अनावश्यक है) वह सपाद है ॥

वर्त्तमान स्थल में अपाद कैसे सपाद होता है, उसकी विवेचना नहीं हो रही है। इस परमाश्चर्य को आश्चर्य रूप मान लिया गया है (प्रसिद्ध आश्चर्य मन्त्र में तथा अन्यत्र नानास्थल में श्रुति तथा अनुभव ने जैसे कहा है)।

सम्पद्यते त्वपादोऽपि समृध्यते स आत्मराट्।
उर्णनाभः स कूर्मो वा मायावी किमुतान्यः सः ॥१३३॥
विन्दौ च नादतापन्ने प्रसक्ता पद्यमानता।
मीयता विन्दुमुद्दिश्य सोमार्द्धं बीजता द्वयोः ॥१३४॥

आश्चर्य यह है कि वह अपाद होने पर भी सम्पन्नतादि सम्बन्ध में आ गया है—जैसे 'जवनो ग्रहीता' आदि। वह चक्षुरहित है; तब भी दृष्टि युक्त, सम्पन्न है। इत्यादि। वह आत्मराट् होने पर भी समृद्धता आदि सम्बन्ध में है। स्व सत्ता में मिथुनत्व, बहुत्व; स्वशक्ति में सर्वज्ञत्व, सर्वसष्ट्रित्व इत्यादि ऐश्वर्य युक्त। इस प्रकार से रस, छन्द, आकृति में जो आत्मराट् (अर्थात् आत्मस्वरूप नित्य स्वतन्त्र एवं पूर्ण होने पर भी) है, वह आश्चर्यजनक रूप से समृद्ध हुआ है। परिनिष्ठित सामग्री पुनः सम्पन्न हो रही है, पूर्ण का पुनः पूरण हो रहा है। क्या वह उर्णनाभ के समान किंवा मायावी की तरह अथवा अन्य कुछ की तरह (किमुतान्यः) है ? इन कतिपय उपमा विकल्पना के द्वारा अपादसामग्री के सपादहोने वाली जो कई प्रकार की आकृति मिलती है, उसमें भावना करो। उपमिक कल्पनाओं से तो तत्वविनिश्चय नहीं होता। इन सभी उपमाओं में उर्णनाभ प्रकृति अथवा कारण का संकोच प्रसार है, कूर्म तो प्रत्यय अथवा सूक्ष्म संकोच प्रसार की स्थिति है और मायावी के समान स्थूल संकोच प्रसार भी विशेषतः लक्षित होता रहता है। महामाया अथवा भगवत्ता सूत्र में इस मूल आश्चर्य को यथासंभव धारणा में लाने का प्रयत्न किया गया है। विन्दु प्रभृति का पुनः विचार करो। यहाँ यदि इस मूल आश्चर्य को दो दृष्टिकोण से देखो, तब यह उपलब्धि होगी कि ये दोनों मूलवृत्ति हैं पद्यमानता और मीयमानता। 'सम्पन्न' कहने पर मुख्यतः प्रथम, किन्तु समृद्ध कहने पर दोनों ही प्रसक्त होते हैं। जब विन्दु नादरूप मे उतरता है, तब है पद्यमानता (पाद) और नाद को विन्दु का 'उद्देश्य' कराने पर मीयमानता अथवा मात्रा। नाद ही पाद का सामान्य तथा आधाररूप (अधिकरण) है। विन्दु ही मात्रा का चरम-परम रूप है। (मात्रा=करणता)

ब्रह्मकारणता विन्दुकारणता ही परमरूपता है। कुछ करने अथवा होने के लिये विन्दु का प्रयोजन रहता ही है।

अतः सोमार्द्ध को पादमात्रा का बीज मानो। सोम अथवा ओंकार में (अर्धं), समात्र तथा अमात्र के सेतुरूप में अवस्थित होने के कारण यह है सोमार्द्ध।

१३. तत्रैव मातृमानव्यवहारयोग्यतापत्तिः समात्रत्वम् ॥

यही सपाद (आनन्द) मातृ-मान व्यवहार में आकर समात्र है ॥

बीज ही अंकुरादि रूप में सपाद होता है। बीज की नाभि से कोई एक रहस्य वस्तु कहती है "मैं माता हूँ, तुम्हारे अंकुरादि समस्त पादों का मैं ही माप करती हूँ। बाहर जो रस है, आलोक, ताप आदि है उसे भी माप लेती हूँ। तुम्हारे इस सम्पद्यमानता की एक रेणु अथवा एक क्षुद्र स्पन्दन भी इस माप अथवा मात्रा में आये बिना नहीं रह सकती।" पाद तथा मात्रा का इस प्रकार से परस्परतः ओतप्रोत अन्वय है। केवल अधिभूत को ही नहीं, अध्यात्म प्रभृति को भी इसी दृष्टि से देखो। अथच, परम आश्चर्य तो यह है कि जो (आनन्द भी) अंकुरादि पादविस्तार कर रहे हैं, वे विष्णु उरुक्रम में जाने पर भी अपाणिपाद 'परमाकाश' भूमा हैं। नाभि में यह जो 'माता' है, वह यद्यपि मात्रारूपेण अन्तर्बहिः निखिल का परिमाप कर रही है, तथापि स्वरूपतः तो वह वही विन्दु ही हैं जहाँ पूर्णत्व शून्यत्व एकत्र है। अतः विश्व में कहीं भी सम्पद्यमानता का अन्त नहीं है, मीयमानता का शेष नहीं है। जिस भूमि में ये सब 'नितरां अपास्त' हैं उसके सम्बन्ध में यह कारिका है।

> **नान्तःप्रज्ञादिरूपेण व्यतिरेकेण मेयता।**
> **अपास्ता नितरां यत्र स आत्मेत्यवगम्यते।**
> **आत्मैवेदमिति श्रुत्या सर्वभूतात्मता श्रुता ॥१३५॥**

बहिप्रज्ञ नहीं है, अन्तःप्रज्ञ नहीं है, इत्यादि व्यतिरेकमुखी मानमेयता (एवं उसके साथ पादपद्यता) जिस भूमि में अपास्त है, वह है आत्मा। अथच 'यह सब आत्मा है, आत्मातिरिक्त कुछ नहीं है' इस प्रकार से आत्मा के निखिल व्यवहार की 'नितरां अपास्त' भूमि नहीं मानता, परन्तु अन्वयमुख से उसे पादमात्रा आदि की 'नितरां समस्त' भूमि के रूप में भी देखता हूँ। आनन्द का इस प्रकार का अन्वय व्यतिरेक मुख में जो 'नितरां समस्त अपास्त भाव' है, वही है आत्मा। (शान्त आत्मा तथा सर्वभूतात्मा इन दो प्रकार से।) 'नितरां समस्त' अर्थात् वह भूमि जहाँ निखिल व्यस्त पादमात्रा प्रभृति का परम समास सिद्ध हो जाता है। (Realm of complete integration and perfect Synthesis)।

अपास्त-समस्त के तत्वविचारार्थ यहाँ अवकाश नहीं है। ये दोनों हैं। जपादिध्यान साधना में 'समस्त' के द्वारा ही 'अपास्त' में आना होता है! यह जो 'समस्त' भाव है, उसे व्यष्टि सुषुप्ति अथवा समष्टि प्रलय के समान वाली एक

अव्यक्त, अव्याकृत भूमि समझ कर उपेक्षित मत करना। पूर्णज्ञान की भूमि अवश्य है। यदि पूर्णज्ञान को 'वेद' कहें, तब वह नित्यवेद है। और 'वेदविदेव चाहम्' भी नित्य है। अपास्त तथा समस्त में आनन्द ही है आत्मा। तभी आत्मा 'प्रियः पुत्रात् प्रियो वित्तात्' इत्यादि। अब आत्मा के इन भावद्वय में जो सेतुभाव है, उसे सूत्रित किया जाता है :—

१४. तदुभयत्वयोनिरर्द्धमात्रा ॥

इन दोनों भावों की (सपाद-समात्र की) योनि है अर्धमात्रा ॥

समात्रामात्रयोः सन्धिः सपादापादयोरपि।
सन्धिमेनं समाश्रित्य प्रवृत्तिर्मानपादयोः ॥
सन्धिस्तु योनिरुत्पत्तौ निवृत्तौ तस्य सेतुता ॥ १३६ ॥

समात्र-अमात्र, सपाद-अपाद रूपी भावद्वय में एक परमराहस्यिक सन्धि रहती है। क्या इस सन्धि की कोई निदान-निरुक्ति परिलक्षित होती है? अथच, इस रहस्यमय सन्धि को पकड़ कर ही पादमात्रादि के व्यस्त-समस्त भावों में प्रवृत्ति होती है। इस सन्धि को छोड़कर विश्व में अथवा बाहर, कहीं भी कुछ व्यस्त-समस्त रूपेण सम्पादित ही नहीं होता। परिमित ही नहीं होता। जैसे पुनः वही बीज और वही अंकुर। बीज की जो नाभि है, और उसका जो अंकुरभाव है, मानों इन दोनों में कोई सन्धिसूत्र स्थित रहकर निर्देश दे रहा है, प्रेरणा दे रहा है "तुम इस पर अंकुर रूप तथा परिमित हो गये हो!" आभ्यन्तरीण जपादिभाव में तथा अनुभूति में भी यही है। विचार कर समझो! यही संधि पाद-मात्रा आदि की उत्पत्ति क्रिया में (विकास में) 'योनि' है। और जो अपाद-अमात्र है उसमे निवृत्ति किंवा विलय के लिये सेतुरूप है। इस अर्धमात्रा का प्रसंग पहले भी विवेचित हो चुका है। ब्रह्मा ने इन योगनिद्रारूपी अर्धमात्रा की स्तुति किया था और अभी भी कर रहे हैं, इसकी चिन्तना करो। अर्ध शब्द की व्यञ्जना भी सविशेष ध्यानयोग्य है।

१५. कला पादमात्रासमाहारात् ॥

पाद-मात्रा, इन दोनों का समाहार ही कला है ॥

इस समाहार को बीज तथा फल रूप से भी देखा जाता है। बीज में ही 'फल' सम्भाव्यरूपेण समाहृत रहता है। इसका परिणाम है फल। प्रथम (बीज) में कलनी शक्ति है, द्वितीय (फल) में है फलितरूप, भाव आदि। बीज में समाहार शक्य (पावर अथवा पोटैन्सी कम्पोज्ड) है। फल में समाहार (रेजल्टेन्ट री-कम्पोज्ड) है। शक्यता से व्यक्तता में जाने पर भी शक्यता स्वयं को निःशेषित नहीं करती। उसने पुनः स्वयं को अभिनव शक्यता रूपेण समाहृत कर लिया है। अतः कला के पादमात्रा समाहार को बीज एवं फल, शक्य तथा व्यक्त (नवशक्य-गर्भ), दो प्रकार से देखा जाता है। बीजरूप से पादमात्रा आदि में समग्ररूप से

समाहार होता है। किन्तु फल में अंशकलारूप विशेषतः प्रस्फुटित होने लगता है। प्रथम है अनडिफरेनशियेटेड साईन्यिसिस, द्वितीय है डिफरेनशियेटेड इन्टिग्रेशन !

पादेन पद्यमानत्वं मीयत्वञ्चापि मात्रया।
तयोरेव समाहारात् फलत्वं कर्त्तृकर्मणोः।
आनन्दकलया बीज-फलयोर्विन्दुनादता ॥ १३७ ॥

'कर्त्तृकर्मणोः' कहने पर यहाँ कारक क्रिया का अन्वय अथवा संग्रह लक्षित होता है। इस संग्रह के आरम्भ में क्या रहता है ? बीजरूपा जो कलनी शक्ति है, वह रहती है। पद-वाक्य आदि में उसे शब्द शक्ति कहा जाता है। क्रिया कारक के ऐसे संग्रह का समापन कहाँ है ? फल में अथवा अर्थ में। अब विचार करो कि पाद में जो पद्यमानता है, मात्रा में जो मीयमानता है (पदवाक्यादि में वाच्यता-प्रमेयता) इन दोनों का समाहार न होने पर (समन्वय, समानाधिकरणादि में आहृति न होने पर) बीजत्व तथा फलत्व साधित ही नहीं हो सकता। वाग् आदि के दृष्टान्त के द्वारा पादमात्रा का यह समाहार (फल तथा 'कल' रूप से) विचार कर समझो।

आनन्द ही अपनी कला (यहाँ अंश का तात्पर्य नहीं है) से विन्दु तथा नाद भाव का आश्रय लेकर समस्त क्रियाकारक व्यवहार का बीज एवं फलरूप हो रहा है। अर्थात् समस्त का बीज है आनन्द की बिन्दुकला। फल है नाद कला। 'क' है व्यञ्जनमुख = सुख = आनन्द। ल = कलत्व एवं फलत्व। आ = व्याप्ति–काष्ठा। अतः आनन्द ही कला बनकर कहता है "मैं मूलभाव से (जैसे बीज, ॐ कार आदि वाक् रूपी मूलभाव) विचित्र व्यञ्जनाओं में अपना कलन तथा फलन करता हूँ। व्याप्ति की एक एक सीमा अथवा काष्ठा को अंगीकृत करता हूँ"।

अर्धमात्रा की भावना समाहृत विन्दु-नाद-आनन्दकला रूप से करो। अर्ध-मात्रा में ऋद्ध अथवा ऋद्धमान भाव रहता है। यही है शक्ति का धर्म। शक्य को व्यक्त करने में और व्यक्त को शक्य करने में शक्ति तो स्वभावतः वृत्तिवान् रहती है। वह भगवत्ता में कभी योगमाया है, कभी योगनिद्रा है। यह ऋद्धमान भाव नाद की परमता तथा विन्दु की परमता को उद्देशित करके हैं, उभयाभिमुख उरुक्रम में दोनों को समाहृत करके भी है। इसका परिणाम फल है पाद-मात्रा !

कला को परमा–मध्यमा तथा अवमा रूपी भावत्रय से देखो। परमा भाव से कला आनन्दब्रह्म है अथवा रसभूमा की सृष्टि लीलारूप से आत्मकलयन अथवा स्व-कलायन है। मध्यरूपेण यही है सन्धि तथा सेतुरूपा। अवमारूपेण वर्णरूपादि तथा कला-अंशादि रूपा (एसपेक्ट, पार्शियल, कम्पोनेन्टस् हैं) है।

१६. अंशो मीयमानत्वस्य मुख्यत्वेन व्यपदेशात् ॥

वही आनन्दकला अंश रूपेण लक्षित होती है, जब उसका मीयमानत्व अथवा परिमाणार्हत्व मुख्यरूप से व्यपदिष्ट (लक्षण-संज्ञादि द्वारा उद्दिष्ट) होता है ॥

सामग्र्येणास्ति सर्वं हि सव्यापारं तथैव च ।
तत्र तु मानभासेन पृथक्त्वमंशभागतः ।
प्रत्यवच्छेदजन्यांशो व्याप्ते व्यष्ठित्वमाप्यते ।।१३८।।

पहले आनन्द के स्वकलायन का जो प्रसंग वर्णित हो चुका है, उसके स्व-कलायन द्वारा जो सृष्टि एवं लीला होती है, उसमें कुछ भी (यहाँ तक कि एक रेणु भी) तत्वतः खण्डित तथा व्यवहार्यतः व्यक्त (आइसोलेटेड) नहीं होना । जैसे महासंगीत में एक-एक स्वर तथा छन्दः की स्थिति अक्षुण्ण रहती है । अथच, 'मान' अथवा मीयत्व का भास भी उसी समग्र अखण्डभाव में उदित होता है । इससे यह बोध होता है कि इस विश्व के प्रत्येक पदार्थ में सत्ताशक्ति प्रभृति का अंश मिलकर उसमें पृथकत्व करने लगता है । मुख्यतः मान अथवा मीयता (मेजर) के समग्र अखण्ड भाव में भास रूपेण उदित (मैनिफीस्ट-इमरजेन्ट) होने पर इस प्रकार से अंशभाग होने लगता है । इस अंशभाग के कारण पृथकत्व भी व्यक्तोन्मुखी हो जाता है । फैक्ट अब है फैक्ट सेक्शन और फैक्ट सेक्शन होता है फैक्ट एज बाउन्डेड एण्ड गाउन्डेड । मीयता की ओर दृष्टि निक्षेप द्वारा यह भास रूप उदित होता है । यह स्मरण रखना होगा कि जपसूत्रोक्त भास का तात्पर्य आभास से नहीं है । जो स्वयं अबौद्ध है, Alog-ical है, उसकी ही बौद्ध Logieal छवि अथवा आकृति है भास । विमर्श पंचक के कारण यह भास अब पुनः पंचधा अभिव्यक्त होने लगता है । मिथ्यात्व के विश्व-व्यापी जाल से भान-भास आदि सब कुछ को खींच लेना होगा, जिस से भक्ति-ज्ञान प्रभृति सिद्धान्त भेद का उदय नहीं हो, और इसी भाव के जपाधार की प्रस्तुति के लिये 'जपसूत्रम्' अग्रसर हो रहा है ।

अतः अंश को यहाँ 'प्रत्यवच्छेदजन्य' कहा जा रहा है । यही है वैज्ञानिक परि-भाषा । जो अनमेजर्ड है, उसमें से कुछ को पार्ट, एज फैक्टर, एज कम्पोनेन्ट रूप से Measure out करना ! तुम और मैं वही कर रहे हैं । अवश्य करते हैं, किन्तु मूलतः आनन्द ब्रह्म उसे स्व-कलायन में ही (बाई एन इनहेरेन्ट, इमनेन्ट, प्रोसेस) करते हैं और कर रहे हैं । प्रत्यवच्छेद — ऐसा अवच्छेद (Live Cross-Sectioning) जिसमें अंश पृथक् होकर भी सत्ताशक्ति आदि से तथा व्यवहार में अखण्ड सामग्री के साथ युक्त रहते हैं । जैसे यह सजीव देह । इसे आपरेशन डिसेक्शन के द्वारा टुकड़े टुकड़े करके नहीं दिखलाया जा रहा है, परन्तु जीवन्त रखकर एक्सरे प्रभृति के द्वारा पृथक रूप से दिखलाया जा रहा है । इस अंतिम स्थल में अंशों का युक्त भाव स्थित रह जाता है, अतः गठन एवं घटन (Structurally and functionally) इन अंशों का समीक्षण-परीक्षण किया गया । प्रणव-गायत्री-नाम प्रभृति में अंश तथा कला को इसी प्रकार से मिलाना होगा । इस प्रकार से अंश — कलादि समाहार से (एप्रिसियेशन) भक्ति ज्ञान योग प्रभृति सिद्धान्त क्षुब्ध नहीं हो सकते । श्रुतिस्मृति,

आगम-पुराणों में 'अंश' तथा 'कला' बहुधा कथित है। अद्वैतवेदान्त में भी इनका अपना सिद्धान्त है। इन सबके सामान्याधार रूप से यहाँ अंशसूत्र का गठन किया है। बहिर्विज्ञान, गणितादि के दृष्टिकोण को भी सम्मिलित किया गया हैं। 'टर्म आफ ए सिरीज'।

इन सब प्रत्यवच्छेद के कारण अंश है। उसमें है व्यष्टिता (इन्डिविजुयैलिटी) और मापता (मेजेरेबिलिटी) ये दोनों धर्म उसमे व्याप्त रहते हैं। और भी विचार करो कि अंशभाव अर्धमात्रा के विन्दु क्रम में (टेडेन्सी टू सेन्ट्रलाईजेशन, पाईन्टेडेनेस, फोर्कसिग में) आ जाता है।

१७. अंशी पद्यमानत्वस्य मुख्यत्वेन व्यपदेशाच्च ॥

और पद्यमानता (पाद) मुख्यरूप से व्यपदिष्ट होने पर अंशी है ॥

विन्दु क्रम अपने सब कुछ को, कूर्म बीजदि के समान स्वयं को सामग्रिक सत्ता और सम्बन्ध से संकुचित करते हुये किसी केन्द्र अथवा संस्था से जड़ित होकर अंश-कला हो जाता है। किन्तु अभी नादक्रम तो है ! यही पद्यमान विततभाव मुख्य हो जाने पर अंश के सम्पर्क द्वारा अंशी स्थिति आती है।

पल्लवं पादपस्यांशः पादपस्यांशिता मता।
पार्थिवांशो भवेद्रेणुः पादपाङ्गञ्च पल्लवम्।
क्रियांङ्गमपि वेदाङ्गं वाक्याङ्गादीनि चिन्तयेत् ॥१३९॥
अवयवान् पुनश्चापि न्यायावयवपञ्चकम्।
अर्थार्थी धर्मधर्मी च शक्तिशक्तिमतोर्द्वयम्।
तादात्म्यमभिसन्धाय सम्बन्धस्वाधिरोहणम् ॥१४०॥

अंश—अंशी भाव को पूर्वोक्त लक्षणानुसार समाहित करते हुये वर्णादि—समाश्रित जो जप प्रभृति हैं, उसमें अग्रसर तथा प्रवृत्त होना चाहिये। लक्षण का 'सार्वभौमिक' जपादि के क्षेत्र में यथायथ प्रयोग होता है। प्रयोग क्षेत्र में (केवल जप में नहीं, विज्ञानादि में भी) इस अंश-अंशी सम्बन्ध का एक प्रकार का अधि-रोहण (जैसे जप में होता है अभ्यारोहण) है, और साधन में सोपानक्रमेण इस पर क्रमिक अधिरोहण होता रहता है। प्रथम भाव (सोपान)—जड़ या स्थूल (मैकैनिकल) अंश, अंशी भाव। जैसे मिट्टी अथवा पत्थर उसका अंश, रेणु। साधन के प्रारम्भ में जप के मंत्र-वर्ण इसी जड़ीय भाव में हैं। यह है कला अथवा आनंद का अलसित भाव। मानो सब पृथक् है, किसी भी प्रकार की आत्मीयता नहीं है। इसी जड़ दृष्टि द्वारा पल्लव तथा पादप का अंश-अंशी भाव दृष्टिगोचर होता है। किन्तु सूत्रान्वय की दृष्टि प्राप्त हो जानें पर यह सम्बन्ध अंग-अंगी भाव से भासित होनें लगता है। अब मेकैनिकल दृष्टि है आर्गेनिक। अब है सोपान अवयव-अवयवी।

किन्तु तृतीय के आने के पहले यह चिन्तन कर लेना होगा कि क्रियांग-वेदांग तथा वाक्यांग का अङ्गत्व-अङ्गित्व किस प्रकार का है ? यद्यपि ये सम्बन्धत्रय प्राणिक (आर्गेनिक) हैं--अर्थात् अंगसमूह की अन्योन्यापेक्षा एवं उपकारत्व अवश्यमेव विस्पष्ट है, तथापि अभी यहाँ पर अच्छेद्यत्व (अविनाभाव) गाढ़ (कामपैक्ट) नहीं है। यहाँ भी व्यूढ़ अथवा कन्डीशनल रूप ही व्यक्त है।

यदि फल चाहिये, उस स्थिति में अनुष्ठान क्रिया में अंग-क्रम-मात्रा प्रभृति प्रयोज्य हैं। अपर दो दृष्टान्तों में भी व्यूढ़भाव रहता है। किन्तु अवयव-अवयवी मे उन्हें पृथकत:उपलब्ध नहीं किया जा सकता। (Psychologically interrelated and logically Congruent)। जैसे न्याय के (अनुमान के) अवयव पंचक हैं, उसी प्रकार जो अनुमिति रूप प्रमिति है, वह भी पंचावयव ही है। वाक्यांग में भाव है। इस सोपान का आश्रय लेकर अर्थार्थी, धर्मधर्मी, शक्ति-शक्तिमान में समाश्रित होकर तादात्म्य में उपनीत हो जाओ। न्यायावयव आदि में न्याय ही गठित होता है इन पंचावयव के रूप में अथवा त्रयावयव के रूप में। उनमें से किसी को भी छोड़ देने पर 'न्याय' ही नहीं रह जाता। फिर भी अवयवों में कभी भी पारस्परिक प्रतियोगी ज्ञानाधीन-ज्ञान विषयत्व नहीं रहता। 'पर्वतो वन्हिमान' ज्ञान होने पर धूम (हेतु) अथवा महानल (दृष्टान्त) का ज्ञान चाहिये ही ऐसा नहीं है। जैसे घटाभाव कहने पर घट का ज्ञान आवश्यक हो जाता है, वैसा यहां नहीं है। जैसे शिष्य गुरु, वाचक-वाच्य। यह अर्थार्थी के स्थल में है, परन्तु धर्मधर्मी, शक्ति-शक्तिमान में जैसा है, वैसा अर्थार्थी के स्थल में नहीं है।

इन सबका सम्यक् चिन्तन करो। सब कुछ को आनन्द तादात्म्य में परिसमाप्त करने के लिये अंशीसूत्र में उल्लिखित अधिरोहण का आश्रय लेना ही होगा। विचार करो मैं और साधन, ये दोनों पद्यमानता के किस सोपान पर अवस्थित हैं ? यह भीं देखते रहना होगा कि दृष्टि तथा आनन्द संवित्ति का स्फुरण प्रत्येक सोपान पर सम्पद्यता में उपनीत हो रहा है, किंवा नहीं हो रहा है। गीता में 'चतुर्विधा भजन्ते माँ' में उक्त अर्थार्थी से पूर्व वाले सोपानावलि में जो अलसित है, उसका भाव है आर्त्त। द्वितीय उल्लेख है अर्थार्थी का। यह अर्थ अथवा प्रयोजन बोध में जागरुक है, अत: इसमें उल्लसितता का अंकुर मात्र है। तृतीय है वह ज्ञानी जो धर्मधर्मी का जिज्ञासु है, और शक्ति –शक्तिमान में ज्ञानी। इन दोनों में उल्लास प्रौढ़ है और विलसित है। चौथा है भक्त। यह एकभक्ति तथा युक्ततम में तादात्म्याश्रित है, स्वलसित भी है। साधन जीवन का सर्वाधिक मर्मी प्रश्न है—हे ज्योतिरससामग्री ! हम आर्त्त हैं, आनन्द विधुर हैं। तुम कब बनोगे हमारा अर्थ और हमें करोगे अपना अर्थी ?'' रसभूमि में यह सीमान्त अतिक्रमण करने पर होता है रागानुग ! तब है

धर्म धर्मी ! रासमण्डल में शक्ति-शक्तिमान ! और प्रमुदित रासकमल में अनिर्वचनीय तादात्म्य । ज्ञानीजन शुभेच्छा से लेकर तुर्यगा पर्यन्त का विचार करें ।

अब लीलासूत्र:—

१८. उल्लसितत्वमानन्दस्य लीला ॥

आनन्दोल्लास ही लीला है ॥

विश्वस्य व्यवहारस्य स्वयं मूलममूलं यत् ।
उल्लसितत्वमव्यक्तमात्मन्येवोपलक्ष्यते ॥१४१॥

निखिल विश्व व्यवहार (सृष्टि-स्थिति-लय) के मूल में जो स्वयं अमूल परब्रह्म अथवा आनन्द है, उनका अव्यक्त उल्लसित भाव ही लीला है। अपनी आत्मा के उपलक्षण (तटस्थ) भाव में इस अनिर्वचनीय उल्लसित रूप को समझ कर देखो । 'आत्मौपम्येन' को समझने के अतिरिक्त अन्य उपाय ही नहीं है । उल्लासादि इसी आत्मा से ही उपमित होते हैं ! स्वात्मा ही निखिल तत्त्व तथा भाव का उपमास्थल है, इसी में समस्त भावों का भाव अथवा उसका 'नमूना' रहता है । 'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित' जो यहाँ है वही अन्यत्र है, जो यहाँ नहीं वह कहीं भी नहीं ! परमतत्व तथा भाव के सम्बन्ध में भी 'आत्म प्रत्ययैक—सारम्' के अतिरिक्त कोई गति नहीं है ! तब भी आत्मा ही हिरण्मय पात्रस्थ सत्य का मुख आवरित करके रखता है और पूषा के रूप द्वारा स्वयं ही सत्य का मुख अपावृत भी करता है । तब वही है प्रत्यगात्मा ।

आनन्दोल्लास रूप जो लीला है, वह अपनी आत्मा में ही सत्य का मुख यथासम्भव अपावृत करना है। अध्यात्म दृष्टि के अतिरिक्त अधिभूतादि में आनन्द तथा उल्लास-लीला प्रभृति भाव को साक्षात् या अपरोक्षरूप से भी ग्रहण नहीं किया जा सकता। विश्व में इसी कारण से प्रकाश तथा आनन्द का रूप गुण्ठित-लुण्ठित है । जब तक स्वयं हमारे अन्दर भी पराप्रकृति अपराप्रकृति के कवल में है, कवलिता है, तब तक सर्वत्र यंत्र रूप तथा यंत्रारूढ़ रूप ही अनुभूत होता है । अथच आनन्द ही सब का हृत् है, सब की आत्मा है। इसीलिये कहीं एक धूलिरेणु अपिहित होने पर भी आनन्द तथा लीला से बाधित और निरस्त नहीं होता । पाद-मात्रा-कला काष्ठा के माप से युक्त होकर भी वह अपाद-अमात्र अपनी आनन्द लीला को परिमापित-सम्पादित-संकलित अथवा सीमित नहीं करता । इन सब में व्याप्त होकर भी आनन्द एवं लीला हैं 'अत्यतिष्टद्दशाङ्गुलम्' । उनके 'पादोऽस्य' विश्वभुवन' में जो वज्र बन्धन है, वह मात्र एक पाद में ही है। जपसूत्रम् में इसी रूप को विशेषतः प्रस्फुरित करने का प्रयत्न किया गया है कि आनन्द ही निखिल का हृत् है । साथ ही उल्लसित रूप लीला भी निखिल का हृदय है। Core and Heart of Every thing Heart अर्थात् Living Pulsating Heart जपाक्षर भी है और उसकी पाद

मात्रा भी है। किन्तु प्रतीक्षा में है कि अक्षर में हृदि सन्निविष्ट होकर आनन्द घन अक्षर पाद में पद्यमान और मात्रा में मीयमान होते-होते कहेगा—देखो, यह सब आनन्द का पाद है। आनन्द मात्रा तथा आनन्द कला है। अतः अलसित से उल्लास-विलास में रूपायित होना ही इसका स्वभाव है। स्वलसिता में उसकी सीमाहीन—अन्तहीन काष्ठा रहती है। यह प्रस्फुटित होते ही तुम्हारा जप अपने हृदय को प्राप्त कर लेता है। हृद्देश यंत्र का जो 'कीला' (कील) है उसे करो ढीला, तभी हो सकेगी हृदय में लीला!

१९. तस्या निरतिशयनिर्व्यूढ़त्वेन स्थितित्वं कैवल्यम् ॥

लीला की निरतिशय तथा निर्व्यूढ़रूप में स्थिति की भूमि है लीलाकैवल्य ॥

लीलाहृदयसर्वस्य बाध्यता व्यवहारतः।
निरतिशयनिर्व्यूढं कैवल्यं बाधबाधने ॥१४२॥

सब कुछ आनन्दहृत् तथा लीलाहृदय होने के लिये व्यवहार में यन्त्रारूढ़ तथा यंत्रबाध्य होकर स्वयं को प्रदर्शित कर रहा है। यह तो बाधबाधिता है, यह किसी की अपनी प्रकृति किंवा स्वभाव नहीं है। प्रत्यय भी पुराभाव में नहीं है (जैसे इन-डिटरमिनेटरी प्रिंसपल) किन्तु जो व्यवहार में प्रतीत है उसमें वर्त्तित होता है। विज्ञान में यह व्यवहार है Statistics, Average इत्यादि। बंधन में बंधकर सब कोई यही कहते हैं 'यह मैं नागपाश में बंधा हूँ, हिलना-डुलना भी संभव नहीं है। अथच, जड़ से प्रारंभ करके समस्त नागपाश के मोचनार्थ गरुड़ की शरण लेता हूँ। आगे वाले सूत्रों में जड़ का तथा व्यवहार का लक्षण अंकित होगा। यह स्मरण रखना होगा कि बहिर्विज्ञान को अन्तर्भाव में लाकर ही यह सब लक्षण हैं।

यहाँ यह सब जो बाध्यबाध्यतायें हैं, वे जब अपना ही बाधन (निगेट) करने के लिये अग्रसर हैं, तब यह प्रश्न उत्थित होता है, अच्छा यह (Nigating the negatin) बाधबांधन किस भूमि में है? निरतिशय में है अथवा निर्व्यूढ़ में है? इन दोनों परिभाषाओं को समझने का प्रयत्न हो चुका है। निरतिशय नाद में भी परमता है और विन्दु में भी परमता है, निर्व्यूढ़ कहने पर कला में भी परमता है। इस प्रकार से नवीनता से चिन्तना करो। भगवत्ता में वह लीलाकैवल्य निष्ठित है।

२०. विलसितत्वमानन्दस्य योगमाया ॥

जिसमें आनन्द का विलास होता है, वह योगमाया है ॥

सम्बन्धगुणकर्मादियोगाद् या मायते स्वधम्।
साक्षात्वेन परानन्दं योगमायेति सोदिता ॥१४३॥

आनन्द की जो परमता तथा लीलाकैवल्य है, इन दोनों भाव को साक्षात्-रूपेण सम्बन्ध, गुण, कर्म इत्यादि (अमायिक) भाव में जो स्वयं (स्वतन्त्र अन्य

निरपेक्ष रूप से) विलसित (विचित्र तथा विशेष अनिर्वचनीयरूपेण) करती है, वह है योगमाया। यह योगमाया आनन्द के परमोल्लास विलासादिरूप भगवत्ता से पृथक् कोई तत्व जैसी नहीं है। भगवत्ता ही अनिर्वचनीय विलासानुरोध के कारण योग-माया रूप हो जाती है। "योगमायामुपाश्रितः" इत्यादि वाक्य से पृथक्ता का विभ्रम नहीं होना चाहिये। जो आनन्द परमता का लीलाकैवल्य है, उसकी विलास भूमि की भूमिका (अमायिक) को सम्बन्धादि रूपेण रचनेवाली योगमाया ही हैं। योग तथा माया शब्द का चिन्तन करो। कारिका के योगाद्, मायते, स्वयं, साक्षात्वेन- इन चारों का लिंग यद्यपि 'परानन्दं' पद कर्म में प्रयुक्त अवश्य है, किन्तु इन चारों के लिंग के द्वारा पृथकत्व तथा परात्त में ग्रहणीय नहीं है (अचिन्त्य)। अतएव सम्बन्धादि भी 'मायिक' नहीं है। भगवत्ता के स्वविलास के लिये योगमाया अनिर्वचनीय (अचिन्त्य) 'स्वमायन' करती हैं। भगवत्ता के योग से ही उसे (स्वभाव को) मायिक की गोष्ठी के साथ युक्त नहीं करा जा सकता (इसके लिये योगमाया का होना आवश्यक है)। यह महामायादि सूत्र में विवेचित हो चुका है।

और यह भी सोचना उचित नहीं है कि योगमाया का कोई 'नामोनिशान' इस मायिक प्रपंच में नहीं है, और रह ही नहीं सका। ऐसा नहीं होता। एक रेणु, एक बूंद ओसकण, एक तृणकुसुम में कोई एक पुलक वेदना कहीं भी (यहाँ तक कि हृद् एवं हृदय में भी) योगमाया के बिना नहीं होती। उसमें केवल प्राकृत माया का ही 'दखल' नहीं है। योगमाया के जो चार लिङ्गक हैं, वे जड़ प्रभृति के क्षेत्र में केवल छिपे 'अपिहित' रहते हैं, वे कहीं से भी तिरोहित नहीं होते किन्तु जड़त्व क्या है ?

२१. **अलसितमानन्दस्य जड़त्वम्** ॥

आनन्द का (साथ में लीला का) अलसितभाव ही जड़त्व है ॥

आनन्दनिष्ठलीलायाः परिसीमा हि बाधने।
तत्रैव जड़तापत्तिः कैवल्यमिव बाधितम् ॥१४४॥

आनन्द में निःसंदिग्ध रूपेण लीला कैवल्य निष्ठित है। स्वयं स्वतंत्र भाव जिसमें कोई प्रतिबिम्बिता का व्यामर्श (चैलेन्ज) नहीं है, Absolute Atonomy grounded on undivided, unchallanged Being and Becoming, वही है कैवल्य। इसमें जो कुछ बाधन (लिमिटेशन) परिलक्षित होता है, वह किस प्रकार से आया, उसका रहस्य कोई भी बता सकने में समर्थ नहीं है 'कुत ईयं विसृष्टिः' ! यह प्रश्न तो उद्ग्रीव ही रह गया। फिर भी सीमा, चाहे जैसे हो खीच दी गयी है ! जो कैवल्यरूपेण निष्ठित है, वह सीमित रूप से घटित हो रहा है। इस बाधनघटित, बाधनाघटन में एक परिसीमा (मैक्सिमम लिमिटेशन) भी परिलक्षित हो रही है हमारे प्रत्यय एवं व्यवहार में ! कैवल्य संधानार्थ बाधबाधन (निगेटिंग दि निगेशर) से रहित, निर्व्यूढ़, परिनिष्ठित की ओर चलो ! यह है विलोमक्रम (एफर्मिंग दि

निगेशन)। फलस्वरूप न तो अब आनन्द का स्वलसित भाव है, न तो लीला है। इस निष्ठित निषेध की अवम् भूमि की प्राप्ति हो गयी। यहाँ प्राप्त हुआ निष्ठित अलसित के स्थान पर स्तिमित अलसितत्व। लीला के स्थान पर कीला (Boundage Factor)। यही है जड़त्व। यदि यह कहें कि इसकी इसलिये आवश्यकता है कि यदि कोई स्वलसित गति स्वयं को अलसित भूमि में नहीं उतारती, तब आनन्द का उल्लास-विलास भी अप्रासंगिक हो जाता है। इस स्थिति में विचारशास्त्र चाहे जो कहे (Whatever the dialectics may say) तुम तो कड़वी बात को भी मीठा बनाकर बोल रहे हो, यह मानना ही होगा।

फिर भी जड़ को जड़ रूप में देखने और मानने से समस्या हल नहीं होगी। जैसे तुम्हारे जप के अक्षर। विज्ञान भी अपने ही हाथों से अपने हाथों में बाधे नागपाश की वज्र बद्धता को अभिनव विज्ञान द्वारा प्रदत्त 'गरुड़ मन्त्र (आइजन वर्ग फार्मूला प्रभृति द्वारा) द्वारा स्वयं ही खोलनें में लगा है। किन्तु बन्धन ग्रन्थि तो खोलने पर भी नहीं खुल रही है। अतः ऐसे दृष्टिकोणों को 'पलट' लेना होगा—

२२. अनिरस्यमानस्वभावत्वे सङ्कोच्यमानवृत्तित्वमेव लीलाकैवल्यस्य ॥

आनन्द के स्वभाव में जो लीला कैवल्य है, उसका निरसन न होने पर उसकी वृत्ति संकोचादिरूप में लक्षित होती है ॥

धूलिलोष्ट्रादिषु ज्ञेयं जड़त्वं दृश्यभोग्ययोः।
अस्तिभातिप्रियञ्चेति प्रकृतिं किं विमुञ्चति।
आनन्दस्य च लीलायाः सर्वानुस्यूततास्थितिः ॥१४५॥

धूलिलोष्ट्रादि को (स्थूलभाव से), पञ्चतन्मात्रादि को (सूक्ष्मभाव से) यहाँ तक कि जगत के मूल में जो प्रकृति है (कारण भाव से) उसे भी दृश्यमात्र तथा योग्यमात्र भाव से देखकर और जानकर जड़ कर दिया गया है। सांख्य आदि के सूक्ष्म विश्लेषण में अन्तःकरण महत् भी (जिसे साधारण ज्ञान का साधन तथा ज्ञान ही समझा जाता है) इस दृश्यभोग्य के "हिस्से" में आ जाने के कारण जड़ है। यह अद्वैत वेदान्त में तटस्थ है। भक्ति सिद्धान्त में, विशेषतः रसाश्रित साधन में "प्राकृत" 'जड़ीय' प्रभृति शब्दों की अन्य व्यञ्जना है। नाना प्रसंगों में इन पर दृष्टिपात हो चुका है। "जपसूत्रम्' में केवल वैज्ञानिकों के matter अथवा जड़त्व को ही लक्ष्य नहीं किया गया है, अथवा उन देशों के दर्शन में अंकित गुरुत्व आदि के आश्रय अथवा संभावना पर ही विचार नहीं किया गया है, साथ ही अपने देश के सांख्य आदि के जड़त्व के लक्षण को भी 'बाँध' कर इस ग्रन्थ में नहीं रक्खा गया है। अपितु यहाँ पर एक सर्वानुस्युत सूत्र प्राप्त करने की चेष्टा की गयी है।

विज्ञान हो अथवा दर्शन, जिसे जड़ कहा जाता है, उसकी ख्याति में एक प्रकार की कुण्ठा तथा संकोच परिलक्षित होता है। मानो यह वहाँ विस्मरित हो

गया है कि कौन पदार्थ किसी अवस्थान में भी अपने स्वभाव अथवा प्रकृति का त्याग नहीं करना और उस स्वभाव में अस्तिता-भातिता-प्रियता (सच्चिदानन्द) का अविनाभाव रहता है। यद्यपि वह अपिहित-संकुचित भले ही हो, परन्तु नितान्त तिरोहित अथवा निरस्त नहीं हो जाता। एक रेणु में भी यही स्थिति है। प्रति पदार्थ की सत्ता में आनन्द ब्रह्म विन्दुरूप से निहित रहते हैं। अनुप्रविष्ट रहते हैं। उनकी सत्ता का जो हृत् है, वहाँ अस्ति-भाति को साथ रखते हुये अनंद ही परम अहं रूपेण सन्निविष्ट सा रहता है। अतः लीला-कैवल्य ही उसका हृदय है। इन चारों से एक नगण्य रेणु भी विताड़ित तथा वंचित नहीं होती। हो ही नहीं सकती। वे चार हैं ब्रह्म स्वभाव, विन्दु, हृत् तथा हृदय। इन में से कतिपय का ख्याति में (In apprehension and appreciation) विचित्र रूप से बाध (निगेशन संभावित हो जाता है। न्यूटन के समय विज्ञान में जड़त्व की जो ख्याति थी क्या वर्तमान में भी वही है? जड़ केवलमात्र mass और Energy के समीकरणसूत्र में ग्रंथित नहीं है। Energy के सम्बन्ध में बर्टेल रसेल के शब्दों का स्मरण करो matter is becoming more and more mental and mind more and more material अर्थात् उस युग के द्वैत का मार्जन होता जा रहा है।

इस प्रकार से विज्ञान की ख्याति में भी शनैः-शनैः एक सर्वानुस्यूतता की स्थिति सम्भव होती जा रही है। यह ख्याति आनन्दलीलारूप कब होती है? अणु अत्यन्त सूक्ष्म है, उसमें भी परम विपुल विद्यमान हैं (विन्दु रूप से) और वे कहते हैं "मुझे इस परिसीमा में क्यों नहीं ले आते, मैं अपनी निरतिशयता तथा निर्व्यूढ़ता से तनिक भी च्युत नहीं हो सकता, 'बेदखल' नहीं हो सकता। तभी तो जड़ को जड़त्व से जड़ित करके नहीं रख सका।" जिन पदार्थों की ख्याति जड़रूप से है, उनकी प्राण चेतना, आनन्द लीलादि रूप में अख्याति तो हमारे व्यवहार में ही चल रही है, यह पहले विवेचित हो चुका है (अर्थात् उनमें भी प्राण चेतना तथा आनन्द लीलादि का अस्तित्व है)। वर्तमान की न्यूक्लियर फिजिक्स ने केवल बहिः प्रकोष्ठ का ही समाचार सुनाया है। अब प्रयास हो रहा है जड़ के हृद्देश (यन्त्रारूढ़ भाव में), हृदवत्व के स्पन्दन को सुनने के लिये। किन्तु वह स्पन्दन किसका है, कैसा हैं? प्राण कहने पर अभी भी शंका है।

तत्पश्चात तुमने जिसे दृश्यभोग्य कहकर 'जड़' बनाया है, क्या उसमें भी दृशि नहीं है, भोक्ता नहीं है? क्या यह देखना और भोग करना एकतरफा एक-पक्षीय है? यह फूल केवल दृश्य तथा भोग्य है। द्रष्टा और भोक्ता नहीं है? अन्न स्वयं अन्नाद नहीं है? जब तुम अन्न का भोग करते हो, तब क्या वह तुम्हारा भोग नहीं करता? ऐसे अनेक जटिल फारमूलों के बन्धन से निकलकर बाहर आना होगा,

अन्यथा प्रमाण भी व्यवसायी हो जायेगा, प्रामांण्यअनुभवी नहीं हो सकेगा, और "रसं लब्ध्वा आनन्दी भवति !"

इसीलिये यह सूत्र—

२३. दृश्यभोग्ययोर्द्रष्टृभोक्ता: स्वभातिप्रियत्वाभ्यां पिहितवृत्तित्वादलसितचेतनत्वं जड़त्वे ।।

दृश्य-द्रष्टा एवं भोग्य-भोक्ता इस प्रकार की द्वन्द्वस्थिति (Bi-polarity) में द्रष्टा एवं भोक्ता की जो अपनी भातिता तथा प्रियता है, उसके द्वारा दृश्य एवं भोग्य की अपनी (अस्तिता नहीं) भातिता एवं प्रियता का 'पिहित वृत्तिता' रूपी आच्छादितभाव घटित होता है। इसी आच्छादित भाव के कारण अलसित चेतन भाव दृश्य तथा भोग्य में परिलक्षित होने लगता है, यही है जड़त्वख्याति ।।

अत: जड़ में स्वलसित चेतनत्व सिद्ध नहीं है। द्रष्टा तथा भोक्ता सम्बन्ध में आकर अपने (विशेषत: इस सम्बन्ध से उर्जित) लसित चेतनतत्व में, प्रतियोगिता में निष्प्रभ-आलसित हो जाना ही जड़त्व है। कैसे ? किस प्रकार !

नक्षत्राणां च सोमस्य द्युतिमाच्छाद्य दीप्यते ।
भानुर्यथा तथा द्रष्टा भोक्ता कर्त्तेति चिन्त्यताम् ।
द्वन्द्वे भोक्तुर्हि भोग्यस्य भोक्तानन्दी न चापरम् ।।१४६।।

सूर्य के दीप्यमान हो जाने पर नक्षत्र प्रभृति ज्योतियुक्त पदार्थों की (सोम का तात्पर्य यहाँ चन्द्रमंडल नहीं है।) द्युति आच्छादित हो जाती है। फिर भी वे द्युतिमत ही रहते हैं। उनका स्वभाव ही है द्युति। द्रष्टा, भोक्ता तथा कर्ता की त्रिपुटी को उपमा द्वारा भानु सदृश चिन्तन करो। नक्षत्र आदि भानुप्रकाश प्रभृति की प्रतियोगिता में में यहाँ दृश्यादि को लिया जाता है। उपमा स्थल में नक्षत्रादि अदृश्य हो जाते हैं, किन्तु उपमित स्थल में स्वभातित्वादि आच्छादित होने पर वह दृश्य प्रभृति हो जाता है। इस प्रकार द्वन्द्वस्थितिनिमित्त प्रतियोगिता की स्थिति में भोग्य के 'भाग' में चेतन तथा आनन्दीभाव नहीं रहता। वह भोक्ता के भोग्य में जा पड़ता है। अर्थात् इस प्रतियोगिता में भोक्ता ही आनन्दी हैं, भोग्य आनन्दी नहीं है, ऐसी ख्याति होती है। तब भी मित्रमिलन, स्त्रीसंभोग प्रभृति में पारस्परिकता परिस्फुट रहती है। अत: 'योग्यता' का प्रश्न उत्थित हो जाता है। मित्रमिलन में प्रतियोगिता रहने पर भी पारस्परिक होने में बाधा नहीं रह जाती, परन्तु जब एक नीबू खा रहे हो, तब केवल तुम ही आनन्दी हो। इस भेद की नियामक जो योग्यता है, fitness or appropriateness है, उसका निरुपण आवश्यक है।

२४. पारस्परिकव्यवहारनियामकसम्बन्धानुपातित्वं योग्यत्वम् ।।

पारस्परिक व्यवहार में एक व्यवहारनियामक सम्बन्ध रहता है। इस संम्बंध की अनुपाती है योग्यता ।।

योग्यत्वमनुपातित्वात् क्रमापेक्ष्यव्यवस्थितम् ।
तरतमतया तस्य वृत्तिर्मेयत्वमृच्छति ॥१४७॥

योग्यता अनुपातधर्मी है । व्यवहार क्षेत्र में कुछ भी पूर्णतः योग्य अथवा अयोग्य नहीं है । सब कुछ आपेक्षिक है । जो सब व्यवहित वस्तु सूर्यालोक में भी दृष्टिगोचर नहीं होतीं, वे सब एक्स-रे आदि में परिलक्षित हो जाती हैं । विप्रकृष्ट (बहुदूरवर्ती) नक्षत्रादि के सम्बन्ध में भी ऐसा ही है । वृक्षलतादि (अन्तःसंज्ञा) में, पाषाण प्रभृति में (प्राणन्) साधारणतः कोई सन्धान नहीं मिलता, किन्तु योग द्वारा अथवा उपयुक्त यंत्रों द्वारा इन सब की चेतना तथा प्राण का संवाद प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त हो जाती है । अतः अनुपात का तात्पर्य है क्रमापेक्षा, तरतमता, परिमेयता । इन्हें यथाक्रमेण पाद-कला तथा मात्रा कहा जाता है । 'क' नामक पदार्थ के लिये हम अपने सम्बन्ध तथा प्रतियोगिता में यह कहते हैं कि वह दृश्यमात्र है-द्रष्टा नहीं है, वह भोग्य है—भोक्ता नहीं है । वह कार्यमात्र है कर्ता नहीं है । इस स्थिति में यह भाव द्रष्टृत्वादि सम्पर्क में अयोग्यता है । यह अयोग्यता किस अनुपात में है ? अर्थात् किस पाद में अथवा क्रमापेक्षा में है ? किस कला में (In what respect and aspect) किस तुलना में ? किस मात्रा अथवा परिमाण में ?

इन्हीं तीनों जिज्ञासा के मूल में है विज्ञान की समस्त समीक्षा-परीक्षा। साधारण व्यवहार में तथा साधन व्यवहार में भी यह जिज्ञासा अन्यथा नहीं है । यह सत्य है कि इन तीनों के साथ काष्ठा अथवा Limit का प्रश्न भी है । "यह" पाद-मात्रा कला में तो योग्यता का अनुपात (प्रपोर्शन) है "इस प्रकार" किन्तु काष्ठा में यह अवम् में है अथवा चरम में ? व्यासनन्दन शुकदेव प्रवज्या के लिये बहिर्गत होने पर पिता व्यासदेव से कहते हैं "तरवोऽपि नेदुः' । प्रस्तर आदि की (विशेषतः विग्रह आदि की) योग्यता भी अवम् ग्राम में एक तरह की है और चरमग्राम में अन्य प्रकार की ! तुम विग्रह की सेवा करके सन्तुष्ट हो । विग्रह भी कहते हैं "मैं परितुष्ट हूँ, तुम वर माँगो" । जप आदि के द्वारा 'योग्यता' को उस शरण्य, वरेण्य रूपी सुहृद्भूमि में लाना ही होगा ।

प्रणव, गायत्री, अन्य बीज अथवा नाम को मात्रा, छन्दः, भाव, भास के अनुपात में ऐसी सीमा में लाना होगा, जहाँ से उनकी षडंगख्याति चली जाये, तभी उनमें प्राणप्रतिष्ठा होगी, चैतन्य स्फुरित होगा और उनका रस तथा मधु उच्छ्वसित होने लगेगा । जैसे गायत्री में मात्रा (अग्नि-सोम आदि) योग्यतानुपाती होने पर महाव्याहृतित्रय की जाग्रतरूपता, छन्द की योग्यता आने पर 'तत्सवितुर्वरेण्यं' रूपी-पाद, भास द्वारा 'भर्गोदेवस्य धीमहि रूपीपाद, भाव से 'धियो यो नः प्रचोदयात्' रूपी पाद लसितचेतन हो जाते हैं ।

२५. योग्यत्वनिरूपितत्वं जड़त्वाजड़त्वयोः ।।

यह जड़ नहीं है अथवा जड़ है, यही है निरूपक योग्यता ।।

पहले यह देखा गया कि योग्यता धर्म व्यवहार क्षेत्र में कभी भी निष्ठित (Fixed Iflexibly) नहीं होता ।

लोष्ट्रे जड़त्वयोग्यत्वं त्वय्याजड़त्वयोग्यता ।
न हि निर्व्यूढ़वृत्तित्वं भजते व्यवहारिके ।
योग्यता योजनाव्याप्तावजड़त्वं जड़ेऽपिच ।।१४८।।

तुम्हारी जो साधारण व्यवहारख्याति (ordinary pragmatic appriciation) है, उसमें तो लोष्ट्र में जड़ता की योग्यता है और तुममें (त्वयि) अजड़ता की योग्यता है। यह जो साधारण व्यावहारिक (कारबारी) जड़योग्यता तथा अजड़योग्यता (dead materiality and its opposite) है, ये दोनों निर्व्यूढ़ वृत्ति नहीं है, (unconditionally and unalterably established position or function)। निर्व्यूढ़ वृत्त देश काल-निमित्त आदि बदल जाने पर भी अन्यथा नहीं हो सकता। जो जड़ है वह जड़ ही रहता है और जो चेतन है वह चेतन ही रहता है। यह भी परिलक्षित होता है कि जड़त्व भी योग्यता द्वारा निरूपित है। अतः निर्व्यूढ़ वृत्त (एब्सोल्यूट कान्सटेन्ट) नहीं है। अब जड़विज्ञान से मैटर की अविनश्वरता तिरोहित प्रायः है। जड़ वस्तु में अक्षर के स्थान पर शाक्त अक्षरत्व आ गया है, तब भी वह एक सीमा रेखा में है।

जड़ विश्व का समस्त समाचार नहीं मिलता और 'घर की खबर' (प्राण-मन) का समाचार तो सटीक (पाद-मात्रा-कला-काष्ठा में) नहीं मिलता। योग्यता भी सम्बन्धानुपात द्वारा निरूपिता है। अतः कारिका के इस अन्तिम चरण की जाँच अभी भी विज्ञान के दृष्टिकोण से होना शेष है। योग्यता की योजना (जैसे जपादि के अक्षर में) सर्वत्र साधित हो रही है किन्तु व्याप्ति घटित नहीं हो रही है। व्याप्ति की सम्यक् भूमि मिलने पर 'अजड़त्वं जड़ेऽपि च'। यहाँ जिस सम्यक् भूमि का उल्लेख किया गया है, वही है प्रत्येक पदार्थ की नाभि। नाभि के सन्धान में ही जा रहे हैं, लेकिन मृगनाभि की खोज में रत मृग के समान !

नाभि का सन्धान तो फिर होगा, व्यवहार किसे कहते हैं ?

२६. क्रियाकारकफलसङ्घातनिरूपितवृत्तित्वं व्यवहारत्वम् ।।

क्रिया, कारक, फल का संघात (Co-incidance, Congruence, Confluence) द्वारा निरूपित (Conditioned and assigned) जो वृत्ति है, वही है व्यवहार (Behaviour) ।। यह व्यवहार शब्द विज्ञानादि जड़वृत्ति के क्षेत्र में भी व्याप्तिमान है। (जड़वृत्ति = फिजिकल इवेन्ट)

फलस्य फलितत्वाय क्रिया तस्याश्च कारकाः ॥
संहत्य वृत्तितां यन्ति विश्लेषादिति पद्यते ।
संश्लेषाद् यत् समग्रत्वं तद्वृत्तिर्व्यवहारता ॥१४९॥

कोई फल (effects desired) फलित होने के लिये (to be actual, to materialize) उपयुक्त (योग्य) क्रिया और संहतवृत्ति (Coincidence) प्रभृति की अपेक्षा करता है । सब प्रकार के क्रियास्थल में विश्लेष करके (by analysis, adequate and sufficient) यह प्रतिपन्न होता है । विश्लेषण के द्वारा क्रिया के अंगसमूह, कारक के अंश अवयव आदि (पार्शियल्स, मोमेन्टस, कम्पोनेन्ट इत्यादि) को पृथकतः देख लिया, किन्तु व्यवहार कहने से क्या प्रकट होता है ? इन पृथक्-पृथक् वृत्तिसमूह को संश्लेष पूर्वक (सिथिटिकली) समग्र वृत्तिता में प्राप्त करना और देखना होगा । इस प्रकार की समग्रवृत्तिता (इन्टिग्रेटेड फंक्शनिंग) के रूप में जो भास तथा ग्रहण है, उसे व्यवहार कहा जाता है । वि+अव+हार, इस तीन से तीन व्यापार सूचित हो रहे हैं ।

जैसे एक फल । उसका सामान्य भाव में भास है—यह फल । क्यों, कहाँ, किस प्रकार, किसके द्वारा इत्यादि अभी भी प्रतिभात नहीं होता । यथासंभव सूक्ष्म, दक्ष विश्लेषण के द्वारा यह उपलब्धि होती है कि क्रिया तथा उसके कारक समूह किस प्रकार से संहतवृत्ति होकर फल को ठीक इस आकार में प्रकट कर रहे हैं । जैसे गीता में 'अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणञ्च पृथग्विधम्' इत्यादि प्रकार से पंचधा विश्लेषण किया गया है । विज्ञान आदि ने समीक्षा, परोक्षा तथा अन्वीक्षा में इस प्रकार के विश्लेष अथवा analysis को मुख्य उपायरूप में ग्रहण किया है । कठिनाई यह है यथासंभव निपुणरूप से विश्लेष करने पर भी यह निश्चिन्तता नहीं होती कि भाग समूह पूर्णतः आयत्तः हो गये हैं तथा सम्यक् अनुपात में मिले हैं । क्या पाद-मात्रा-कला-काष्ठा में यथार्थ संहतिरूप प्राप्त हो सका है ? इस संशय का निराकरण तभी होता है जब पुनः संश्लेष द्वारा समग्र को मिला लिया जाता है । जैसे प्रोटोप्लाज्म । विश्लेषण में इनके उपादान समूह को जिस अनुपात में प्राप्त किया, क्या उसे पुनः मिला देने पर सजीव प्रोटोप्लाजम प्राप्त हो सका ? यदि कहें कि सजीव का विश्लेषण नहीं किया, उस स्थिति में यह कहा जा सकता है कि सजीव का अथवा प्राण का व्यवहार संकलित किया है ।

जपादि में कुण्डलिनी की जागृति, नाद आदि के विश्लेषण की पृष्ठभूमि में एक शारीर विश्लेषण (Physiological picture) रूप अवश्य है । मान लो कि वह रूप यथासंभव योग्य रूप (एडीक्वेट एण्ड सफीसियेन्ट) से प्राप्त हो गया । किन्तु उसमें जप्यमन्त्र का तथा प्रणवादि का जो व्यवहार है, क्या वह पूर्ण एवं यथार्थरूप से प्रकट हो सका है अथवा नहीं ? इसके लिये शरीर व्यापार समूह के

संश्लेषण द्वारा समग्रवृत्तिता को लाकर यह देखना होगा कि क्या वे नादस्फुरणादि फल सम्पर्क के योग्य है अथवा नहीं है ? विश्लेषणोपरान्त 'अवहार' न होने तक पुनः व्यवहार का भास होगा, यह कहा नहीं जा सकता ।

२७. व्यवहारनिर्वाहकसंङ्घातस्य सव्यूढ़त्वं चक्रकोषाद्याकृतिभिः ॥

पूर्वोक्त व्यवहार निर्वाहक जो संघात है, वह पुनः चक्रत्व-कोषत्व आदि आकृति के कारण पुनः संव्यूढ़ हो जाता है ॥

व्यवहारनुरोधाद् ये संङ्घाता वृत्तितामिषुः ।
तेषां चक्रत्वकोषत्वाद्याकारा अपि चासते ।
पंञ्चकोषात्मको जीवो द्रव्ये मूर्त्तेऽपि चक्रता ॥१५०॥

जो संघात व्यवहारानुरोध में वृत्तिमान है, उसके क्रिया, कारण तथा फल में से किसी एक को मुख्य करते हुये तथा अन्य दो को गौण करते हुये पूर्वोक्त विश्लेष—संश्लेष साधित हो सकता है और व्यवहारतः होता भी है । यह मुख्य-गौण भाव से ही होना उचित है, वियुक्त (By mere abstraction) रूप से होना उचित नहीं है । प्रत्यवच्छेद में होना उचित है, केवल अवच्छेद में होना उचित नहीं है । यथार्थ रूप से व्ययहार निर्वाहक संघात द्वारा यह परिलक्षित होगा कि क्रिया-कारक-फल में से प्रत्येक अन्य दो से केवल संहत ही नहीं हो रहा है, अर्थात् केवलमात्र Co-incidence and Composition नहीं है । उनमें Co-inheritence रहता है । एक में ही अन्य दोनों स्वयं को सन्निविष्ट तथा सव्यापार रखते हैं । इस प्रकार से फल में क्रिया तथा कारक, दोनों ही विद्यमान हैं । वृत्तिमान हैं ।

इस शरीर से एक वाक् वहिर्गत हो रही है अथवा एक कण क्षरित हो रहा है । उसमें यह शरीर तथा शरीरी पूर्णतः विद्यमान है । केवलमात्र बीज अथवा विन्दु में ही नहीं ! उनमें घनता तथा समर्थरूपता है । इस प्रकार से संघात के श्रेणीस्तर-पर्व इत्यादि की परम्परा है । 'संहत' भाव साधारण लक्षण है । इसके रहने पर व्यवहार होता है, किन्तु संहत की श्रेणी तथा स्तरपरम्परा से उठकर 'संव्यूढ़भाव' में पहुँचना होगा । इसका वर्णन पहले भी किया जा चुका है । इस संहत की एक विशिष्ट क्रमोन्नत भूमि किंवा स्तर है । सृष्टि में सर्वत्र ही (यहाँ तक की मूर्त्त जड़ में भी) संहत के साथ संव्यूढ़ का व्यक्त अथवा गूढ़भाव रहता है । तभी यदि संहत-रूप को देखता हूँ तब संव्यूढ़रूप को भी क्वचित् देखता हूँ । जैसे आधुनिक विज्ञान ने जड़ाणु आदि में भी चक्ररूपता (प्लैनेटरी पैटर्न) देखा है, परन्तु कोषाकृति ? अतः इस प्रकार का अभी भी व्यवहार हो रहा है कि जीव, पंचकोष आदि में, मूर्त्त जड़ आदि में चक्ररूपता है । यह भेद इस तथ्य पर निर्भर करता है कि दृष्टि की गति की कहाँ तक अवगमकता है, वह कहाँ तक जा सकती है ! अतः मूर्त्त भूतादि में (जैसे ऐटम में) कोषरूपता सावकाश है । चक्रकोष प्रभृति के सम्बन्ध में पहले भी

किंचित आलोचना हो चुकी है, भावी ग्रंथ में भी समस्त लक्षण स्पष्ट करने का प्रयत्न किया जा रहा है। यहाँ यह लक्षण करो कि संहत्, समूह तथा संव्यूढ़ में क्रमशः फल, क्रिया तथा कारक की मुख्यता रक्खी गयी है, अर्थात् संहत में फल की, संव्यूढ़ में कारक की तथा समूह में क्रिया की मुख्यता है।

२८. आनन्दस्य सर्वात्मत्वेऽपि व्यवहारतो नाभिकोषत्वम् ॥

आनन्द निखिल आत्मा तथा हृत् होने पर भी व्यवहार निर्वहण के कारण "नाभिकोष' रूपी युग्मरूप (नाभि ✦ कोष) धारण करता है। जहाँ चक्ररूपता है, वहाँ उसकी नाभि है और जहाँ कोषरूपता है, वहाँ आनन्दमय कोष है ॥

व्यवहारानुरोधे च आनन्दः सर्वभावनः।
नाभिकोषत्वमायाति सर्वात्मा सर्वहृत् स्वयम् ॥ १५१ ॥

आनन्द से ही सब कुछ जात है। आनन्द ही जीवित एवं प्रत्यावृत है, यह तो श्रुति तथा अनुभव में प्रसिद्ध है। यही है आनन्द का सर्वभावन रूप। भूमा-आकाश तथा शान्तरूप से आनन्द ही आत्मा है, पुनश्च विन्दुरूप से निखिल सृष्टि में अनुप्रविष्ट भाव से भी आनन्द है सर्वात्मा, सर्वभूतान्तरात्मा। आनन्द विन्दु स्व-कलन में है आनन्द कल। वह सर्वभूताधार है, स्थेष्ट-नेदिष्ट-मर्म-ओकः रूप से हृत् है। अतः आनन्द ही है सर्वहृत्। यही आनन्द क्रिया-कारक-फल आदि व्यवहार निर्वहणार्थ क्या हुआ ? जहाँ (स्थूल-सूक्ष्म-कारण में) चक्ररूपता है (Spiral है); वहाँ है नाभि-अक्ष। जहाँ कायाकृति है (organic पैटर्न) कुण्डलीशक्ति आनन्द रूपिणी है, वहाँ उसकी जागृति है आनन्द जागृति। जो षट्चक शंखावृत्त में विन्यस्त है, उस षट्चक्र का अक्ष (सुषुम्ना-चित्रा-वज्रा नाड़ी रूप से) है आनन्द। मुख्यतः जिस अक्षाश्रय का जीव-आयतन में प्राणन चल रहा है और साधन में विशेषतः चलता है, वह भी आनन्द है (फलरूप से)। यदि प्राणन को फल कहें, तब अणन् (प्राणन से अणन् अलग किया) है क्रिया। प्राण है कारक।

२९. प्राणस्य प्राणत्वात् ॥

इसलिये आनन्द प्राण का भी प्राण है ॥

क्रिया-कारक-फल, इन तीनों को प्राण् की ही त्रिधा वृत्ति के रूप में देखा गया है। किन्तु प्राण स्वयं क्या वस्तु है ? परवर्त्ती ग्रंथ में 'प्राणपाद' विशेषतः सन्नि-वेशित तथा विवेचित हुआ है। पाश्चात्य विज्ञान की Life अथवा Vital Energy' में यान्त्रिकता के (Machanistic Theory) कवल में कवलित होकर 'अत्य-तिष्ठद्दशांङ्गुलम' ! केवल यही नहीं ! जो जड़ का आदर्श प्राण को आच्छन्न कर ले रहा है, वही जड़ यदि दो दिन बाद कहे "मैं प्राण हूँ। तुम्हारे जितने भी 'फारमूले' थे, उन्हे 'निर्मोक' करते हुये, अन्यथा करते हुये मैं बाहर आ गया"। इस स्थिति में

आश्चर्य बोध नहीं करना चाहिये। किन्तु प्राण को भी अपने प्राण अथवा स्वरूप आनन्द का बोध कब होगा ?

क: प्राणाद् यदि न स्याद्वै भूमाकाशः सुखात्मकः।
प्राणस्य प्राणता यस्मात्ततोऽस्य सर्वनाभिता ॥१५२॥
क्षोभजन्यक्रियात्वेऽपि नानन्दान्यत्ववृत्तिता ॥१५३॥

यदि आनन्दब्रह्म के मूलस्पन्द क्रियारूप को 'अणन' कहें, तब विश्व में प्राणापानादि 'फलित' व्यापाररूप को प्राणन् कहा जायेगा। किन्तु मूलस्पन्द रूप से देखने पर और फलित व्यापाररूप को देखने पर श्रुति तथा अनुभव ने कहा है "आकाश आनन्दो नस्यात्'। आनन्द भूमाधाररूपेण सर्वाधार में है, अत: एक अणु भी तभी स्पन्दित हो रहा है। विश्व में किसी निगूढ़ मर्म में पुलक की सिहरन है, तभी न विश्व में इतनी हिल्लोल है ! आत्मदृष्टि से विचार करो। इस विश्व के अणु-महान में ओत-प्रोत अणन-प्राणन् का प्राण स्वयं आनन्द ! अत: आनन्द सर्वनाभि है। आनन्द ब्रह्म का भूमा-सर्वात्मा-सर्वभावन-सर्वहृद्-सर्वनाभि प्रभृति पंचरूप सर्वत्र प्रदर्शित हो रहा है।

शंका हो सकती है कि अणन-प्राणनादि समस्त हैं क्षोभवृत्ति किन्तु वह क्षोभ है आनन्द की इस पंचधा सर्वता के आधार में क्षोभ। जैसे निस्तरंग महोदधि में लहरीमाला। अत: इस क्षोभ से आनन्द की अन्यतापत्ति नहीं होती, आनन्द भिन्नवृत्ति भी नहीं होती। अर्थात् क्षोभरूप से भी आनन्द अपने से भिन्न कुछ नहीं होता ?

व्यवहार में, विशेषत: विज्ञान के व्यवहार में क्षोभ को अन्यरूपापपत्ति रूप (as strain) उपलब्ध किया गया। अन्यरूप-अन्यता से नहीं। जहाँ क्षोभ है वहां संक्षोभ (as stress) परिलक्षित होता है। अर्थात् रूपान्तरित पुन: स्वरूप में जाना चाहता है। जैसे स्प्रिंग, खीचने के पश्चात् पुन: पूर्ववत्। यह स्थिति सर्वत्र विद्यमान है। फलत: क्षोभ-संक्षोभ का अनुपात (Ratio) सर्वत्र दृग्गोचर होता है। परिणामस्वरूप सर्वत्र ही है स्थिति-स्थापकता (कास्मिक इलैस्टिसिटी)। आनन्द के समस्त नाभियों में रहने के कारण समस्त क्षोभ भी आनन्द में प्रत्यावृत्त होने लगता है। जपादि साधन में यह अन्तहीन प्रत्यावृत्ति (Returning) है। जैसे साधारण उद्वेगभरी जागृति जब निरुद्वेग आनन्दघन सुषुप्ति में चरम परिपूर्ण रूप धारण करती है, तब उसे समावृत्ति कहते हैं। एक रेणु भी अपने स्थिति रूप में अपनी आनन्दनाभि में ही स्थित है। वह जब चंचल, क्षुण्ण होती है, तब वह अपनी खोयी हुई स्थिति को पुन: प्राप्त करने के लिये खोजती-फिरती है ! इस खोज का अन्त ही नहीं है, जब तक परमा स्थिति में, आनन्द कैवल्य में वह नहीं आ जाती ! अत: मूल तथा स्वभाव में विश्वक्षोभ होने पर रसलाभ है और यह विश्वक्रीड़ा ही भुवन-

क्रीड़ा हो जाती है। Cosmic stress is Cosmic yearning; Cosmic Vibration Cosmic Thrill.

३०. रसतमत्वाच्चेति ॥

क्योंकि प्राणों का जो प्राण है, वह रसतम है ॥

कतिपय श्लोको में इस रसतम का किंचित संधान प्राप्त करने की आकूति हो चुकी है, प्रथम दो में सगुण साकार भाव :—

> **कोऽयं कालीयनागो विततशतफणः कश्च कालीयकूपः**
> **कास्ता गोगोपगोप्यो विषमविषवशात् शुद्धसंवेदना याः।**
> **कालिन्दीकूलचारी मधुरमुरलिकानादसञ्जीवनेन**
> **सन्धाय ह्लादिनीं को मथितफणिफणः संविदा नृत्यशीलः ॥१५४॥**

जो कालीयनाग सौ फणों का विस्तार करता है, वह कौन है ? उसका निवास किस कालीय कूप में है, और उस कालीयहृद् का जल तृष्णातुर स्थिति में पान करके जो गो-गोप-गोपी विषम विष से संज्ञाहारा हो गये थे, वे कौन है ? और कालिन्दी कुलचारी वह नटवर किशोर कौन हैं, जिन्होंने अपने चरण सरोज तल से कालीय फण धारा का सौ फन मथित करते हुये और मधुरमुरली निनाद की संजीवन सुधा भरते हुये नृत्यशील मुद्रा धारण किया था ? किशोर नटवर के उस मुरली नाद में किस रसतमा का सन्धान मिला था ? वह रसतमा हैं परम आनन्द धन पुरुष की प्राणों की प्राण ह्लादिनीसार ! उस महाभावानुग भाव का संविद में सन्धान किया था। कालीय विष के स्तब्ध संवेदन से गोप-गोपी-गो में निगूढ़ा ह्लादिनी के साथ संविद् की सन्धिनी रूपा है मुरली ध्वनि ! यह रसतम द्वारा अपनी रसतमा को जगाने वाली लीला अहरह चल रही है। कालीय को, उसके आवास को, उसके वितत शत-फण को पहचान लो। अपनें में ही पहचान लो। गो-गोप-गोपियों को भी पहचान लो। विषम विष और उसकी स्तब्ध संवेदन की दशा का भी विचार कर लो। मधुर मुरलीनाद को 'नाम' में सुनें बिना, अर्थात् संधिनी का सन्धान मिले बिना, हमारा जो ह्लादिनी संवित् है, वह स्तब्धसंवेदन के किसी अतल तल में निमज्जित रहता है, उसका तो पता नहीं मिलता। गो—गोप—गोपी को नाना प्रकार से स्वयं में मिला लो ! जैसे गो=वाक् गोप=वाक् का छन्द, गोपी=वाक् की भावानुगा, रागानुगा वृत्ति !

तत्पश्चात् :—

> **को रामः सानुजो यो दशरथतनयः शोभनाकान्त ऐच्छ**
> **ल्लङ्काधीशं निहन्तुं दशवदनमरिं दम्भिनं चात्मवध्यम्।**
> **सीतारामौ भजन्तं सुविमलयशसं वेत्ति कोवा कपीश**
> **मद्यश्वीनं किमेतद् यदघटनघटनं प्राक्तनं शाश्वतं किम् ॥११५॥**

शोभनाकान्त (सीताकान्त) दशरथतनय, अनुज लक्ष्मण के साथ राम कौन है ? जो राम दाम्भिक, आत्मवध्य लंकाधीश दशानन के अरि हैं उन्होंने उसे मारने की इच्छा किया था ? और सीताराम युगल के एकनिष्ठभजनशील सुविमलयश वे कपिश्रेष्ठ कौन हैं ? और रामचरित में जो अपूर्व अघटनघटन है, क्या वह आजकल का (अद्यश्वीन) है, पुराकाल का (प्राक्तन) है, नित्य चिरन्तन (शाश्वत) है ? यह सब क्या सोच रहे हो ? क्या यह सब पौराणिक कथा, ऐतिहासिक घटना अथवा नित्य के जीवन की–नित्य की छवि है, किंवा नित्य शाश्वत जीवन भूमि की मरमी वार्त्ता है ? यदि अंतिम दो दृष्टि से देखना चाहो, तब रामलीला किसी जीवन का दृश्यमन्च, किसी प्राण का प्रेक्षागृह है, कैसे देखोगे, विचार करो ।

दशरथ शब्द में किस तत्व का इंगित है ? और दशानन ? दशानन आत्मवध्य क्यों ? अध्यात्मरामायणादि में तथा कतिपय उपनिषद् में तथा सन्तसदगुरु मुख में, रामचरित मानस में, यह अपरूप भाव से प्रकट हो रहा है । पहले जप साधन में कपिश्रेष्ठ की अपने इष्ट नाम के जप में रत श्वासवायु रूप से भावना करो । 'लं' यदि पृथ्वी बीज है, अर्थात् वह भूमि है जहाँ सृष्टि धारा उतर आती है, तब वहाँ जो कुण्डली का निद्रित रूप है, उसे पकड़ूँगा । लं = कुण्डलिनी । अब 'क' रूपी व्यंजनमुख आनन्द की स्वकला रूपा आनन्द कला को जो पकड़कर कुण्डिलिनी रूपी निद्रा में अवस्थित रखती है वह है 'लंङ्का' । लं अथवा लय स्थल में 'का' कौन है ? इस अवस्थिति में साक्षात् आनन्दकला कुण्डिलिनी रूपा होकर अशोकवन में बन्दिनी हैं (साक्षात् आनन्द संवित् अथवा ह्लादिनी संवित होने पर भी निद्रिता हैं) । वे प्रसुप्ता हैं तथापि स्वरूपतः शोक रहित हैं । विशेषतः स्थूल में तथा वैखरी रूप में ही यह निद्रा है । स्थूल में इन दशइन्द्रिय तथा उनके चालक मन का ही अधिपत्य है । इसे अपराप्रकृति भी कहते हैं ।

मानस की 'अव' तथा 'उच्च' भूमि का वर्णन बारम्बार किया गया है । इन दोनों के साथ मानस अथवा चेतना की तीन भूमियाँ होती है । यदि मानस को दशानन रावण कहें तब यह 'अव' एवं 'उच्च' भूमि ही उसके सहोदर हैं । पुनश्च, स्थूल में मानस की इन्द्रिय युक्त जो वृत्ति है, वह जिस प्रकार से इस भूमि में ही व्याप्य तथा व्यापन योग्य है, उसी प्रकार उस मानस का प्रभाव केवल व्यक्त स्थूल गोचर भूमि में ही सीमित (Restricted) नहीं रहता । सूक्ष्म में, कारण में तथा सन्धि में भी इसका प्रभाव रहता है । अर्थात् स्थूल में मानस की जो वृत्ति है, वह केवल स्थूल में ही नहीं रह जाती, वह इन तीनों (चेतना की भूमियों) में संस्कार तथा बीजादिरूप से व्यापारवती हो जाती है । अतः उर्ध्व मानस की जो शुभ सन्धि है, उसकी उपेक्षा के कारण मन की जो वृत्ति होती है, उसके ही कारण लंका में

पूर्वोक्त आनन्दकला निद्रा में सार्द्धत्रिवलयाकृति (सन्धि = अर्ध) है। इसे आभ्यन्तरिक दृष्टि से देखो।

यहाँ निखिल नाभि में जो परम आनन्द 'रम्' बीज रूपेण अधिष्ठित है वह क्या करता है ? 'यम्' इस हृदयस्थ वायुबीज का आश्रय लेते हुये 'वम्' अथवा वरुण बीज का अतिक्रमण करते हुये (समुद्रलंघन) लम् का (अपनी निद्रिता आनन्दकला रूपिणी कुण्डलिनी को) उद्धार करता है। अपनी आनन्द कला 'आ' से मिलित हो कर 'रम्' ही राम हैं। रम् बीज में जो अम् है, वह वरुण बीज 'व' को सम्प्रसारित उकार रूप से मिलाकर होता है 'ओम्'। वैखरी भूमि में प्रसुप्त नाद-विन्दु-कला-अर्धमात्रा का (सेतु या सागर) व्यवधान पार करके पश्यन्ति में आओ। इस प्रकार चिन्तन करते हुये रामचरित रस को अपने मानस में प्रस्फुटित करो ! अथच, क्या यह रामचरित केवल रूपक है ? नहीं, ऐसा नहीं !

विश्वं चञ्चल्यते वा चिचलिषति कुतो वापि वोभोति भूतं
विश्वं तेष्ठीयते वा जिगमिषदपि वा केन तिष्ठासतीतम्।
विश्वं शाशय्यते क्वाऽप्यधिशिशयिषते किं वनीवञ्चित किन्नू
विश्वे जाजायमाने यदधिकरणता सा पनीपत्यमाने ॥१५६॥

विश्वं चञ्चल्यते (बारम्बारं चलति) वा (अथवा) चिचलिषति (चलितुमिच्छति) कुतः (कथं कुत्र वा, कस्तत्र हेतुः को वा आधारः ?) सदा चञ्चल्यमानमपि विश्वं कथं पुनश्चलितुमिच्छति कस्मिन्नाधारे वा चलति ? खलु रसमनपेक्ष्य कदापीयं चञ्चलता चिचलिषा वा न सम्भवति।) कुतो वा विश्वं भूतमपि (जातमपि) वोभाति (वोभवीति बारम्बारं भवति सकृद्भावे अतृप्यदिव ? सकृद्भावे अतृप्यमाणमिव विश्वं रसमेव अनुसंधत्ते।) विश्वं तेष्ठीयते वा (बारम्बारं तिष्ठति) जिगमिषदापि (गच्छमिच्छदपि) (किं तत्-रसलालसया ?) केन तिष्ठासतीतं (केन हेतुना इतं यातमपि तिष्ठासति स्थातुमिच्छति ? किं तत् प्राप्तमेव रसलेशं भूय आस्वादयितुम् ?) विश्वं शाशय्यते क्व (पुनः पुनः शेते कुत्र ? प्रलयादिषु अस्माकं सुषुप्ताविव आनन्दभुक् ननु भवति ?) किमपि अधिशिशयिषते (किमधिकृत्य किमुद्दिश्य वा शयितुमिच्छति ?) वनीवञ्चित किं वा (नु) किंवा बारम्बरं वञ्चयते ? गमनशयनादि—सकल व्यवहारेषु रसलिप्सु विश्वं मनाक् रसभूगपि आत्मानमेव वञ्चयते बारम्बारं भूमत्वस्य अनुपलब्धत्वात् कालश्चापि वञ्चयते विश्वं दूष्पूरसलिप्सायास्तस्य कालेनानवच्छेदात्।) विश्वे जाजायमाने (विश्वे बारम्बारं जायमाने) यदधिकरणता (या अधिकरणता, यमेव रसमानन्दमधिकृत्य जायमानता) सा (अधिकरणता) पनीपत्यमाने (अपि विश्वे इति शेषः) (विश्वे बारंबार प्रलयादिषु पतत्यपि स रस आनंद एवाधिकरणम्) ॥

विश्व चंचल चरणों से केवल चलता जा रहा है, उसकी चलने की आशा नहीं मिटती, वह पुनः चलना चाहता है। क्यों? उसकी यह चिरचचंलता किस अचञ्चल रसतम के अभिसारार्थ है। यह तो वही है (भूतं), यह होने पर भी उसकी साध नहीं मिट रही है और वह बारम्बार चलता ही रहा है (वोभोति) क्या वह अपने रसतम से वर माँग रहा है "हे अजस्त्र रस सागर ! एक जन्म में तुम्हारे एक कण के आस्वादन से तो मेरी आशा ही नहीं मिटी, मुझे अपने भक्त रसिकों के समान बारम्बार जन्म लेने दो, तब बारम्बार नव-नव आस्वादन में तुम्हारे साथ महारास में मिलता रहूँगा।" यह चाहने पर भी बारम्बार 'थमक' कर खड़ा हो जाता है? पुष्पकलिका से मधुकर कलिकान्तर की ओर (दूसरी कली की ओर) उड़ जाता है, तब भी वह पुनः उड़-उड़कर बैठ जाता है। क्यों? मधुर का निविड़ संग करने की उसकी लालसा अभी भी नहीं मिटी है तभी? अतः चले जाने पर भी वह पुनः लौट-लौट कर आ बैठता है (इतं तिष्ठासति)। क्यों? किसी अनास्वादित रस के कुहुक हेतु?

विश्व चलते-चलते बारम्बार अपने निर्विशेष मार्ग पर घूमन्त हो जाता है। किन्तु उसके निद्रित होने का स्थान कहाँ (क्व) है? उसकी मार्गक्लान्ति किस सुषुप्ति के निबिड़ रस में डूबकर नव होना, क्लान्तिहीन होना चाहती है? उसकी यह निंद्रा ! निंद्रा की साध किस में, क्यों (अधिशिशयिषते किम्) ? तदनन्तर उसका यह निरन्तर पथचालन, चलते-चलते रुकना अथवा वापस लौट आना, क्लान्ति से आच्छन्न होकर सो जाना, सबके अनन्तर भी रसतम को नहीं पा सका। निद्रा में, स्वप्न में, ध्यान में कैसे प्राप्त हो, इसी आशा से यह सब करके वह देखता है कि "मैं तो केवल वञ्चना में हूँ, किन्तु, किसकी (वनीवङ्क्ति किं नू)? स्वयं की अथवा किसी की? ऐ वांच्छित के, रसतम के, अभिसार के वञ्चित पान्थ ! क्यों भूलते हो? जिस परम आश्चर्य आधार में बारम्बार तुम 'हुये' हो (जाजायमान) उसी परम आश्चर्य आधार में तुम बारम्बार आ पड़ते हो (पनीपत्यमान)। जहाँ से आये थे, हुये थे, वहीं से पुनः लौटे। उस स्थान को छोड़कर 'पादमेकं न गच्छसि' ! वही आनन्द, रसतम ही तुम्हारा चिरकांक्षित है।

समारम्भकसंबन्धा कालनिमित्तका हि या।
संयोजकञ्च बध्नाति बाधा देशनिमित्तिका ॥१५७॥
सर्वं संङ्गच्छते येन संग्राहकः स वै मतः।
तं बध्नाति या बाधा छन्दोवैयर्थ्यहेतुका ॥१५८॥
वस्तुस्वभावनिष्ठाया बध्नाति सा समापकम्।
बाधा एताश्चतस्त्रो वै बध्नान्ति स्थित्युपक्रमे ॥१५९॥

निरस्येत्तस्थुषी ह्येकां युग्मां तेष्ठीयमानता।
स्थापिका च त्रयीं हन्ति स्थिता तुर्यामपि क्रमात् ॥१६०॥

चक्राद् भ्रमन् भ्रमन् भृङ्गः प्रफुल्लमल्लिकामधू।
पातुं तिष्ठासति स्थाने युङक्तः कालस्तु नो च दिक् ॥१६१॥

स्वच्छन्दः पवनो वा न स्वच्छन्दा नापि स्वा गतिः।
मल्लिकापि स्वभावे न तिष्ठासा सफला किमू ॥१६२॥

मल्लिकां त्वमधुनां गच्छ मा भ्रमीस्त्वमिमस्तः।
मल्लिकामीहते भृङ्ग इत्थं कालेन चोदितः ॥१६३॥

तस्थुषीयं स्थितिस्तस्य दिग्दर्शनमृतेऽपि तु।
जहद्वैलक्ष्यलक्ष्यत्वे तेष्ठीयमानता भवेत् ॥१६४॥

असकृत कर्णिकाकेन्द्रं विशन् निविशते न तू।
पेपीयते मधुन्यस्तस्ततोऽपि निविवृत्सति ॥१६५॥

स्वभावो मधुपस्यायं मधुस्वभावतो यदा।
जह्याद् विषमतामद्धा स्यात्तदा स्थापिका स्थितिः ॥१६६॥

प्रसीदति पुरः कालस्ततो दिक् च प्रसीदति ॥१६७॥

प्रसीदति ततश्छन्दः स्वभावः सम्प्रसीदति।
आसम्प्रसादमेवास्य स्वभावस्य स्वभावनम्।
सम्प्रसन्नः स्वभावोऽयं परं दृष्ट्वा निवर्त्तते ॥१६८॥

तस्मिन् निवर्त्तमाने हि भाति यत्तत्त्वतः स्थितम्।
क्रियाकारकफलासंङ्गात् समापकः समाप्यते ॥१६९॥

व्युत्थाने च समाधाने न च्योतति स्थितिः स्थिरा।
आसीनमयते दूरमित्यादीनां समन्वयात् ॥२७०॥

दो वस्तु अन्योन्ययाभावेन सम्बद्ध हैं। यह तीन लक्षणों द्वारा ज्ञात होता है। प्रथमतः उनका साहचर्य। द्वितीयतः एक का दूसरे के रूप में रूपान्तरित होने का सामर्थ्य। जैसे वैज्ञानिकगण टेलिफोन नामक यन्त्र का आविष्कार करते समय यह उपलब्धि कर सके थे कि उसके द्वारा शब्दतरंग तड़िततरंग के रूप में परिवर्तित हो जाती है और पुनः ताड़ित तरंग उस व्यक्ति को श्रुतिगोचर होती हैं, जिसने दूसरी ओर रिसीवर पकड़ रक्खा है। उस व्यक्ति को श्रुतिगोचर होते समय तड़ित तरंग पुनः शब्द उर्मिरूप में रूपान्तरित हो जाती है। इससे शब्द (ध्वनि) तथा तड़ित का अन्योन्यसम्बन्ध स्थापित तथा सूचित होता है। तृतीयतः यह परिलक्षित होता है कि जिनका अन्योन्य सम्बन्ध है, वे एक दूसरे के (परस्परतः) उत्पादक अथवा जनक भी हैं। यह उपरोक्त दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट हो जाता है।

इसी प्रकार से जप में ज्योतिः तथा रस का अन्योन्य सम्बन्ध है। जप करते-करते कभी आलोक का आविर्भाव होता है उसके द्वारा जप का अन्तर्निहित अर्थ स्फुरित होने लगता है और साथ ही एक पुलक चित्त को स्निग्ध कर देता है। मानों यह आलोक तथा पुलक दोनों ही साथ-साथ चित्त को स्निग्ध करने लगते है। इस आलोक तथा पुलक की दो धारायें पास-पास बहती रहती हैं और ये क्रमशः निकट होते-होते एक क्षेत्र में जाकर अन्यन्यता को प्राप्त होकर अभिन्ना हो जाती हैं। यहाँ ज्योति ही रस है और रस ही है ज्योतिः। यहाँ आलोक-पुलक का, ज्योति-रस का पारस्परिक भेद हो ही नहीं सकता। अतः इस अनन्यता की जहाँ पर काष्ठा अथवा सीमा (चरम सीमा) है, वहीं है अनन्यता !

अब यह देखना है कि अभ्यारोह क्या है ? जिस अन्योन्यसम्बन्ध का उल्लेख किया गया है, साधारणतः जप के क्षेत्र में इस सम्बन्ध का अनुपात सर्वत्र समान भाव से रक्षित नहीं होता, प्रत्युत् अन्योन्यता के परिवर्त्तन में एक अनन्योन्यत्व और अन्यत्व का आविर्भाव होने लगता है। मानों ज्योति तथा रस परस्परतः विच्छिन्न हो जाते हैं और एक के आविर्भाव में दूसरे का कोई अस्तित्व ही नही मिलता। जैसे जप करते-करते अनेक साधक एक आनन्द का स्पर्श प्राप्त करते हैं किन्तु उस सुखस्पर्श के नशे से इतने आविष्ट हो जाते हैं कि उसी में डूबकर पड़े रह जाते हैं। वे पुलक में ही विह्वल होकर मग्न से हो जाते हैं। उनमें आलोक का आविर्भाव ही घटित नहीं होता। मानों आलोक वहाँ से भूमि के अभाव में तिरोहित हो जाता है। अतः वह रस उज्वल रसन होकर भी मलिन तथा स्तब्ध रस के रूप में परिलक्षित होता है। अनेक साधकों में यद्यपि जप के प्रभाव से किंचित प्रकाशाविर्भाव हो भी जाता है, तथापि वह एक प्रकार से शुष्क प्रखर प्रकाश ही है। वहाँ सरसता का प्रवाह मानों अवरूद्ध है, अतः प्रकाश की स्थिति नीरस, शुष्क तथा प्राणहीन सी रहती है।

इन सब क्षेत्रों में ज्योतिः तथा रस के गाढ़ प्रणय तथा मैत्र का पूर्ण अभाव रहता है। इस मैत्र के अभाव का फल यह है कि रस में मान्द्य तथा मालिन्य रहता है और दूसरी ओर ज्योति नीरस तथा रुक्ष रहती है। यह मन्द तथा मलिन रस किंचित सुख तथा प्रेय का कारण होने पर भी श्रेय का कारण नहीं है। इसके उपभोग में किंचित् सुखावेश प्राप्त होने पर भी वह श्रेय लाभ का परिपन्थी है, अतः वर्जनीय है। इसीलिये प्रयोजन है इन दोनों का मैत्र कराना और साधन पथ पर अग्रसर होना। श्रुति ने भी गायत्री तथा मधुमति ऋक् के एक-एक चरण को आस-पास सजाकर इस मैत्र साधन की ओर इंगित किया है। ज्योति तथा रस की पारस्परिक विच्छिन्नता, अनन्योन्यता तथा पार्थक्य और अन्यता दूर करके जो उनकी अनन्यता लाये उसका नाम है अभ्यारोह। इस मिलन के फल से रस उर्जित तथा उज्वल हो उठता है। प्रेम का उद्दीपन तथा उपनिषद् की द्युति का विकिरण इसी स्थिति में

होता है। नव पुलक की सीमा ही नहीं रहती। श्रीभगवान् के लीला कीर्त्तनादि सुनते-सुनते भी अनेक बार एक अपरूप पुलक का संचार देखा जाता है और महाजनों द्वारा रचित पदावली के अन्तर्निहित अर्थ के उद्भावन की स्थिति मानों एक परम प्रकाश में चित्त को निमज्जित कर देती है!

अभ्यारोह जप होने पर स्थिति स्थापकता अर्थात् चित्त की स्थिति में आरुढ़ता होने लगती है। इस स्थिति के अनेक सोपान अथवा पर्व हैं। प्रथम है 'तिष्ठासन्ति' अवस्था। इस अवस्था में स्थिति के लिये एक प्रवणतामात्र परिलक्षित होती है। स्थिति की अभिलाषा चित्त में सर्वदा उदय होती रहती है। घूमते-घूमते क्लान्त होकर कुछ विश्रान्त होना चाहती है। इसके अनन्तर द्वितीय भूमि में 'तस्थुषी' अवस्था है। यहाँ मानों बैठ जानें की इच्छा होती है। यहाँ केवल स्थिति की इच्छा ही नहीं है, प्रत्युत स्थिति के लिये अनुकूल क्रिया भी चलती है। मानस क्षेत्र से अब इच्छा की गति वास्तविक कार्य क्षेत्र में क्रिया में परिवर्त्तित हो जाती है। इसी के पश्चात् तृतीय भूमि में 'तेष्ठीयमाना' स्थिति है। यहाँ भ्रमर ने मधु का आस्वादन पा लिया है और उड़ कर भी पुनः—पुनः पुष्प के केन्द्रीण कोरक पर आ बैठता है। अभी भी स्थिति परिपक्व नहीं है अभी वह चंचल ही है। अतः वह भ्रमर की भाँति उड़ती है और पुनः वहीं स्थित हो जाती है। अर्थात् अभी भी स्थिति से च्युति ही है।

यद्यपि अब स्थिति अत्यन्त घन है तथापि बीच-बीच में इसमें एक अन्तराल आ जाता है। अभी भी स्थिति निरवच्छिन्न नहीं है। इसके अनन्तर चतुर्थ भूमि में 'स्थापिका' स्थिति का द्योतन होता है। अब स्थिति दृढ़ हो जाती है। वह भंग नहीं होना चाहती! च्युति के भय से पूर्णतः मुक्त है। इस भूमि में स्थिति की दृढ़ता अब क्रिया द्वारा निष्पन्न है। यहाँ स्थिति के लिये एक कर्त्तृत्व अथवा कारयितृत्व का प्रयास है। यही 'स्थापिका' स्थिति द्वारा सूचित होता है। मानों स्थिति की यह Permanence अथवा स्थिरता एक प्रतिकूल शक्ति समूह को 'दबाकर' रख लेती है। अतः इसे आयास-प्रयासहीन, अनायास स्थिति नहीं कहा जा सकता। इसमें अभय नहीं है। यही कारण है कि इस भूमि से भी उर्ध्वोत्थित होकर पंचम भूमिस्थ 'स्थिता' स्थिति में पहुँचने पर स्थिति निरापद स्थिरता तथा पूर्णत्व को प्राप्त करती हैं। वहाँ की स्थिति स्थापित अथवा सम्पादित स्थिति नहीं है। यह है स्थिति-स्थिति Resting Rest. यहाँ यह स्थिति नित्य वर्तमान है। प्रयोजन इतना ही है कि इस स्थिति में आरूढ़ हो जाओ। तभी यह स्थिति, स्थिति-गति रूपी द्वन्द्व वाली स्थिति नहीं होगी। इसका विरोधी है ही नहीं। यह समस्त द्वन्द्व से उर्ध्व है, नित्यास्थिति शाश्वती स्थिति है। यही है स्थिति की चरमता-परमता।

इस स्थिति लाभ के प्रयास का प्रारम्भ होते ही चरम बाधायें मार्गावरोध-करने को तत्पर हो जाती है। प्रथमतः कालजन्य बाधा स्थिति के अनुकूल क्रिया का

प्रारम्भ ही नहीं होने देती। स्थिति के लिये जो प्रयास किया जाता है, उसे एक विशिष्ट काल की अपेक्षा रहती है। जैसे काल की परिणति द्वारा जब मनुष्य यौवनावस्था की प्राप्ति करता है, तभी उसमें एक अव्यक्त अभिनव क्षुधा अथवा रिरंसा का प्रस्फुटन हो जाता है। इसी प्रकार से आध्यात्मिक जीवन में भी काल की परिणति द्वारा एक विशिष्ट अवस्था आ जाती है। इसके प्रभाव से ब्राह्मी स्थिति के लिये एक अदम्य बुभुक्षा और आत्मा में रमण हेतु एक सुतीव्र अभिलाषा का उदय स्पष्ट हो उठता है। अतः उपयुक्त काल की प्रतीक्षा करना ही होगा। यथोपयुक्त काल के अभाव में अध्यात्म जीवन की सूचना ही नहीं मिल सकती। मधु संग्रहार्थी भ्रमर भी यथोपयुक्त काल में हो मधु के अन्वेषणार्थ उद्यत होते हैं, अन्यथा उसके लिये व्यर्थ भ्रमण का श्रम ही हाँथ आता है। वह पुष्प से पुष्पान्तर पर खिली हुई उत्फुल्ल मल्लिका का मधुपान करने के लिये भ्रमण करता है, और अन्त में यथास्थान मधुयुक्त पुष्प पर बैठ जाना चाहता है? किन्तु चाहनें मात्र से क्या होगा? काल अथवा दिक् का योगायोग जो नहीं हैं। पवन भी अनुकूल तथा मन्द-मन्द वहमान नहीं है। उसकी अपनी गति भी स्व छन्द में नहीं है, यहाँ तक कि मल्लिका भी अपने स्वभाव में नहीं है। उसने अभी भी अपने अन्तर के मधु भण्डार को उन्मुक्त हों नहीं किया है। उसका पूर्ण प्रस्फुटन ही नहीं हुआ हैं। मधुकर के बैठनें की आशा कैसे मिटेगी? क्योंकि उसकी यात्रा का प्रारम्भ ही अशुभ लग्न में हुआ था! अतः वैफल्य अवश्यम्भावी है। इसी प्रकार अनेक साधक क्रम परिणति की अपेक्षा न रखते हुये यथोपयुक्त काल आनें के पूर्व ही, स्थिति के लग्न को जाने बिना, स्थिति प्राप्त करने के लिये वृथा श्रम करते क्लन्त-श्रान्त होते रहते हैं।

काल ऐसे करे गेल दूतियाली
मधु मिलनेर चितमल्लिकार बुके।
कोन् मुखे कोन् पथ धरि चलि?
पियासी मधुप पान्थ चाय दिके-दिके ॥१॥

सुप्रसन्ना दिक् एल अग्रदूती
शुभ लग्ने देखाइल सरल सरणि।
सरल सरणि—विषम पवना,
केमने मिलाब वाय निश्चित चलनी ॥२॥

कुटिल सरणि करिले सरस
रसतम प्रिय पाने भोर-अभिसार।
क्षुरधार क्षेपा निशित पवने,
तवू असंभव करे तोल बार-बार ॥३॥

विषमेरे दाओ सुषम छन्दे
वाय अनुकूल मन्द सुमन्द वहना ।
लगन मधुर, सरणि सुन्दर
मधुाथिकाय कर स्वच्छन्द गमना ॥४॥

प्रसन्न लगन सुप्रसन्ना दिक्
पवनेओ मधुच्छन्दा शिखाईले मन्त्र ।
तबु तो आमार आपन स्वभावे
लुकाइले कत कुण्ठा शंका कत द्वन्द्व ॥५॥

सब प्रसादिले आमार कारणे
मोर आपन प्रसादे राखिले वञ्चित ।
अकुण्ठ आकूति अझोर आश्वासे
मोर आपनारे कर प्रसादसिञ्चित ॥६॥

कृपण कुण्ठित छाड़िया अध्रुव
से परम रसतमें एकान्त विश्राम ।
स्थिता स्थिति शूधू स्थापिकाय नय
स्वभावेर स्वभावन बिना शूधू नाम ॥७॥

यत काम यत आशा ओ आयास
सकलेर समापिका निजे समापन ।
सकल निर्झर सकल तरिनी
समापिया महासरितेर सिन्धु स्नान ॥८॥

कभू गरंगित निस्तरंग कभू
जागर स्वपन किंवा धेयान समाधि ।
कर्म कोलाहले, मग्न मौनरसे
विपूल गभीर दीप्त शान्त निरवधि ॥९॥

मधुमत्तम हे आमार स्वामि
मधुरेर अभिसारे आलोर दिशारी ।
तोमारि अनन्ते करुणा प्रसाद
टेले दाओ करे नाओ एकन्त तोमारि ॥१०॥

सर्वं शून्यं ब्रुवन्तः किमधिकरणतां ब्रूयुराधेयतां वा
सर्वं दुःखं लपन्तोऽनुभवविषयतामात्मनोऽनात्मनो वा ।
सर्वं स्यन्दि ब्रजन्तः क्षणिकचपलतां वीचिभङ्गेऽर्णवे वा
सर्वमात्मेत्यटन्तो विगतविमतयो यान्ति निर्द्वन्द्व-सौख्यम् ॥१७१॥

से कोन जादूकर विश्व इन्द्र जाल जाहार आजब रचना ?
शुन्य नाम तार ? कोथा कोरे राखि, केमन केन वा बल ना !
आनन्द दीपाली, क्षण प्रभा घटा, निर्वाण चिरतमसाय ।
सुखेर बुद्बुद्, दुःखेर सायरे, सवे फूटी सद्य भेङ्गे जाय ।।११।।

दुःख शूधू सत्य, दुःख शूधु नित्य-तबू से दुःख अनुभव ?
'आनन्द आकाश' आधार आत्मा-ताय छेड़े कभू सम्भव ?
निखिल भंङ्गुर, निखिल स्यन्दि, भांङ्गा गढ़ा अन्तहीन ।
एई अविराम, विश्ववीचिभंङ्ग, कोन समुद्रे उदिया लीन ? ।।१२।।

सत्य, ज्ञान, आर अनन्त आनन्द-भूलिया आत्माय भूलिले ।
अविश्रान्त शोक-तरंग-प्रहृत, शून्येते निःशेष मागिले ।
द्वन्द्व क्रमागत भङ्ग निस्तरंग-ताय पेते चाओ प्रशान्ति ।
विगत विमति भूमसुखरूप ? तेयाग निजबोधे भ्रान्ति ।।१३।।

इस कारिका द्वारा सत्-चित् सुख स्वरूप विश्वबोध के परमाधार का वर्णन किया गया है । वह परमाधार है निजबोधरूप आत्मा । शून्य, दुःख, अनात्मा, अध्रुव इत्यादि कुछ भी कहने पर इस परमाव्यक्त परम प्रकाश निजबोधरूप आत्मा का अपलाप संभव नहीं हो सकता। विरुद्ध भावों के परिहारार्थ जो गहन दुर्गम विचार-सरणि चल रही है वह बहुमुखी होने पर भी चल रही है, उस पग-पग पर विभ्रम संकुल सरणि का अनुसरण वर्त्तमान में नहीं किया जा रहा है । इस ग्रन्थ में यथा-स्थान पर शून्य आदि का विवेचन वर्णन हुआ है । सर्व संदिग्ध तथा सर्व अध्रुव में से असंशय तथा ध्रुव सत्य का (द्वन्द्वरहित आनन्द उपलब्धिरूप से) सन्धान करना ही होगा, यह निर्देशित किया गया है । जो निजबोध (इमिडियेट सेल्फ इक्सपीरियन्स) विचार की भूमिका के लिये आवश्यक आधार भूमि है, वह भी प्रदर्शित की गयी ! विमतिमत्तता को छोड़कर उस परम निजबोधरूप आधार में भ्रान्तिहीन विश्रान्ति तथा क्लान्तिहीन प्रशान्ति को प्राप्त करो ।

पंचम अध्याय

यहाँ पर प्रथमतः ज्ञान की भित्ति में ज्ञान-ज्ञेय तथा ज्ञाता का निरुपण किया जा रहा है ।

१. अस्तीति-प्रतीतिगोचरतानिधानत्वं चैतन्यस्य भानत्वम् ॥

चैतन्य का 'अस्ति' रूप से प्रतीतिगोचरता का निधान अथवा आधाररूप है भान ॥

लक्षण यह लक्ष्य करता है कि 'अस्ति' इस प्रत्यय की विषयता को 'भान' नहीं कहा जा सकता । यह व्याहृतिसूत्र में 'सत्यम्' है । यहाँ यह शंका होती है कि साक्षात् अथवा गोचर रूप से प्रतीति हुई अथवा नहीं । दूसरे की बात सुनकर अथवा अनुमान करके तो एक तरह की प्रतीति हो जाती है, परन्तु उसमें गोचरता धर्म नहीं रहता । जैसे जप में नाद सुनोगे ! तत्पश्चात् 'नादाभ्यन्तरं ज्योतिः' इस प्रकार से जप फलित होने पर उसके पक्ष में कोई युक्ति मिली, किन्तु इसमें प्रतीति गोचरता तो नहीं है । जब वह प्रतीति गोचरतारूप (नादादि) होती है, तब वह खण्डित रूप नहीं होती । कोई भी प्रतीति ऐसे नहीं होती, इसे पहले भी कहा जा चुका है । एक अखण्ड समग्र चेतना की आधारभूमि में चित्र के समान सब कुछ भासित होता है । उस समग्र चेतन के आधार पट को छोड़कर कोई विशेष रूपादि नहीं रहते । इसे 'चैतन्य का निधान' रूप से सूत्र में कहा गया है । यहाँ इस अखंड समग्र चैतन्य के आधार में 'अस्ति' के आधार में जो प्रतीति है, उसे 'भान' कहा गया ।

पूर्वोक्त वृत्ति सूत्र में अस्ति-भाति,ऋच्छति तथा मोदते की मूल प्रकारता (Radicals) का वर्णन हो चुका है । इन चारों में से 'अस्ति' को भान में भासित होना चाहिये । प्रथम को छोड़कर अन्य कोई भी भासित होने पर भी भान ही है । फिर भी यहाँ 'भान' अन्य संज्ञा भी ग्रहण करता है । अनन्तः 'अस्ति' रूप से चैतन्य का जो प्रतीतिगोचरताधारत्व है, उसे चैतन्य का भावक भान कहा जा सकता है । चैतन्य, प्रतीति प्रभृति लक्षणों की विद्यमानता के कारण यह नहीं सोचना चाहिये कि भान केवल मात्र मानस अथवा आन्तर पदार्थ (सब्जेक्टिव) ही है । ऐसा नहीं है । बाह्य तथा objective विश्व भी भान ही है । बाह्य आन्तर भेद भान की कुक्षि में हैं । वे भान के समग्र रूप को व्याप्त नहीं करते—

भावको भासकश्चापि मापको ग्राहकस्तथा ।
इमे चत्वार एव स्युर्गोचरता-निरूपकाः ।
अन्तनःआदिमव्याप्यवृत्तित्वे मानवृत्तिता ॥१७२॥

जिस प्रतीतिगोचरता का उल्लेख किया गया है, उसके निरूपक हैं भावक, जापक, मापक तथा ग्राहक। इन चारो में अन्ततः प्रथम (भावक) द्वारा जो प्रतीति है, Experience है, वह साक्षात् 'अस्ति' रूप व्याप्यवृत्ति (Subsumed, Covered) ही है। अर्थात् जिस प्रतीति में यह भाव रहता है कि "यह 'है' रूप से "भासित हो रहा है" (सम्मुखीन पर्वत अथवा वृक्ष जैसे 'यह है' रूप से भासित होता है) वहाँ भान वृत्ति है। साक्षात् प्रतीति में 'अस्ति' भाव के विशेषतः वृत्तिमत रहने पर वह भान ही है। इस भान में अनुमर्शादि (एप्रिसियेशन) न रहने पर भी भान के लिये कोई बाधा नहीं रहती। पाश्चात्य मनस्तत्व में Perception तथा apperception रूपी पारस्परिक भेद किया गया है। न्याय आदि में भी व्यवसाय तथा अनुव्यवसाय का पारस्परिक भेद है। सविकल्प तथा निर्विकल्प में भेद है। यहाँ 'यह ज्ञान है', 'ज्ञान की वस्तु अथवा विषय नहीं है' इस प्रकार के भेद को स्पष्ट तथा अस्पष्ट (Explicity अथवा Implicity) कहा जा सकता है।

भान में अस्ति भाव तो रहता ही है, भले ही उसे पूर्वोक्त रूप में ज्ञानरूपेण ग्रहण किया जाये अथवा ग्रहण न किया जाये। भान=Fxperience as given or as fact भले ही हो, तथापि वह ज्ञान-ज्ञाता तथा ज्ञेय रूप से विश्लिष्ट अथवा गृहीत (Taken) न होने पर भी भान ही है। जैसे हमारे समान किसी 'केन्द्र' में वह ज्ञानादिरूप से गृहीत नहीं हो सका, तथापि व्यक्तिसम्बन्ध रहित तथा केन्द्र में संहत न होने पर भी चैतन्य में साक्षात् प्रतीतिरूप से भान विद्यमान रहता है। अतः प्रतीति अथवा Experience को किसी भी केन्द्रसम्बन्ध में देखने पर उसे आन्तर (सब्जेक्टिव) तथा बाह्य (आब्जेक्टिव रीयल) रूप से संकीर्ण दृष्टिकोण द्वारा नहीं देखना चाहिये। भान भूमि में Ideal तथा Real रूपी द्वन्द्व का कोई स्थान नहीं है। जैसे यह वृक्ष। इस सम्बन्ध में भानभूमि में यह प्रश्न समूह उत्थित ही नहीं होते कि यह मेरा है अथवा तुम्हारा, अथवा 'उसके' ज्ञान के बाहर यह क्या है, यदि है तो किस प्रकार से है? भान भूमि में 'यह है'। अब यदि यह कहो कि भानभूमि में चैतन्य की साक्षात् प्रतीति होती है, अतः 'यह है' Idealism, Realism नहीं है, इस स्थिति में यह स्मरण रखना होगा कि चैतन्य=प्रचलित धारणा के समान Ideal नहीं है, और वह प्रचलित धारणा के समान Real भी नहीं है। इन दोनों का ही निधान, मूल है चैतन्य। इस मूल का आश्रय लेकर ही भानरूप अखण्ड काण्ड होता है। इसी काण्ड का आश्रय लेकर ज्ञान ज्ञेयादि समस्त शाखायें हैं। वेदान्तोक्त विषयावच्छिन्न-चैतन्यादि परिभाषा को लक्ष्य करो।

जपादि साधन में अपनी अनुभूतिमों को शाखाभेद से काण्ड में, अभेद-में और ज्ञान से भान में लाना होगा। जबतक शाखाभेद है तबतक केवलमात्र बाह्य तथा आन्तर (Objective तथा Subjective feeling) आदि का ही भेद नहीं रहता। तब

'यह केन्द्र, वह केन्द्र' रूपी भेद (इन्डिवीजुअल फैक्टर) भी रहता है। भानभूमि में इन दोनों भेदों को भी निराकृत कर लो। (निराकृत = Resolve) पहले इन दोनों की तुलना विजातीय-स्वजातीय भेद से करो। निधान तथा अधिष्ठान में इसे 'नहीं' रूप से (No-More) प्राप्त करना होगा। इसकी सविशेष आलोचना के लिये पुनः महामाया सूत्र का चिन्तन करो !

अस्तिभातीत्युभय प्रतीतिगोचरतानिधानत्वं चैतन्यस्य ज्ञानत्वम् ॥
चैतन्य के आधार में जो 'अस्तिभाति' रूपी प्रतीतिगोचरता है, वही है भान ॥

प्रथमतः साक्षात् प्रतीति का 'भावक' (भू = अस्ति) भाव भानभूमि रूप से प्रदर्शित किया गया है। अब है जापक भाव। आधार चैतन्य में अस्तिता-भातिता-प्रियता नित्य है। तथापि उस अधिष्ठान में जो निखिल प्रतीति हो रही है, उसमें अर्थात् उस अशेष प्रतीति के प्रत्यय में मानों चारो भाव अलग-अलग अपना द्योतन करा रहे हैं। ये चार भाव हैं अस्ति-भाति-ऋच्छति तथा मोदते। प्रतीतिरूपी प्रेक्षा-गृह में मानों इन चारो भावों का स्विच (बिजली जलानेवाला बटन) है। प्रथम (अस्ति) का स्विच तो बराबर चालू (On) है। जिस प्रकार से प्रेक्षागृह में सब कुछ है, परन्तु उस पर अभी भी आलोकपात नहीं हुआ है। आलोक पड़ते ही वहाँ सब कुछ परिलक्षित होने लगा। अब जैसे प्रेक्षागृह में चित्र की रील पर्दे पर चल रही है। क्रमशः चित्र आ रहे हैं। अब भाति-ऋच्छति तथा मोदते का स्विच खोल दिया गया। इस प्रकार चित्र के साथ-साथ स्वर, सुर, छन्द, भाव, व्यञ्जना प्रस्फुटित होने लगी। चारो का स्विच है 'मोदते'। विश्व प्रेक्षागृह में चार स्विच हैं भावक (जापक), भासक, मापक तथा मोदक। जैसे वीणा में किसी राग का आलापन हो रहा है। स्पन्द अथवा झंकार रूप जो अस्ति है, श्रोता के कर्ण तथा ज्ञान में वह है भाति। और वही सुर-छन्दरूपेण है 'भाति' (ऋच्छति)। रससंवेदन, भाव निवेदन रुप से वह है प्रीणाति (मोदते) !

अपने जपमन्त्रादि में भी इन चारों को देखो। रेडियो तरंग आकाश में है 'अस्ति'। वही यंत्र तथा अनुभवादि में है भाति। वह तरंग परिमापादि में है भाति, और भाववेदनारूप में है 'प्रीणाति'। एक पत्थर कहीं पर अदेखा-अजाना सा पड़ा है। उसकी यह 'अस्ति' उसके अपने स्वयं के सम्बन्ध में भले ही ज्ञान (प्रत्यक्ष रूप-स्पर्शादि की समष्टि) रूप से भाति न हो, किन्तु अधिष्ठान सम्बन्ध में वह साक्षात् प्रतीति (डाईरेक्ट अथवा इमीजियेट गिवेन) है। उसका यह 'अस्ति' भान भी भान से अतिरिक्त नहीं है। अर्थात् Blind, Brute, being अथवा Existence जैसा कुछ नहीं है और रह भी नहीं सकता। केवल यही नहीं। क्या केवल चैतन्य का ही अधिष्ठान ? 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' चैतन्य स्वयंम्प्रकाश तथा सर्वावभासक है। इसे विभु, सर्वसाक्षी, सर्वद्रष्टा चैतन्य कहो। इस दृष्टि से यह 'अदेखा' पत्थर

भी है 'देखा' हुआ। अत: वह है भातिज्ञान। ब्रह्म हैं सर्वज्ञ तथा सर्वविद्। इसी प्रकार उनका तप: भी ज्ञानमय तप: है। भगवत्ता के लिये अभाति अथवा अज्ञान की कोई स्थिति ही नहीं है।

एक ऐसी परमभूमि अवश्य है जिसमें ये चारो स्विच खुले रहते हैं, किन्तु केन्द्र सम्बन्धी, नाभि संव्यूढ़ चेतना की भूमि में इन चारो स्विचों को युगपत् (एक साथ) तथा पूर्णत: नहीं खोला जा सकता। जैसे अनदेखे पत्थर तथा अश्रुत रेडियो तरंग के समय! हमारे भान में (यूनिवर्स आफ गिवेन एक्सपीरियेन्स आर फैक्ट) यह सब रहता भी है और नहीं भी रहता। आकर चला भी जाता है। भान में आकर भी ज्ञान में नहीं आता। इसका अर्थ यह है कि पत्थर को ज्ञेय अथवा ज्ञान रूप (An as object or mode of Consciousness) से ही नहीं देखते। पशु-पक्षी तथा शिशु भी इस प्रकार से नहीं देखते। हमलोग भी कितने समय के लिये साइकोलाजिस्ट होते हैं। वस्तु का ज्ञान एक बात है और ज्ञान (एप्रिसियेशन इन कान्शसनेस) अन्य बात है। सुषुप्ति में, गाढ़मूर्च्छा आदि में भान रहता है, किन्तु ज्ञान नही रहता। किम्बहुना भान = चैतन्य। इस समीकरण द्वारा यह भेद नहीं हो सकता। हम वर्त्तमान क्षेत्र में ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञाता की त्रिपुटी के लक्षणान्तर्गत् है। 'विज्ञातमविजानताम्' इत्यादि श्रुति वाक्य द्वारा भी ज्ञान तथा भान को पृथकत: विवेचित किया गया है। विज्ञान में जिस ब्रह्माकार वृत्ति का उल्लेख है, वह भी इन चारो स्विच के अभेद स्थिति की पूर्वभूमिका ही है।

यद्यपि ज्ञान तथा भान का यह भेद हमारे व्यवहार में परिलक्षित होता है (यही दिखलाने के लिये प्रेक्षागृह और चार स्विच का उल्लेख किया गया), तथापि ज्ञान को व्यापक करके उस सर्वज्ञ सर्वविषय ज्ञान पर्यन्त उन्नीत करना ही होगा। शुद्ध ज्ञान में कोई लक्षण नहीं आ सकता, वहां लक्षण तटस्थ से रहते हैं। अतः सूत्रोक्त लक्षण में पुन: दृष्टि तथा ध्यान नियोजित करो। व्यवहार में सीमित रहने से गति तहीं होगी। तथापि भानभूमि में = 'Given' or 'Experience' as such (as directly and Simply intuited, apprehended), और ज्ञानभूमि में given as 'Posited', Cognised as given (existent), इसका विशेष लक्ष्य रखना होगा। पूर्वालोचित विमर्शादि मर्शपंचक के द्वारा भानभूमि का भासपंचकरूपता के आकार में ज्ञानभूमिरूपेण आकारित होना भी भान के लिये तिरोधान की स्थिति नहीं है। अर्थात् तब भी भान तिरोहित नहीं होता। भान की कुक्षि में ही यह विमर्शन घटित होता है। अत: 'भान' को हटाते हुये ज्ञान-ज्ञेयादि नहीं होते। भान में जो अखण्डत्व, समग्रत्व, निर्व्यूढ़त्व आदि हैं, वे कभी-भी समाप्त नही होते। भानरूपेण चैतन्य की जो भासकता (तस्य भासा सर्वमिदं विभाति) है, वह नित्य तथा सर्वत्रग है। तथापि ज्ञानभूमि में ही, विशेषत: भासकभाव को परिस्फुट करने

के लिये और इस विशेष को परिलक्षित कराने के लिये अस्तिताप्रतीति के स्थान पर ,'भावक'' शब्द का प्रयोग किया गया है।

भासत इत्यवच्छेदग्रहणाद् गोचरतां गते।
अस्तीत्यपि विशेषेण गृह्णाति ज्ञानरूपताम्।
घटो भाति घटश्चास्तीत्यनयोर्भेद इष्यते ॥१७३॥

घट है और घट को देखता-जानता हूँ (भाति) इन दोनों में व्यवहारतः भेद परिलक्षित होता है। जैसे वेदान्त में प्रसिद्ध 'दशमः अस्ति' तथा 'दशमस्त्वमसि'। प्रथम में 'अस्ति' प्रत्ययने 'भासते' अथवा 'ज्ञायते' रूपी अवच्छेद अथवा निरूपक विशेष को ग्रहण करके, इस विशेष द्वारा विशेषित होकर 'घटज्ञान' रूप को धारण किया है। हमारे व्यवहार के निर्वहणार्थ यह भेद आवश्यक है। साधन में जो नाद आदि 'अस्ति' हैं, उन्हें 'भाति' रूप में प्राप्त करने के लिये न जाने कितना प्रयास करना पड़ता है। व्याहृति की आकृति में 'अस्ति'=भूः, भाति=स्वः और ऋच्छति=भुवः। इस सब का चिन्तन करो। प्रणव में अ=अस्ति, म=भाति, मोदते, उ=ऋच्छति।

कारिका में सामान्य भेद प्रदर्शित है :—

३. अस्तिभात्यर्च्छतीति त्रितयप्रतीतिगोचरतानिधानत्वं चैतन्यस्य ज्ञेयत्वम्।

अस्ति, भाति, ऋच्छति रूपी प्रत्यगोचरता के आधाररूप में चैतन्य विशेषित होने पर वह ज्ञेय है॥

प्रणव को ब्रह्म का साक्षात् ज्ञानरुप कहा जाता है, तथापि विश्व-व्यवहार में और साधन प्रयोग में यह भान स्वयं को चतुष्पात् प्रदर्शित करता है। यह है अस्तिपाद, ऋच्छतिपाद, भातिपाद तथा मोदतेपाद। साधारण व्याहरण मे अ= अस्तितापाद। किन्तु पूर्ण व्याहरण में अ उ म में अस्तिता है। नाद में भातिता और विन्दु में है मोदन अथवा प्रियता। और जब कला-शक्ति अर्धमात्रारुपेण नाद-विन्दु काष्ठा में ऋच्छ्यमाना होती है, तब है ऋच्छ्यति अथवा ऋच्छतिपाद। यहाँ यह विचार करो कि कब प्रणव, ह्रीं आदि बीज, अथवा कोई भी इष्टनाम ज्ञेय रुप धारण करता है? जपादि साधना क्षेत्र में यह अत्यावश्यक प्रश्न है। इसके अतिरिक्त साधारण व्यवहार (विज्ञान आदि में भी) में कब क्या रहने पर यह कहा जा सकेगा कि इस बार यह पदार्थ केवल भान-ज्ञान नहीं है, प्रत्युत् ज्ञेय (आब्जेक्ट आफ काग्नीशन, नालेज आदि) भी है? विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि जो चैतन्य सामग्री निखिल का आधार है; वह स्वयं को जब मेयता-मापक आकार में विशेषित, प्रचोदित करती है, तभी कोई 'ज्ञेय' रुप हो सकेगा। आरम्भ में मूलतत्व का अहं-इदं आकार में जो विसर्जन (ईक्षणादि) है, उसमें यही ''माप कर देखूगा'' का भाव निहित सा रहता है।

विज्ञान व्यवहार में आने पर आब्जेक्ट का अर्थ है whatever is measured or measurable. वास्तव में पदार्थ विज्ञान में विशेष रूप से कुछ ज्ञेय होने का अर्थ है उसका परिमाप में आना। जो गुणविभागशः (Qualitative) ज्ञेय है, वह तब तक विज्ञेय नहीं होता, जब तक गुण कर्म विभागशः (Both qualitatively and quantitively) जाना नहीं जाता। फोटो में किसी सुदूरवर्त्ती ज्योतिष्क (ग्रह) का चित्र खींचने मात्र से कुछ नहीं होता। उसे Spectrum Analysis प्रभृति अनेक उपायों द्वारा विज्ञेय किया जाता है। समस्त क्षेत्रों में ही अभिज्ञ ज्ञान अपने ज्ञेय को इसी प्रकार से सभी दृष्टिकोण से सूक्ष्मतः देखना चाहता है। ज्ञेयता का 'मजा' है मेयता ! प्रणवादि को इन सब पाद-मात्रा-कला-काष्ठा में प्राप्त करने की क्या आवश्यकता ? इन्हें न प्राप्त करने पर श्रद्धा भी विद्या एवं उपनिषद् रूपी पक्ष द्वय को अपने से अभिन्न नहीं देख सकेगी। अब यह कारिका है :—

भाति चास्तीति रूपे द्वे न दत्तो ज्ञेयरूपताम् ।
न तावज् ज्ञेयता गच्छेद् यावन्न मेयतां व्रजेत ।
न तावन् मेयता चास्ते न यावद गतिकर्म च ।। १७४ ।।

इस तृतीय (ज्ञेय) भूमि में आकर क्या मिला ? जो 'है' और "देखा तथा जाना जाता है", वह केवल उतना ही नहीं है। वह स्वयं को 'हो रहा है' 'कर रहा है' (Becoming, Doing or Functioning) रूपेण भी प्रदर्शित करता है। यह अभिनव रूप जिसके आश्रय द्वारा प्रस्फुटित हो रहा है, उसे कारिका में 'गतिकर्म' की संज्ञा से युक्त किया गया है। सूत्र में 'ऋच्छति' रूपेण। आंग्ल भाषा के 'Functioning' का प्रयोग व्यापक अर्थ में होता है। नाद-ज्योदि का स्फुरण हो रहा है, ज्योति रसरूप हो रही है, इन सब "हो रहा है" शब्द में क्रिया-कारक-फल तथा पाद-मात्रा-कला-काष्ठा की आकृति व्यक्त न होने पर भी निहित ही है। जैसे गायत्री के पहले वाले प्रणव में वीज, व्याहृति में अंकुर, प्रथम पाद (तत्सवितुः') में प्ररोह, द्वितीय पाद में पादप, तृतीय में फल, तथा अन्त वाले प्रणव में पुनः बीजरूपता रहती है। प्रणव को गायत्री में "गतिकर्म" रूपेण उपलब्ध किया जाता है। इसी कारण वह पादमात्रा कलाकाष्ठा रूप से मेय होने के कारण ज्ञेय हो जाता है। वाह्यतः 'तड़ित' तो सर्वत्र 'अस्ति' है, किन्तु वह मेय तथा ज्ञेय होती है 'गतिकर्म' आकृति युक्त होने पर ही। यद्यपि चित्त की सुषुप्ति भूमि में विलक्षण 'गतिकर्म' नहीं रहता, तथापि वह स्वप्न तथा जागरण में उतरता हुआ वृत्तिरूपेण ज्ञेय हो जाता है। 'स आत्मा स विज्ञेयः' इत्यादि में आत्मा विज्ञेय है। जैसे आत्मा यह नहीं है, वह मेय नहीं है, इत्यादि नेतिकरण से विज्ञेय है। अन्यथा आत्मा तो शुद्ध भान-ज्ञान रूप है। जो कुछ भी हो, इस सूत्र में ज्ञेय को मेयसापेक्ष तथा मेय को गतिकर्म सापेक्ष परिलक्षित कराते हुये उसकी व्याप्ति समस्त व्यवहारों में प्रदर्शित की गयी

है। 'अव्यवहार्य' के स्थल पर 'ऋच्छति' को निर्दोष-निर्व्यूढ़ समता में ग्रहण करना होगा। तब 'ऋच्छति' है अपने समस्त गतिकर्म में 'शान्त आत्मनि'! अन्यत्र इसे 'माप' द्वारा व्यवहार योग्य (आबजेक्ट ऐज डिफाइन्ड) करके देखो।

४. अस्तिभात्यच्र्छतिमोदत इति चतुष्टय-प्रतीतिगोचरता-
निधानत्वं चैतन्यस्य ज्ञातृत्वम् ॥

अस्ति, भाति ऋच्छति, प्रीणाति (मोदते) इन चारो भावों में चैतन्य प्रतीतिगोचरता का निधान होने पर ज्ञाता है॥ "इदं, कथं, किं" इत्यादि रूप से ज्ञेयपदार्थ सर्वविध व्यवहार में उपस्थित रहता है। साधना में प्रवृत्त होने पर अनुभव में इन्ही सब आकार में ज्ञेय आत्मप्रकाश करता है। यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि अतथ अथवा विशेषत: ज्ञेय होने से कोई लाभ नहीं है, प्रत्युत् हानि ही है। अत: ज्ञेय को मेय में तथा मेय को पुन: गतिकर्म में प्राप्त करना ही होगा। ऐसा केवल बहिर्विज्ञान में ही नहीं है, यह अध्यात्म विज्ञान में भी है। ज्ञेय निरुपण में एक्स रे विजन, इनसाईड ग्राफ, बेसिक इक्वेशन तथा वर्किंग फार्मूला की आवश्यकता रहती है। इन्हें क्रमश: ऋषि, देवता, छन्द: तथा विनियोग की दृष्टि से देखना चाहिये। केवल 'मुंहजवानी' बातचीत से कुछ भी नहीं होगा। ज्ञेय को यथार्थ तथा कार्यकरी रुप से जानने के लिये इन चारों का आश्रय लिये बिना कोई उपाय ही नहीं है। यह उक्ति तो सत्य है, किन्तु मूल प्रश्न तो अनुत्तरित ही है! मूल प्रश्न अर्थात् कौन जानेगा, कैसे जानेगा, कैसे जानना चाहेगा? जानना, जानने की इच्छा के मूल में सर्वदा है रस! आंग्लभाषा में इसे सामान्यत: कहते हैं Interest! मूल में रस की विद्यमानता के ही कारण काम, संकल्प, तप: तथा ईक्षण की स्थिति रहती है, ऐसा अनायास ही हृदयंगम होता है।

इतने पर भी प्रश्न उत्थित होता है कि रस को आश्रित रूप से तथा आश्रय भाव से कहाँ प्राप्त किया जा सकेगा? चन्द्रमा की किरण नहीं है, वहाँ सूर्य की किरण है। स्वभाव ही आश्रय है। रस अथवा आनन्द ही निखिल की आत्मा है। वह हृत् आदि रूप से सर्वत्र स्वभावनिष्ट रहता है। तब भी हमारे व्यवहार में रस के ही आश्रयरूप से स्थित होने पर भी 'यहाँ है' और 'वहाँ है' (जैसे खिला पुष्प यहाँ है अथवा वहाँ है) प्रभृति रूप से वह आश्रित रूपेण (as projected-Reflected) द्योतित होने लगता है। यह तत्त्वगत भेद नहीं है, व्यवहारगत है। यदि इस खिले पुष्प में रस (केवल ही नहीं, प्रत्युत् रससंवित्ति का बीज) नहीं रहता तब मधुप के साथ इसका मधुसंग सम्भवपर कैसे होता? इसके लिए एक Basic unison (मौलिक सामञ्जस्य) अवश्य ही होना चाहिए।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि व्यवहारत: निखिल में अनुप्रविष्ट जो ब्रह्मविन्दु है, वह ब्रह्मविन्दु जहाँ अहं आकृति में स्फुटवृत्तिमान (In patent function) है, उसी

स्थल में हम रस संवित्ति को तद्रूपत: (As such) बोध अथवा प्रतीति में मिला सकने में सफल होते हैं, अन्यथा सफल नहीं हो सकते। जो आत्मा 'प्रिय: पुत्रात् वित्तात्' इत्यादि है, वही इस 'अहं' द्वार से अथवा मुख से अपनी तथा निखिल की प्रियता (Interest) का समाचार साक्षात् गोचर रूप से लेता एवं प्राप्त करता है। अत: इस अहं मुख का आश्रय लेने पर ही रस का परिचय तथा आस्वादन प्राप्त हो सकेगा। यह भी देखता हूँ कि रस की स्वलसित भूमि में यह मुख भी मूक हो जाता है!

इतने पर भी मुखर भूमि में रस ही है मुखसर्वस्व! जो कुछ भी हो, मोदते' अथवा 'प्रीणाति' प्रतीति की साक्षात् गोचरता के लिये मुखरसिक (Original Interest) हुए विना नहीं रहा जा सकता। अस्ति-भाति-ऋच्छति, किन्तु किसी को अन्दर से बोलना चाहिए 'बस! मन्त्र में ओम! जो 'ओम् विन्दु में 'अहं जनानांहृदि' इत्यादि रूप से सन्निविष्ट है, अथवा 'अहं रुद्रेभि:' इत्यादि रूप से जो कहते हैं मैं 'चरामि' 'वृणोमि' वही अहं हो रहा है 'प्रत्यङ्ग मुख'। हमारा कारबारी 'मैं' 'पराङ्गमुख' है। तथापि वह है 'origin of Interest'! अतः समस्त का accepence and appriciation है उसे केन्द्र बनाकर अथवा लक्ष्य बनाकर। 'भावयन्त:' 'चेतयन्त:' 'गमयन्त:' पर्यंन्त 'मैं' को छोड़कर अथवा पर्दे में आड़ में रखकर चिन्तन हो सकता है परन्तु 'रसवन्त:'? रस के साथ सम्बन्ध पूर्णत: साक्षात् तथा निबिड़ है। इसमें किसी के माध्यम से 'मारफत' से 'वाकलम्' से कुछ भी नहीं होता!

घटो भाति घटश्चास्ति घटोऽयं ज्ञायते पुन:।
इत्थं त्रिधा विभेदस्य सूत्रं किं तद् विभाव्यताम्।।१७५।।
आधारोऽखण्डचैतन्यं सूत्रञ्च ग्रहीता रस:।
संकल्पतपसी चैव कामेक्षणे च वृत्तय:।।१७६।।

'घट है, घटका बोध हो रहा है, घट को ज्ञेयरूपेण जान रहा हूँ, इस तीन प्रकार का जो विभेद है, उसके मूल सूत्र के सम्बन्ध में विचार करो। इन तीनों के आधार में जो अखण्ड चैतन्य है, उसके विषय में तो संशय नहीं है, किन्तु उस परमाधार भूमि से किसने कैसे घट को इस प्रकार से ग्रहण किया? अखण्ड एकरस ने ग्रहीता रस रूप से इस अघटन को घटित कराकर स्वलसित रस को प्रपञ्चित किया है। अतएव सूत्र में यह ग्रहीता है। इस सूत्र की चारों वृत्तियों को श्रुति आदि ने नाना प्रकार से कहा है, जैसे संकल्प, तप:, काम, ईक्षण।

इस पाद के प्रथम चार सूत्र में प्रतीतिगोचरता को (इमीडियेट एक्सपीरियेन्स) को चार प्रकार से दिखलाया गया है—

(१) Experience as fact (Given),
(२) Experience as Cognition
(३) Experience as Function
(४) Experience as Intrest or appreciation

इन चारों को केवलमात्र आनुतात्त्विक (theoretic) विश्लेषण नहीं समझना चाहिए। सर्वविध व्यवहार और साधना में इन चतुःपाद के अनुध्यान की आवश्यकता रहती है। उन्हें कतिपय सूत्रों की व्याख्या में प्रदर्शित भी किया गया है। यहाँ कारिका से उपसंहार करो—

अस्त्योङ्कारः प्रथयतु जपं द्वारि ढुण्ढीशरूप
ऋच्छत्यां नो गमयतु नमो विश्वनाथं शिवाय।
भात्यो दीपो लसयतु नमो नोऽन्नपूर्णा शिवायै
प्रीणात्यों नः शमयतु शुचं द्वारि शान्तः पुनश्च ॥१७७॥

काशीधाम में विश्वनाथ-अन्नपूर्णा के दर्शनार्थ जा रहा हूँ। तब इस प्रकार के व्याहरण तथा अनुध्यान से क्या होगा बोलो ? जो काशी के द्वार पर ढुण्ढिराज गणेश की मूर्ति में रहते हैं, वे तो ॐकार हैं, वे 'अस्ति' भाव से रहते हैं। उन अस्तिरूपी ॐकार को अपने जप का विस्तार क्यों नहीं करने देते (प्रथयतु) ! अर्थात् विन्दु रुपेण जो प्रणव 'अस्ति' है, उसे नादरुप में उत्थित करना है। तदनन्तर इस नाद के साथ माता अन्नपूर्णा को दाहिने रखकर विश्वनाथ दर्शन को चलते हैं। यह है प्रणव के 'ऋच्छति' का रुप। 'नमः' मन्त्र के द्वारा इस प्रणव की मांगलिक गति की सूचना मिल रही है।

विश्वनाथ मन्दिर तथा पीठ के सम्मुख उपस्थित होकर यह 'नमः' स्वयं को 'ॐ नमः शिवाय' की आकृति में परिपूर्ण कर लेता है। वहाँ पर जो अखण्ड दीप है वह है ॐकार का भातिरूप। नित्य अकुण्ठित भाति ! यह चिर अकुण्ठित ओंकार भाति ! यह चिर अकुण्ठित ओंकार भाति अब तुम्हारी अन्नपूर्णा माँ को देखने वाली दृष्टि को लसित करे। इस दीप लसित दृशि के द्वारा अब माँ को माँ के समान देखो। पुनः ऋच्छति नमः। 'शिवायै·ॐ नमः शिवायै' इस मन्त्र में जो परिपूर्ण थीं, वे अब हैं सम्पूर्ण ! माँ अन्नपूर्णा की कृपा प्राप्ति ही है प्रणव का प्रीणाति रूप। (तभी इस काशी धाम में शिव भी भिखारी हैं।) माँ की कृपा द्वारा हमारा शोक प्रशमित हो। (शमयतु शुचं)। दर्शन की समाप्ति के अनन्तर पुनः द्वार पर आया। अर्थात् शान्त विन्दुलीन ॐकार में। इस परम परिक्रमा का मान्त्री तनु है 'ॐ नमः शिवाय ॐ नमः शिवायै ॐ'। यह समझ लो कि गायत्री प्रभृति में भी इस प्रकार की परिक्रमा के साथ एक सुसंगति रहती है। जैसे गायत्री के अन्तिम पाद में (धियो यो

नः प्रचोदयात्) माता अन्नपूर्णेश्वरी साक्षात् प्रसन्ना रूप से व्याहृता तथा भाविता हो रही हैं। केवल यही एक परिक्रमा नहीं करना है। अन्तर्बहिः सर्वतीर्थ परिक्रमा में अपने-अपने इष्ट का मान्त्रीतनु तथा भावनातनु पाना होगा !

५. प्रत्येकं निर्द्वन्द्वमितरद् वा ॥

पहले प्रत्येक निर्द्वन्द्व (Non-polar) अथवा द्वन्द्वार्ह, द्वंद्वसहित (Polar) हो सकता है ॥

अस्त्येव, भात्येव 'है ही' भासित हो रहा है, इत्यादि प्रकार से अन्यथा एवं विकल्प रहित होने पर निर्द्वन्द्व है। 'है अथवा नहीं है' इस प्रकार से विकल्पित होना द्वन्द्व। द्वन्द्वार्ह।

भाति किंवा न भात्येतदस्ति किंवा न विद्यते।
मेयं ज्ञेयं न वा किञ्चित् ग्रहीतृ ग्राह्यमेव किम्।
इत्थमाधारसामग्र्यां द्वन्द्वस्य हि विजृम्भणम् ॥१७८॥

ये तीनों द्वन्द्वभाक् नहीं होते—शुद्ध अधिष्ठान चैतन्य, भानसामग्री जिसे Fact संज्ञा दी जाती है, और भानसामग्री में कुछ उसी प्रकार (जैसे आकाश कुसुम) अर्थात् निरूपक साक्षात्भान अथवा प्रतीतिरूपेण। ग्रहीतृ ही ग्राह्य सूत्र से द्वन्द्वभाक् होता है। अर्थात् ग्रहीता किस दृष्टि से, किस प्रकार से ग्रहण करता है, इसी पर यह निर्भर करता है कि आकाश कुसुम है अथवा नहीं। It depends on the Cognitive view-Point and appreciative Interest. जैसे जप में तुमने कोई ध्वनि सुना। किसी ज्योति अथवा रूप को देखा। दूसरे ने सुनकर कहा 'दिमाग की खराबी !' इससे तुम घबराते नहीं हो, तथापि प्रश्न है सबका नाप जोख, पैमाना' क्या अपने-अपने (Individualistic view point and interest) सत्व से ही सत्त्ववान् है ?'' क्या कोई आदर्श नहीं है, व्यवस्थापक-संस्थापक नहीं है ? है ! वह है 'निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थः' की भूमि। पहले जिस प्रकार का उल्लेख किया गया है, इसे उन तीनों से अलग करके देखो। इस स्थिति में यह है चौथा प्रकार। शास्त्र तथा आप्तवाक्य (ऋषि-देवता) के साथ हमें अपने-अपने ग्रहीतृ-ग्रहण को मिलाना पड़ता है (तुलना करना पड़ता है)। बहिर्विज्ञान में भी मनन के माध्यम से प्रत्यय से योजित करना होगा। यह होता है शनैः-शनैः। एकबारगी नहीं होता।

६. सामान्यविशेषौ च तत्र ॥

वहाँ सामान्य तथा विशेष ये दोनों हैं ॥

दूर से देखा, एक वृक्ष है। पास जाकर देखा वटवृक्ष है। नित्य सन्ध्या उपासना करो। द्वादशी में सायं सन्ध्या नहीं होती, इस प्रकार सामान्य विशेष का प्रयोग है। जप में अग्नि सोम रूपी मात्राद्वय की समता रखना होगा, किन्तु कोई-कोई

लक्षण उपस्थित होने पर मात्राविशेष पर अधिक 'जोर' देना पड़ता है। जपध्यान करते-करते ललाट देश में एक ज्योतिर्मण्डल देखा जाता है। उसमें एकाधिक वर्ण प्रस्फुटित होकर एक वर्णाली युक्त चित्र की रचना करने लगते हैं। अन्त में एक अपरूप नाद विन्दु का दर्शन मिलता है। सामान्य-विशेष ध्वनि श्रवण भी हुआ। सूत्र की इस कारिका में साधारण लक्षण वर्णित हैं—

व्यापिका च तथा व्याप्या द्वे वृत्ति भवतः सदा।
एकया स्यात् समाहारो व्यवहारोऽयन्या भवेत्।
गोचरताविनिष्पत्तौ द्वयोः स्याद् युक्तिरेतयो। ॥१७९॥

ज्ञान-ज्ञेय प्रभृति सर्व-स्थलों में व्यापिका तथा व्याप्या की स्थिति रहती है। भान के सम्बन्ध में भी ऐसा ही है। एक परम तथा पूर्ण भान का व्याप्य है हमारा तुम्हारा भान। यह भेद अवश्य व्यावहारिक है। भान को मान तथा ज्ञान में लाने पर इस व्याप्य-व्यापक भाव को उसमें युक्त करना होगा। Fact को Fact Review के रूप में लाना होगा। ज्ञाता के समय भी ऐसा ही भाव रहता है; व्यष्टि-समष्टि को 'मान' में लाकर! क-ख-ग आदि व्यष्टि (इन्डिवीजुअल) ज्ञाता का भी कोई ज्ञाता अवश्य है। श्रीगुरु शिष्यवर्ग के सम्बन्ध में सामान्य अथवा समाहार के ज्ञाता हैं। एक-एक अक्षर का भी ज्ञातृत्व है। प्रणव आदि इन-इन अक्षरदृक् के समूहदृक् हैं। यही नहीं समूहसृक् समूहभृत भी! अर्थात् केवल द्रष्टत्व ही नहीं, स्रष्टत्व-भर्तृतत्त्व भी समाहार रूप से अथवा समूह रूप से प्रणवादि में रहता है।

अतएव जहाँ समूह अथवा समाहार साधित हुआ, वह सामान्य है और जहाँ व्यूढ़ या व्यवहार हो रहा है, उसे 'विशेष' संज्ञा प्रदान करो! गणित विज्ञान में भी इन लक्षणद्वय का प्रयोग देखो। जो generic है, वह पर्टिक्युलर अथवा स्पेसिफिक का परिहाण (Abstraction) ही नहीं है। हमारी इन्द्रियों तथा चित्त की संस्कार राशि ज्ञान-ज्ञेय को व्यूढ़ (Restrict, Canalize) करके साधारण व्यवहारयोग्य बनाती हैं। अतीन्द्रिय, योगज ज्ञान-ज्ञेयादि उसका परिहाण, अथवा अवान्तर रूप नहीं है। जो अतीन्द्रिय ज्ञानादि में व्यापक तथा समाहारक है, वह इन्द्रियज्ञान में व्याप्य तथा व्यवहारक ही होता है। जो Fact field स्तुतः Actual है, उसका हमारे 'चालू-ज्ञान' में लिमिटेशन और स्पेसिफिकेशन होता है। अतः जेनरल तथा पर्टिक्युलर शब्दद्वय का प्रयोग न करते हुये Inclusivity and Exclusivity का प्रयोग करना उचित प्रतीत हो रहा है। साधारण ज्ञान ज्ञेयादि = Function by exclusion of one another, and thc real whole. भान सामग्री को मर्शपंचक द्वारा भासपंचक करते हुये सामान्य 'कारोबार' में लगाया जाता है। भान सामग्री को समग्रभावेन ग्रहण करने के लिये उपयुक्त 'सर्चलाइट'

बना लो। जो कुछ भी हो, गोचरता (actual apprehension and apprecia- tion) के विनिष्पादन से ही व्यवहार चलता है। वही अभिजित् नक्षत्र का दृष्टान्त (द्वितीयखण्डोक्त)। इस प्रकार की विनिष्पत्ति में युक्ति (को आर्डिनेशन आदि) का रहना आवश्यक है। किसकी युक्ति ? पूर्वोक्त समाहार तथा व्यवहार की। समाहार अथवा समन्वय के अभाव में कोई भी ग्रहण अथवा विशेष दृष्टि किसी भी व्यवहार में फलप्रद तथा सिद्धिप्रद नहीं हो सकती। समूहकृत् न होने पर संदोहभुक् हो सकना संभव ही नहीं है। जैसे किसी रागविस्तार की तान, गमक मूर्च्छना, ताल छन्द में अलंकार आदि। साधना में युक्ति अत्यन्त आवश्यक है। आत्मप्रत्यय में, शास्त्र तथा आप्त प्रमाण में भी युक्ति आवश्यक है। आत्मप्रत्यय के सभी अंग में तथा भावसमूह में युक्ति तथा संगति प्रयोज्य है।

७. ऋच्छतेर्व्याप्यवृत्तित्वादुभयत्र क्रमिकत्वेन काष्ठाप्रसंङ्गः ॥

पूर्व कथित सूत्रद्वय में जिन दो विभेदों का उल्लेख किया गया है, उन दोनों में 'ऋच्छति' अथवा गतिकर्म के द्वारा व्याप्यवृत्ति है; अर्थात् दोनों स्थल पर गतिकर्म की व्याप्ति (Extension of Relevancy) है। अव्याप्ति नहीं है। अतएव दोनों में क्रमिकता (Serieality) है और जहाँ क्रमिकता है, वहाँ काष्ठा का भी प्रसंग है ॥

पंचमसूत्र में निर्द्वन्द्व-द्वन्द्वार्ह तथा षष्ट सूत्र मे सामान्य-विशेष आलोचित हुआ है। वर्त्तमान सूत्र में गतिकर्म की व्याप्ति का प्रसंग विवेचित है। क्या यह व्याप्ति निर्द्वन्द्व एवं सामान्य भूमि पर्यन्त है ? क्या इस भूमि में भी क्रमिकता तथा काष्ठा का प्रसंग है ? ऐसा संशय हो रहा है। यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि द्वन्द्व के सम्बन्ध में पंच भूमियों की भावना की जाती है, जैसे द्वन्द्वातीत, निर्द्वन्द्व, द्वन्द्वार्ह, द्वन्द्वगर्भ, द्वन्द्वस्थित। जैसे एक चने का अंकुर। अंकुर में दोनों दल पृथक् हैं। सूक्ष्म परीक्षण में बीज की नाभि में जाओ। वहाँ है द्वन्द्वार्ह। यहीं तक है परीक्षण की गति; किन्तु क्या नाभि में कोई यह नहीं बोल रहा है "मैं चना हूँ, और अन्य कुछ नहीं हूँ। इस चने की जाति का होकर भी मेरा एक अपना व्यष्टित्व (यूनीकनेस) है। यह जो निजस्वत्व (यूनीकनेस) है, यह है निर्द्वन्द्व। अर्थात् जहाँ और कुछ नहीं कहा जा सकता, वही मैं हूँ"। इस दृष्टिकोण से देखने पर भान सामग्री से प्रारंभ करते हुये एक धूलि का ज्ञान अथवा कोई अन्य प्रतीति भी निर्द्वन्द्व (यूनीक) है।

कोई भी प्रत्यय दूसरे से पूर्ण 'सम' नहीं होता। इस दृष्टि में ब्रह्म बहु होने पर भी सब कुछ में 'एक' ही हैं। किसी का यमज कोई भी नहीं है। इतने पर भी हम 'निर्द्वन्द्व' को अपने स्वगतादि भेदपर्याय में ले आकर ही सर्वव्यवहार करते हैं। इस प्रकार से निर्द्वन्द्व है समस्त द्वन्द्व भूमि की काष्ठा और द्वन्द्वातीत है परा किंवा परमा काष्ठा। सामान्य सम्बन्ध में भी इसी प्रकार से विचार करो ! जिसमें समा-

हार होता है, वह है सामान्य। किन्तु समाहार (इन्टिग्रेशन) में क्रमिकता की अपेक्षा रखते हुये काष्ठा का निर्देश देता है।

उभयत्र क्रमेण स्यात् प्रसक्तिर्गतिकर्मणः।
क्रमात् काष्ठाप्रसंङ्गःस्याद् द्वे काष्ठे च परमावमे
एकया नादविश्रान्तिरन्यया विन्दुसंश्रयः ॥१८०॥

काष्ठा दो है, चरम तथा अवम्। इनमें पारस्परिक नीच-ऊँच का भेद नहीं करना चाहिये। अवम् में न्यूनता अथवा हीनता स्थलविशेष में आरोपित होती है। विज्ञान-गणित आदि की निरपेक्ष दृष्टि से ही काष्ठाद्वय को ग्रहण करना चाहिये। जैसे गणित के समाहार में शून्य तथा असीम। इस बार यह विचार करो कि चरम काष्ठा में विश्रान्ति होती है नादसामान्य में और अवम काष्ठा का संश्रय होता है विन्दु सामान्य में। दोनों ओर 'परोवरीयान्' अथवा 'ततो भूयः' क्रम हैं। एक ओर विश्राम भूमि होने के कारण परम व्यापक नाद है। दूसरी ओर परमसूक्ष्म विन्दु में काष्ठा संश्रय है। विश्राम तथा संश्रय शब्द में नाद-विन्दु संकेत की भावना करो। निखिल क्रमिकता की काष्ठा है नाद-विन्दु। इन्हे किसी संकीर्ण-विशिष्ट अर्थ में नहीं लेना चाहिये। इन्हे सामान्य (व्यापक) अर्थ में ही ग्रहण करना चाहिये।

८. उभयकाष्ठाधीनत्वादृच्छतेरणुत्वधारात्वे ॥

पूर्वोक्त नाद तथा विन्दु के काष्ठानुरोध से निखिल गतिकर्म की आकृतिद्वय का प्राकट्य होता है—यथा अणु एवं धारा ॥ अर्थात् Corpuscularity and Continuity.

विज्ञान में सब कुछ के एक ओर जैसे अणु आकृति (Atomicity, quantum) इत्यादि है, दूसरी ओर धारा आकृति (Continum-wave-flow) इत्यादि भी है। आलोक प्रभृति बहिर्व्यापार की परीक्षा तथा अन्वीक्षा इन्हीं दोनों आकृतियों से ही निरूपित होती है। प्राण के अणुत्व का श्रुतियों में उल्लेख है। मन के अणुत्व को वैशेषिक आदि दर्शनों में मान्यता दी गयी है। अथच, इन दोनों स्थलों पर धारा को पकड़े बिना निस्तार ही नहीं है। आगे कहीं-कहीं प्राण तथा मन की सविशेष विवेचना होगी। जैसे बहिर्विज्ञान में Energy को Atomic तथा Continuous आकृति में ग्रहण करते हुये व्यवहार की निष्पत्ति हो रही है, उसी प्रकार प्राण तथा मनोविज्ञान की आकृति की भी उपलब्धि होती है। प्राण एवं चित्त के प्रवाह और स्त्रोत रूप की आवश्यकता है। काष्ठा में नाद ही समस्त का, सब कुछ का धारा रूप आधार है। (विश्रान्ति) अपरकाष्ठा में विन्दु सब कुछ के केन्द्र में अणुरूप को संभावित करते हैं। (संश्रय !)

नादकाष्ठा विन्दुकाष्ठा गतिकर्मप्रयोजिका।
उभयापेक्षवृत्तित्वाद् यौगपद्येन वृत्तिमत्।
एकया भजते धारामन्यया स्यादणुत्वभाक् ॥१८१॥

नाद-विन्दु काष्ठा सर्वविध गतिकर्म के प्रयोजिका (प्रचोदयात्) हैं। जैसे तारचक्र जप में गायत्री। समस्त गायत्री में मूल प्रयोजिका के लिये व्याहरण करना पड़ता है (प्रचोदयात्)। काष्ठा रूप से नादविन्दु है और उससे अतीत पर्यन्त 'ऋघ्यमाना' कलाशक्तिरूपा अर्धमात्रा की स्थिति है। जप में एक सार्वभूमिक ऋतच्छन्द का दृष्टान्त प्राप्त होता है। विज्ञान गणित प्रभृति व्यवहार में भी गतिकर्म की प्रचोदयिता हैं ये दोनों काष्ठा। एक है अणुत्व के अन्वेषण में, दूसरी है धारात्व के अन्वेषण में। कहां है संश्रय, कहाँ है विश्रान्ति? इसका अन्वेषण अस्फुरन्त रूप से हो रहा है। दोनों ओर इन दोनों काष्ठाओं के शासन तथा आकर्षण में कोई भी निर्दिष्ट गतिकर्म समाश्रित तथा विश्रान्त नहीं हो सक रहा है! ऐटम को छोड़कर एलेक्ट्रान और इलेक्ट्रान को छोड़कर Waves! लक्ष्य करो कि दोनों काष्ठा की अपेक्षा का अर्थ यह है कि समस्त गतिकर्म को युगपत् रूप से अणु तथा धारारूपेण वृत्तिमत् होना होगा। दोनों भाव दो पृष्ठदेश (Aspect) के समान समस्त गतिकर्म को एक साथ प्रदर्शित करते हैं। बीजमन्त्रादि में नादविन्दु है सहग। उकार-इकार के उच्चारण को युगपत इन दोनों के नादविन्दु के, ही शासन में करना होगा। स्वर का अभ्युत्थान नाद में करते हुये विन्दु में (सूक्ष्म स्वराणु में) मिलाना होगा। इस प्रसंग में 'स्वरोरु' तथा 'स्वराणु' शब्द को स्मरण रक्खो।

९. ततो हंसत्वमृच्छतः ॥

पूर्वोक्त प्रकार से अणुत्व-धारात्व आकृति-विशिष्ट होकर (ततः) ऋच्छति होना ही है हंस ॥

अणु तथा धारा इन पक्षद्वय के द्वारा ऋच्छति ने हंसरूप धारण किया। जपसूत्रम् में जिस 'प्राणिक आकृति' का बारम्बार उल्लेख है, वर्त्तमान सूत्र में उसके मौलिक रूप को प्रदर्शित किया गया है।

हकारो नादकाष्ठात्व मनुस्वारश्च विन्दुताम्।
सूचयन्ति सकारोऽपि कोटिद्वयाश्रयांसृतिम्।
विसर्गेण च सर्वस्याधारे स्यात्तु विसर्जनम् ॥१८२॥

'ह' वर्ण के द्वारा नादकाष्ठा (शक्ति-गति-चरम उपक्रम काष्ठा = as continuum) सूचित होती है। अनुस्वार = विन्दुकाष्ठा (शक्ति = गति = अवम्-अनुक्रम काष्ठा As point)। सकार = शक्ति तथा गति के कोटिद्वय (पक्ष) का आश्रय लेने पर जो सृति होती है, उसका सूचक है। सृति = Moment with respect to

and as governed by the two Dynamic or Functional Limit। गति =सामान्यरूप। सृति=गति की विशेषाकृति Pattern। जैसे कोई लौहखण्ड। उसकी गति अनेक कारण से अनेक प्रकार की हो सकती है, किन्तु दो ध्रुव युक्त किसी चुम्बक के सन्निधान द्वारा उसकी जो गति होती है, वह गति चुम्बक के ध्रुव-द्वय के शक्ति विन्यास द्वारा (फील्ड आफ एनर्जी) एक विशेष रूप से निरूपित होती है। अत: जीव की गति को संसृति कहा जाता है। यहाँ दो ध्रुव हैं कर्म तथा अदृष्ट। इनकी विवेचना आगे होगी। हंस: में जो विसर्ग (:) है, वह है 'विसर्जनम्'। कहाँ ? निखिल गतिकर्म का, ऋच्छति का, जो सामान्य एवं विशेष आधार है' शान्त (Quiscent) है। यह आधारभूमि परम में शान्त आत्मा अवश्य है, किन्तु व्यवहार में यह 'ततोभूय:' क्रम द्वारा मिलती है।

हृत् पिण्ड का स्पन्दन, श्वास-प्रश्वास, मन में सुख-दु:ख आदि की वेदना इत्यादि समस्त कोटि अथवा पक्षद्वय पर समाश्रित गतिकर्म से यह प्रत्यक्ष होता है कि ऋच्छति एक 'शाम्यति' भूमि से उत्थित होकर उसी शाम्यति में ही बारम्बार प्रत्यावृत होता रहता है। व्यष्टि में सुषुप्ति, समष्टि में प्रलय इत्यादि। Recurrent Relapse into the sustaining background of Quiescence or repose यही है विश्वप्राण का मौलिक ऋतम्। एटम से यूनिवर्स पर्यन्त सब कुछ उनके गतिकर्मलेख की एक स्थिति के आधार में प्रस्फुटित होता है और उनकी श्रान्ति का 'र' कार बारम्बार किसी एक 'शान्ति' में लयीभूत तथा विश्रान्त होकर नवीन सा हो जाता है। नव आवेग (Original Impetus) की प्राप्ति करता है। 'हंस' केवलमात्र मनुष्य का ही नहीं प्रत्युत् निखिल पदार्थ (अणु-विराट) का अपना जप है। यह सब कालान्तर में कहा जायेगा।

१०. तस्य वामेन दाक्षिण्यम्॥

'हंस' वाम के द्वारा दक्षिण होता है॥

सूत्र की भाषा तथा भाव रहस्यमय है। वाम क्या है ? उलट कर देखना होगा। Reversing the sense of the process किसी एक मुख में भाव-क्रम में गतिकर्म चल रहा है। उसे 'घुमा लेना', 'मुख फिराना' ही है वाम। प्रवण में अ उ म। अ उ के क्रम को विपरीत करो। अर्थात् उ अ=व। प्राप्त हुआ व+ प्रणव का शेष 'म'=वम्। प्रणव के मकार के पश्चात् 'अ' की धारा। इस धारा से एक स्वरमात्रा लेकर मकार के आगे लगाओ। अर्थात् व+अ+म=वाम। इसे उल्टा करने पर दोनों मुख (वाम-दक्षिण) साधित हो जाते हैं। अब यदि क को ही ख के पास घुमाओ (पलटो) उससे कुछ नहीं होता। ख को भी क की ओर घुमाना होगा। अब वे पारस्परिक सम्पर्क में प्रत्यगवृत् अथवा सम्मुखीन होते हैं।

वाम शब्द में यही द्वैध (Co-Folar) सम्मुखीकरण का संकेत परिलक्षित होता है। एक पक्षीय पलटने से (unilateral) कुछ भी नहीं होगा।

विश्व में जहाँ कहीं भी जितना समर्थ साक्षात् (एक्शन आफ डाईरेक्ट इमीडियेट इफिकेशी) हो रही है, (जड़ में प्राण में सर्वत्र) उसके मूल में यही वाम (Bi-Polar अथवा Co-Polar Coordination and Concordance) है। अतः वाम तो विपरीत अवश्य है, किन्तु मूलतः यह है सुन्दर, सुषम, शोभन। समर्थ = दक्ष। दक्ष के साथ 'इण्' युक्त होकर समर्थ को साक्षात्, रोधबाधा विरहित आकार प्रदान करता है। अतः सामान्यतः विदित होता है कि 'वाम' कैसे 'दक्षिण' है। जो-जो काली के वाम हस्तद्वय में है, वही है दक्षिण कर में अभय एवं वर। ये दोनों भी राहस्यिक शब्द हैं। सभी भूमियों में 'ऋच्छति' वाम ही दक्षिणरूप हो रहा है। समस्त साधनों में अदक्षिण को दक्षिण करने के लिये वामा का विशेषतः समाश्रय लेना होगा। श्रीगुरु ध्यान में 'वामे स्वशक्ति' की आवश्यकता रहती ही है। राधा-कृष्ण, हर गौरी प्रभृति की युगलोपासना में वाम पार्श्व में श्री राधा अथवा गौरी की प्रसादिता अत्यन्त आवश्यक है। किसी भी स्वरूप में शक्ति दक्षिणस्थ नहीं है। कुण्डलिनी जागृति, मन्त्रोद्धार-मन्त्रचैतन्य, भावांकुर उदय, तत्वमस्यादि महावाक्य शोधन, सब में यही दृष्टिगोचर होता है। हो रहा है। तत् पदार्थ भी सर्वज्ञत्वादिमुखी है। कोई भी किसी के साथ नहीं मिलता। दोनों का मुख पलट लो। परस्परतः परस्पर को जान लें। 'असि' पद इसी 'वाम' का संकेत है। भक्त अपने भाव में इस वाम को जान लेते हैं।

हंसरूपं पराग्वृत्तं दक्षिणं तददक्षिणम्।
सोऽहमिति समावृत्तं वामेन दक्षिणायते।
हौंस इति त्वनावृत्तं पदं नयति मन्त्रभूत् ॥१८३॥

हंस रूप से विश्व भूत में जिस पराग्वृत्ति द्वारा दक्षिणायन चल रहा है वह प्रकृत् दक्षिण नहीं है, अदक्षिण है। चराचर में जो प्राणन व्यापार पराग्वृत्ति में चल रहा है, वही है। इस पराग्वृत्ति अथवा व्यावृत्ति से समावृत्ति (प्रत्यग् वृत्ति) कैसे साधित होगी। वामेन् वाम द्वारा ! अब हंस होगा सोऽहं ! इसमें जो अदक्षिण प्राणन् व्यापार है, वह यथार्थ दक्षिण है, किन्तु वाम-दक्षिण दोनों पक्ष का एक महासमन्वय एवं परम समता न होने तक 'अनावृत्त' पद की प्राप्ति नहीं हो सकती। यह समन्वय तथा समता साधित होती है 'हौं सः' मन्त्र द्वारा ! यही है सर्व मन्त्र समूह का भर्त्ता। मध्य में ॐकार. दोनों ओर 'ह एवं स'। दोनों है शक्ति तथा महाप्राणता का सूचक। इनमें हकार = संचित शक्ति (अनलिमिटेड रिजर्व पावर और सकार है सिंचित शक्ति पावर ऐज मैनीफिस्ट, ऐस डूईंग वर्क, रेडियेटेड, चैनलाईस्ड आदि),

ॐकार ही 'ह' कार को 'स' मे लाकर मंत्रों का भरण करता है। 'विभर्त्तव्यय ईश्वर:' प्रणव इसी का वाचक है।

यहाँ देखो, हंसरूपेण जो व्यावृत्ति (वि = आवृत्ति) घटित हो रही है, 'सोऽहं' उसी वाम के द्वारा समावृत्ति आकार की प्राप्ति करता है। प्रथम स्थल में है 'सः' की मुख्यता, द्वितीय में 'ह' की। अत: जो पराग् वृत्त है, वह प्रत्यक्वृत्त हो जाता है। Reversing the Current होता है। प्रथम में शान्त का स्पर्श करते हुये सब कुछ लौटता जा रहा है, centrifugality हो जाती है Dominant। द्वितीय स्थल में शान्तोज्वल तथा उज्वल मधुर भूमि में साक्षात् योगप्रवणता (Centripetality) प्रबल हो रही है। यहाँ भी भक्तगण सोऽहं तथा स: को अपने भाव में प्रत्यक्ष कर लेते हैं। हाँ स: है अनावृत्ति अथवा अनपाय स्थिति का स्थान। अर्थात् समस्त का विभर्त्ता होकर भी स्वयं अव्यय है अच्युत का स्थान है।

यद्यपि हंस साधारण व्यवहार में व्यावृत्ति का स्थान है किन्तु यह लक्ष्य करो कि हंस: आकृति में जो चार अवयव है ह, ं, स्, तथा :, इन चारों में उपयुक्त मात्रादि छन्द: द्वारा सर्वसाधनी शक्ति दी गयी है। अत: हंस: स्वयं एक महामन्त्र है और हंसयोग महायोग है। अनुस्वार तथा विसर्ग का समर्थ मात्रा में व्याहरण होना आवश्यक है। इस सम्बन्ध विशेष का वर्णन यथास्थान होगा। यहाँ केवल यही लक्ष्य करो कि 'हंस:' रूपी स्वाभाविक अजपा में (Immanently, Intrinsically) नादविन्दुरूपी यथायोग्य वामता का साधन करते हुये अदक्षिण अजपा को दक्षिण किया जा सकता है।

११. ऋच्छतेर्मातरिश्वा ॥

(जैसे ऋच्छति में हंसत्व है) ऋच्छति होने पर मातरिश्वा ॥

जो मूल गतिकर्म (Moving as Acting) प्राणन् रूप से है, उसका हंसरूपेण परिचय मिला। इस बार मातरिश्वा का परिचय लो। मातरिश्वा वायु का एक प्रसिद्ध वैदिक नाम है। किम्बहुना यह भी एक मूल शक्ति आकृति है। (Basic Energy Pattern)। मातरि अथवा मातृशब्द में जो अखण्ड आधार योनि (Primary Mother plenum) है, उसको जानना होगा। और श्वन् द्वारा क्या व्यक्त होता है ? सारमेय ? हाँ, तब सारमेय (सरमा से) का तात्पर्य साधारण कुत्ता नहीं है। वेदोक्त सरमा, सारमेय प्रभृति राहस्यिक शब्द हैं। इनकी व्यञ्जना गंभीर तथा व्यापक है। पूर्वोक्त हंस: पक्षी नही है ! सरमा = उषा इत्यादि, परन्तु वास्तविक तात्पर्यार्थ क्या है ? सरमा को ही पाश्चात्यगण हेलेना कहते हैं। सारमेय में सौररूपक सहज ही हो जाता है। खोज करने से विदित होगा कि सारमेय अथवा श्वा ऋताध्वगता अथवा ऋतम् का संकेत है। युधिष्ठिर के स्वर्गारोहण काल में धर्म

ने स्वयं यह रूप धारण करते हुये उनका अनुसरण किया था। Faithful As a Dog कहा जाता है। सृ=सरण अथवा जिससे सरणि=पथ है। सृ के गुण से सर। उसके साथ अ तथा म जोड़ने पर सरमा। अमा=शाश्वत, नित्य, अव्यभिचारी। अतः सरमा=नियत, अव्यभिचारी गति। सारमेय=सरमा से जात। तत्पश्चात् स्वन्, श्वस्, श्वन् का परीक्षण करो। प्रथम दो में 'स' शब्द शक्ति सामग्री को छिन्न (दन्त्य) तथा सिंचित कर रहा है। इसलिये इन दो शब्द तथा प्राण की बहिर्वृत्ति का सूचन होता है, किन्तु 'श्वन' दोनों की तुलना में आन्तर एवं मौलिक है। 'मातरि' के मूल में वह ऋत्‌शब्द स्पन्द रूपेण विद्यमान है।

अब 'मातरि' का क्या तात्पर्य है? आकाश, व्योम? हो सकता है, किन्तु इसे मूल आकृति में लाना होगा। वह क्या? अदिति। वेदमन्त्र की अनुवृत्ति के लिये इस कारिका का चिन्तन करो :—

अदितिर्द्यौर दितिरन्तरीक्षं
वसुधा सा श्रुतिषु या प्रसिद्धा।
अखिलात्माखण्डसदेकसत्वः
किम् यातीतरनिधि दितित्वम् ॥१८४॥

श्रुति समूह में प्रसिद्धा जो अदिति हैं, वे स्वयं द्यौः हैं, स्वयं ही अन्तरीक्ष हैं और वसुधा पृथ्वी भी हैं। मातरि=वह असीम माता। Primary Being-Power Continuum undifferentiated, non-Polarised. इस निखिल विश्ववैचित्र्य के आदिम भाव की भावना की चेष्टा करो। कैसे करोगे? अपनी अनुभूति में वह अभी भी अदितिरूपेण है। तुरीय शुद्ध ज्ञानरूपेण? केवल यही नहीं, अखण्ड भान सामग्री (Fact as a whole) रूप से भी है। अच्छा, अब फिर वही प्रश्न, जो अखण्ड सदेकसत्त्व, अखिलात्मा हैं, वे किस रूप से, कब इतरनिधि (इतर अथवा अन्य के बीज Seed or Container of otherness, Heterogenity), दितिरूप हो गये? undifferentiated Continuum का differentiation। non poler evenness का यह polar un-evenness! उद्भव तो हुआ है, किन्तु कैसे? इसका क्या उत्तर है? अतः किम्। किन्तु दितिरूपा होने पर भी अदिति कभी भी 'न-स्यात्' नहीं हो सकतीं। अखिल माता अपने सत्य तथा ऋत् में स्थित हैं। असत्य, अनृत् का 'मामला' दिति में आया है। आकाशरूप से, प्राणरूप से, नाद इत्यादि रूप से अदिति माता ने समस्त असत्य-अनृत में भी अपने को स्थित कर लिया है। इसका नाना प्रकार से सन्धान करके असत्य, अनृत से सत्य तथा ऋत् में जाना ही होगा। जो निखिल विश्व की स्पन्द राशि स्वन्, श्वस् में है, उसे मातरिश्वा में लेना होगा।

'स्वाहामन्त्रेण चोर्द्धस्थं मध्यस्थं सूच्यते स्वधा।
वषट् तथाहि वौषट् च मनु सूचयतस्त्वधः ॥१८५॥
अदितौ मातरिश्वा यो भविता रुदिमूलतः।
आदित्येऽपि न दैत्यस्त्वं रोदिर्मेति मरुद्गणः ॥१८६॥

अदिति का जो उर्ध्वभाव द्यौ: आकृतिरूप है, वह स्वाहा मन्त्र द्वारा गृहीत हुआ। अन्तरिक्षरूप मध्यमभाव 'स्वधा' मन्त्र द्वारा गृहित हुआ। अधोभाव भी 'वौषट्' एवं 'वषट्' रूपी मन्त्रद्वय द्वारा गृहीत होता है। इन उर्ध्वादि भावत्रय को उच्च-नीचादि अर्थ में नहीं लेना चाहिये। कुंडलिनी शक्ति मूलाधार में रहने के कारण नीच किंवा निम्न नहीं है। केवल शक्ति संस्थान में (In dynamic Set up of any kind) उर्ध्व इत्यादि शब्दों में उत्कर्ष-अपकर्ष का कोई स्थान नही है। जैसे पृथ्वी एवं मेघ में तड़ित के विन्यास में। स्वाहा-स्वधा प्रभृति के सम्बन्ध में सूत्रादि आगे कहे जायेंगे। यहाँ केवल स्वाहा, स्वधा, वषट इन तीनों का शुद्ध उच्चारण करके तीनों की प्राणिक आकृति को लक्ष्य करो। (प्राणिक आकृति = इनर्जी डाईग्राम)। अपने शरीर यन्त्र का उर्ध्व, मध्य, अध: रूपी भावत्रय करते हुए (जैसे मेरुदण्ड के (१) मूल, (२) नाभि तथा (३) कण्ठ एवं उससे उर्ध्व) इन शब्दत्रय का क्रियाभिघात (Functional Impact) लक्ष्य करो।

अब अदिति में जो मातरिश्वा (Primordial, Fundamental creative Pulsation) है, वह स्वयं को 'रुदि' रूपी मूल आकृति में विवर्त्तित करता है। रुद् = रोदन, रु = शब्द करना। विसर्जन क्रिया की संज्ञा इस 'रु' के द्वारा शक्ति क्षेत्र में ओष्ठ की सहायता द्वारा प्राप्त होती है। ओष्ठ = वाल्व प्रिंसपल, जो किसी ओर भी 'मुखीन' नहीं है, उसे किसी मुखीन भाव से नियन्त्रित अथवा चालित करना। अत: रु = Basic Radiation ! दि = यह रेडियेशन अब Conalized तथा Projected होता है। वह कहीं आहत हो रहा है। इसका वर्णन अनाहत सूत्र में किया जायेगा। यहाँ यह लक्ष्य करो कि इसका किसी 'मुख' में शक्ति निक्षेप और कहीं उसका आघात, यह सब सृष्टि का एक मौलिक व्यापार है। Impulsion, sense, Impact यह त्रयी है। प्रणव का आदिवर्ण 'अ' प्रथम का, उकार द्वितीय का तथा मकार तृतीय का सूचक है। किन्तु आघात एवं आहत रूप रहने पर केवय व्यावृत्ति ही होती है। मानो गति रुद्ध होकर रोदन कर रही है। विश्व के समस्त क्लेश का मूल है रुदि। Pain is Impeded movement की उक्ति सत्य है। रुद्र से रुद्र इत्यादि। रुद् वह है जो 'रुद्' के 'द' कार लक्षित तथा आहत रुद्ध रूप को चूर्ण करने में समर्थ ('र' कार) है। रो = निरोध आकृति की काष्ठा होने पर रुद् + र। रुद् एवं रुध् में कुछ वैलक्षण्य है। 'द' कार एवं 'ध' कार का। इसकी विवेचना फिर होगी।

जब तक अदिति से 'रुदि' रूप नहीं आता, तब तक इस विश्वव्यवहार की उत्पत्ति नहीं होती। एक मूल Starin तथा Constraint किसी प्रकार से आना चाहिये। यही है 'मातरिश्वा' का मरुत् रूप। यह मरुत् अकेला नहीं रहता। तभी यह मरुद्गण है। यह मानो जात होकर जन्म लेकर रोदन करता है। क्योंकि यह आघातभाक् होगा। किन्तु अदितिमाता इसे सान्त्वना देते हुये कहती हैं, 'तुम हमारे आत्मज हो, आदित्य हो, तुम दैत्य नहीं हो। अतः रोदन मत करो (मा रोदीः)'। तब मरुत् रोते-रोते कहते हैं 'तुमने हमें घात-प्रतिघात द्वारा चूर्ण-विचूर्ण किया है। तुम्हारा जो 'परायण' एवं 'अनाहत्' स्वरूप मातृत्व है, वह मुझे दो। उसमें मुझे रक्खो'। विश्व के समस्त घात-प्रतिघात की आन्तरभूमि में यही अनिर्वाण आकृति है।

१२. आकाशः परायणः ॥

आकाश है पर, रूप, किंवा आधार एवं अवसान भूमिरूप अयन (गति एवं लक्ष्य) ॥

मरुद्गण रोध प्रतियोगी होने पर भी 'दैवतम्' हैं। विश्वव्यवहार में रोध (रेजिस्टेन्ट फैक्टर) सर्वविध गति को बाधा देता है। वह बाधा देते हैं पंचाकृति में रुद्, रुध्, रुज्, रुच तथा रुष्। इनका वर्णन अनाहत सूत्र में होगा। रुद् में रोध की संभावना तथा प्रवणता (प्राबेबिलिटी एण्ड टेन्डेन्सी) अव्यक्त भाव में होती है। द्वितीय में अर्थात् रुध् में रोध स्पष्ट तथा व्यक्त रहता है। (यहाँ अवरोधादि चतुर्विध रोध का पुनः चिन्तन करो)। तृतीय में अर्थात् रुज् में रोध के कारण कार्यकारी शक्ति जिक्षगा होकर रोधव्यूह (जैसे अवचेतना में Complex due to fixation) की तैयारी करती है। इस बद्धमूल रोध संस्कार को रुज् (रोग) कहा गया है। बचे रुज् तथा रुष्। ये दोनों पहले तीन रोधों द्वारा बाध्य राग एवं द्वेष हैं। इन पंचधा रोध के कारण विश्व व्यवहार के मूल ऋतायन तथा ऋताध्वगता का व्यतिक्रम घटित होता है।

'रु' शब्द में जिस Valve principle (ओष्ठ्य वृत्ति) का इङ्गित है, उससे यह सूचित होता है कि मूल से जो ऋतम् की धारा निःसृत है वह एक रहस्य सन्धि में आकर बोधपञ्चक की कुक्षि में पतित हो जाती है। जैसे दो ओर दो मुख ! एक है दैवी की ओर। यह है छन्दो विशाल ज्योतिर्विशाल। दूसरा है आसुरी मुख की ओर। यह है रोध बहुल तथा बाध संकुल ! Harmony and disharmony इन दोनों मुख में समस्त को चालित करने के लिये विश्व के 'कारबारी बन्दोबस्त' में एक स्विचबोर्ड रहता है। इसी सन्धि में 'मरुत्' अवस्थान करते हुये सब कुछ की गति को दैवी प्रेरणा प्राप्त करने का सुयोग प्रदान करते हैं। As Inspirer and guide of

higher functioning. मरुत् रहते हैं गति सिद्धस्थल में ! यह हैं समस्त गतिवर्त्म के मेरु में दैवी अध्यक्षता के प्रतिभू । विशेष-विशेष स्थल में रुद् में मातरिश्वा, रुध में इन्द्र, रुज् में अश्विनीकुमार, रुच् में सोम, रुष् में अग्नि अथवा रुद्र !

प्रश्न उत्थित होता है, रोध समूह की चरम अवसान भूमि कहाँ है और वह क्या है ? बोधपंचक की निरसनी क्रिया (रिसाल्विग दि रेजिस्टेन्स फैक्टर) चल रही है । दैवी-प्रेरणा तथा चालना के अभाव में वह अव्याहत रूप से अन्त तक नहीं चलती । 'प्रचोदयात्' मन्त्र के द्वारा उसी दैवी परमाशक्ति के साथ अपने-अपने यन्त्र को संयुक्त करना होगा । इसका अवसान कहाँ है ? आकाश में ! वह 'आ' व्याप्ति तथा काष्ठा सबकुछ को 'काश' (अवकाश-प्रकाश) देने की भूमि है । यह आकाश (छान्दोग्य प्रभृति श्रुति के अनुसार) ज्यायान्, गति तथा परायण है !

आकाश 'खाली' (Void) नहीं है, स्पेस नहीं है । ईथर आदि भी नहीं है । यह सब अध्ययन हम पहले कर चुके हैं । श्रुति ने इस आकाश (आकाशस्तल्लिङ्गात् इत्यादि प्रसंग में) को ब्रह्म कहा है । और यह भी कहा है कि आकाश संभूत है ! यह भी है कि आकाश ने ईक्षण किया ! इन सबके समन्वय का रक्षण करते हुये आकाश की भावना इस प्रकार से करो 'जगद्दृष्टि है गति की दृष्टि' । यद्यपि बाह्यत: पदार्थ समूह का स्थितिरूप परिलक्षित होता है; तथापि वह आभासिक (एपरेन्ट) तथा आपेक्षिक (रिलेटिव) है, जैसे यह प्रस्तर खण्ड ! और प्रतीति रूप से (ऐज परसेप्शन) सब कुछ नियत परिणामिनी धारारूप में ही आते-जाते हैं । Stream of Consciousness : you Can never bathe twice in the same stream !

अच्छा ! गति अथवा ऋच्छति का विश्लेषण करने पर प्राप्त होती है (१) क्रमिकता, (२) छन्दोगत्व (३) उदय-विलय, किंवा आवृत्तता ! यद्यपि गनि को इन्हीं रूपत्रय में प्राप्त किया जाता है, तथापि रोधपंचक मुक्त शुद्ध आकार में प्रतीति तथा व्यवहार की प्राप्ति नहीं होती ! इसलिये हमारी प्रतीति अथवा व्यवहार की गति (ऋच्छति) यथार्थ ऋतम् रूप से प्रस्फुटित नहीं होती । क्रम, छन्द तथा आरम्भ-अवसान रूपी दिक् के द्वारा (अनृत द्वारा) ऋत् का मुख अपिहित है । यही है विज्ञान-प्रज्ञान में अपिधान-निराकरण प्रयास ! जपादि साधन का यही एक उद्देश्य है । क्रमशुद्धि-छन्दशुद्धि तथा आरम्भ अवसान की शुद्धि को साधना ही साधन कहा जाता है ।

पहले अस्ति, भाति, ऋच्छति, प्रीणाति रूपी भावों का विचार हुआ है । इनमें इस ऋच्छति को पकड़कर रोध ही नाना रूपों में कुंठित-गुण्ठित आदि भावों का आनयन करता है । उसी ऋच्छति के ही द्वारा रोध का शोध करना पड़ता है । यदि

हम रोध को रेजिस्टेन्स फैक्टर = R कहें, तब तब यह प्रश्न उत्थित होता है कि 'अच्छा ! ऐसी कौन सी भूमि है, जहाँ रोध (R) कम होते-होते पूर्णतः नास्ति (R = O) हो जाता है ? वही भूमि है अस्ति, भाति, ऋच्छति तथा प्रीणाति का अव्याहत अवकाश तथा प्रकाश। यही आकाश है। 'एषः आनन्दः' इत्यादि ! लक्ष्य करो कि ऋच्छति = O। यह समीकरण आकाश में नहीं होता। ऐसा करने पर आकाश = निर्विशेष ब्रह्म। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि प्राणब्रह्म तथा ऋतम् की रोध-रहित भूमि के रूप में भी आकाश है।

को ज्यायानस्ति सर्वेषां का गतिः किं परायणम्।
इति काष्ठानुसन्धानमाकाशं नयति ध्रुवम् ॥१८७॥

व्यवहार में क्रम (सिरीज) मात्र ही एक अवम् (मिनिमम) तथा चरम (Maximum) काष्ठा का द्योतन कराता है। किन्तु किस भूमि में क्रम जाकर यह कहेगा "यह देखो ! मैं ज्यायान् हूँ" ? गति अर्थात् छन्दः और विशेषतः गति का रूप (sense) तथा मुख (Direction)। यह गति किस भूमि में अपने आदर्श से मिलेगी ? सेन्स तथा डाईरेक्शन तो बदलते जाते हैं, तथापि वे कहाँ जाकर यह कहेंगे कि "इस बार अच्छी तरह से देख लो"। परायण का तात्पर्य आरंभ तथा अवसान, उदय तथा विलय हो सकता है, किन्तु अयन (जैसे उत्तरायण-दक्षिणायन) किस भूमि में आकर 'पर' (परीवरीयान् क्रम से यहाँ परत्व वरत्व का विश्राम है) भाव का प्रदर्शन करेगा ? कहाँ जा कर 'अयन' कहेगा "यहाँ-वहाँ जाकर आपेक्षिक और आभासिक अवसान क्यों प्राप्त करना होगा ? इस भूमि में देखो, मूलतः तथा वस्तुतः समस्त का आरंभ और अवसान हो रहा है"।

यदि आकाश का अन्वेषण इस प्रकार से करो, तब यह आकाश नादरूपेण, विन्दुरूपेण तथा निखिल कलनी शक्ति अथवा कलारूपेण स्वयं को अभिव्यक्त करेगा। विन्दु में है परमाकाश ! विन्दु के लक्षण का पुनः चिन्तन करो "तत्र शून्यत्वपूर्णत्वे एकत्र' इत्यादि। जहाँ सब कुछ का जो आदि आरंभ तथा अंतिम अवसान है (ऋच्छति, सर्वविध रोधरहित भूमि), उसे यदि आकाश कहो, उसे आकाश संज्ञा दो, तब यह आकाश Physical Space कदापि नहीं है। (जिसे आइन्स्टीन प्रभृति ने निरूपित किया है)। अन्य किसी भी ढ़ाँचे में खोजने पर यह आकाश नहीं मिल सकता। लेकिन इसे प्रयोजनानुसार साधनादि अथवा विज्ञानादि व्यवहार में लाने के लिये उपाधि (कन्डीशन) से अपहित (सब्जेक्ट टू कन्डीशन) किया जाता है। जैसे व्योमाकाश, दहराकाश आदि।

और भी लक्ष्य करो कि आकाशभूमि पर्यन्त उन्नीत हुये बिना ऋच्छति सम्यक्रूपेण ध्रुव नहीं होती। विश्व व्यवहार में कर्म तथा नियति का जो रूप है,

उसमें ध्रुव-अध्रुव की प्रतियोगिता चलती रहती है। अतः Nature is a mixture of Law and Chance. इस प्रतियोगिता से उर्ध्व जाने के लिये आकाश का आश्रय लेना होगा। जपादि साधना में क्षितितत्व से आकाशतत्व में उन्नयन की धारा का स्मरण करो। 'हंसः' रूपी मूल प्राणनबीज में विसर्ग के साथ 'स' कार को 'हं' रूपी नादविन्दु कलायुक्त त्रिवेणी से मिलाने पर यह 'हं' रूपी आकाशबीज है। विसर्ग के साथ 'स' कार को मिलाने का तात्पर्य क्या है? स=सिचित् शक्ति। रेडियेटेड एनर्जी। 'स' के पश्चात् स्थित विसर्ग से यह सूचना मिलती है कि यह शक्ति का बहिःप्रक्षेप है। मुख को उलट कर 'स' को 'ह' कार में विसर्जित करते हुये शान्त तथा रोध रहित हो जाओ। सोऽहम्। 'हं' को अहंकार नहीं होने देना। अहं ही एक ओर स्वर व्यञ्जन मातृकारूपेण स्थित है, परन्तु दूसरो ओर अ + हंकार=हंकार का अभाव अर्थात् अन्यथा प्रतीति। जो स्वरूपतः रोधरहित तथा शान्त है, उसका रोधरुद्ध भाव ही है 'अहंकार'।

१२. आकाशो ह्यनाहतः॥

आकाश ही स्वरूपतः अनाहत है॥

विश्व में सर्वत्र (अणु-महान्) आकर्षणी तथा विकर्षणी वृत्ति की क्रीड़ा चलती रहती है। यह सब प्राण प्रसंग में विस्तृत रूप से विवेचित होगी। 'हंसः' रूपी शाब्दिक आकृति में दोनों वृत्तियाँ सक्रिय एवं व्यक्त हैं। जैसे वेद 'निश्वसित' रूप से ब्रह्म का विसर्ग रूप है। 'हंसः' आकृति में सः द्वारा विसर्ग अथवा प्रक्षेप और 'हं' द्वारा संचय एवं संग्रह का मुख्यतः द्योतन होता है। 'पराञ्चि खानि व्यतृणत्' विश्व में शक्ति संचय तथा शक्ति व्यय की समता नहीं है। व्यय का ही बाहुल्य है। अतः व्यष्टि में तथा समष्टि में जगत् क्षयिष्णु (universal Running Down) है। सः की आहुति हं में। हं उर्जित है। सः उसमें विसृष्ट है। इस प्रकार से 'ह' के सवन में ('स' द्वारा) ॐ को ध्रुव स्थानीय करो। फलतः सोम, सोऽहं, होम रूपी आकृति त्रय में (हं से व्यावृत्त तथा निरन्तर-प्रक्षिप्त एवं आहुत) 'स' की समावृत्ति घटित होती है। और जो अबतक निरन्तर-प्रक्षिप्त तथा आहत था, वह शान्त एवं अनाहत भूमि को प्राप्त कर लेता है। 'अहं तथा सः' ये दोनों द्वन्द्वस्थ होकर हमें प्रतीति (एक्सपीरियेन्स) कराते हैं। इन दोनों में से 'सः' एक विराट अनात्म आकृति (Colossal Not-Self) में हमारे अहं को 'हं' रूपी अभाव के आकार में प्रदर्शित करता है। इसी कारण विश्व एक अन्तहीन बन्धन तथा एक महाभय स्वरूप प्रतीत होता रहता है।

तथापि वह वास्तव में क्या है? 'आत्मैवेदं सर्वम्'! समस्त विश्वच्छवि एक प्रक्षेप (प्रोजेक्शन) है। कहाँ किस आधार में? 'हं' अथवा आकाश रूप जो परा-

यण है उसमें, किन्तु मध्य में कुछ अन्तरीक्ष परम्परा (Media) अथवा व्यवधान रखकर। अतः यह साक्षात् अव्यवधान नहीं रह जाता ! यद्यपि वर्णमाला के ही समान यहाँ भी 'ह' तथा 'स' आसपास ही हैं, किन्तु पारस्परिक रूप से 'अदक्षिण' होने के कारण इनका सम्पर्क 'पराक्' हो गया है। जैसे किसी वृत्त की परिधि में आसपास के दो विन्दु। यदि 'क' विन्दु समस्त परिधि मे घूमता हुआ 'ख' के सम्मुख होना चाहता है, तब तो अनेक कठिनाइयाँ हैं। परिधि भी सहज तथा सुषम नही है। व्यवधान परम्परा के ही कारण है रोधपरम्परा। रोधक का पंचावयव पहले वाले सूत्र में विवेचित हो चुका है। 'सः' में 'हं' का सवन अथवा हवन='वामेन दाक्षिण्यम्'। कार्यतः एक सीमाहीन परिधि की अन्तहीन चढ़ाई-उतराई की परिक्रमा करके 'हं' में आना होगा, ऐसा क्यों सोचते हो ?

अतः पलट दो। जो परायण रूप आकाश है, वह तुम्हारे अनन्त आक्षेप-प्रक्षेप, घात-प्रतिघात की शान्त शाश्वत, अनाहत भूमि के रूप में तुम्हारे ही आधार में है। नादानुसन्धानादि सभी इस अपरोक्ष अनुभूति को मिलाने के लिये हैं। 'सः' आकृति में सवन अथवा आहुति के साक्षात् रूप को लाने के लिये प्रणव के मध्यमवर्ण 'उ' को विसर्ग स्थल में स्थापित करो। अब सू=शोभन, सुषम 'सु' धातु। अब इसमें आहुति की स्वाभाविक आकृति 'आहा' को स्थापित करो=स्वाहा। यह सब स्वाहासूत्र में विशदरूपेण विवेचित होगा। हत-आहत-हताहत रूपी भूमित्रय से अनाहत भूमि में आने के लिये समस्त कायिक-वाचिक-मानसिक साधनों में (तथा विज्ञान व्यवहार में भी) पूर्वोक्त हंसः हवन को 'वामेन' साधित करना होगा। 'वामेन' अर्थात् Reversing the sense and direction। महामुद्रा, योनिमुद्रा युक्त प्राणायाम शरीर द्वारा, तारचक्रादि व्याहरण वाक् द्वारा, अनासक्ति अस्पर्श प्रभृति को मानस साधन द्वारा करते हुये इस 'वामेन' हंस हवन को निष्पन्न करना होगा।

हतं किञ्चिद् जगद्वृत्त माहतं वा हताहतम्।
अस्ति ह्यनाहतं किञ्चित्तन्यैवाकाशता मता।
सम्यक्तयावरोधादिरोधानां रोधनं स्वयम् ॥१८८॥

जगतस्थ समस्त वृत्ति हत होती जा रही है। (Functionally arrested and stopped) अथवा आहत होती जा रही है। इस आहत रूप की चतुर्धा उपलब्धि हम करते हैं :—

(क) कोई अथवा कुछ गतिवर्त्म मे आकर उसे बाधा पहुँचाना चाहता है, तथापि अभी भी उसके प्रभाव में (इन्फ्लुयेन्स) में कोई बाधा नही आ सकी है। जैसे किसी प्रतिकूल ग्रह की परोक्ष दृष्टि अथवा छायापात। किसी रोग के बीजाणु के शरीर में प्रविष्ट होने पर उसका प्राथमिक प्रच्छन्न भाव (Incubation etc.)

(ख) रोध के कारण कोई निर्दिष्ट गति (अध्यात्म साधन में अथवा बहिर्विज्ञान में) व्यक्त अथवा प्रकटरूपेण मन्दभूत (Weakened) हो रही है। यह है Showing Down। (क) में जो अप्रकट बाधा मात्र ही थी वह अब यहाँ स्पष्टतः अन्तरायरूपेण प्रकटित है। इस प्रकार से वह सम्यक्रूपेण विश्लेषण योग्य Definitely analysable and analytically treatable) हो जाती है।

(ग) जैसे (ख) के गतिवेग में (मोमेन्टम में) मन्दीभाव आ रहा है, तथापि अभी गति का रूप तथा मुख (सेन्स एण्ड डाईरेक्शन) परिवर्तित नही हो सका। अब वह गतिमुख परिवर्तित (डाईवर्ट) हो रहा है।

(घ) केवलमात्र मुख ही नहीं, रूप अथवा आकृति भी परिवर्तित (Perverted) हो रही है।

इन चार प्रकार के आहत रूप के कारण रोधक को चार नामों से अभिहित किया जाता है। यथा—गतिबन्धक, अन्तराय, परिपंथी तथा विरोधी। प्राकृत प्रापण में जो हंसः है, उसमें भी यही चार आहतभाव दृष्ट होते हैं। किन्तु विज्ञान तथा अध्यात्म योग में हंसः को इस प्रकार से वृतिमान (संचरण विज्ञान में रेडियम) होना चाहिये, जिससे ये चारो आघात स्थान उच्छिन्न हों और अनाहत भूमि में गति प्राप्त हो !

इसका दृष्टान्त है रेडियो जातीय पदार्थ। इस प्रकार के पदार्थों में 'सः' आकृति में निरन्तर तेजः विकिरण घटित होता है। यह विकिरण अल्फा, बीटा, गामा, रेज आदि संज्ञाओं से युक्त है और यह आहत तथा हत होता रहता है। यहाँ यह स्मरणीय है कि पदार्थों की केन्द्रीण सत्ता तेजः की एक अन्य भूमि में विद्यमान रहती है। यह उनकी तुलना में अनाहत है और बाह्य ताप-चाप आदि के आघातों से अभेद्य तथा दुर्भेद्य भी है। वर्तमान में उपाय के द्वारा (Fission) केन्द्रीण सत्ता भी आहत होकर प्रभूत शक्ति को प्रक्षिप्त कर रही है। अर्थात् केन्द्रीण 'हं' अपना हरण होने पर भी 'सः' का समधिक पूरण करता जा रहा है। फलतः बनता है 'आणविक बम'। अब यह प्रश्न उत्थित होता है कि जड़ अणु में वास्तविक ध्रुव अनाहत स्थान कहाँ मिल सकेगा ? वृक्षलता प्रभृति के पत्ते में क्लोरोफिल सूर्य किरणों के हंसरूप प्राणापान का सम्पादन करता है। 'सः' रूपेण किंचित् विसर्जन करते हुये 'हं' रूप से कुछ ग्रहण करता है। अब यहाँ एक प्रश्न है—प्राण के द्वार की ओर चल पड़ने पर वह ध्रुव अनाहत स्थान कहाँ मिलेगा ? ऐसा कौन सा प्राण है जो असुरों के द्वारा विद्ध नहीं होता ? चेतना के दृष्टिकोण से भी सन्धान करो ! यह सब प्रयोजनीय प्रसंग हैं। इनका अनुसरण क्रमशः किया जायेगा। यहाँ यह लक्ष्य करो कि आहत भूमि परम्परा से होते हुये अनाहत भूमि की ओर 'परोवरीयान्' रूप से अग्रसर होने पर भी विज्ञान का अनुसन्धान और प्रज्ञान का अनुधावन साधित

हो सकेगा। इस Continual destruction में निरापत्ता अथवा विश्रान्ति की भूमि कहाँ मिलेगी ? बाहर-भीतर दोनों ओर यह खोज चलती रहती है। गति एवं परायण युक्त होने पर (सबसे ज्येष्ठ तथा गरिष्ठ जो पदार्थ है) आकाश ही अन्तिम गन्तव्य है। आकाश वह पराकाष्ठा है, जहाँ रोध (R) का ह्रास होते-होते वह शून्यवत् हो जाता है !

हताहत् रूपी एक और भी आकृति है। यह व्यक्त तथा प्रकट भूमि में हत् (Arrested, stopped) होने पर भी अप्रकट भूमि में संस्कारादि आकार में 'आहत' भाव को प्राप्त हो जाती है। हमारे मन्त्र चैतन्य आदि में इस हताहत् का दृष्टान्त सर्वत्र मिलता है। साधना में इन सब की सम्यक् जानकारी होनी चाहिये। जपादि के द्वारा क्षितितत्व से होकर जलतत्व प्रभृति में उन्नीत होते-होते क्रमशः अनाहत भूमि की ओर अग्रसर होना पड़ता है ! जैसे जपध्यानादि को समाप्त करके उठे। अब अपतत्व (जलतत्व) में गति होने पर जपादि के समापनोपरान्त भी कथंचित् अप्रकट रूप से उसकी धारा अविच्छेद रूप से चलती रहती है। जप का सांङ्ग होना=जपभंङ्ग नहीं होना। इस प्रकार अप्रकट रूप से जपवाहिता द्वारा वाक्-प्राण-मन तथा दृष्टि की एक प्रकट धीरवृत्तिता और प्रसन्नवृत्तिता का अनुभव होने लगता है। इस स्थिति में सावधान रहना चाहिये। इसे बलात्, सहसा, वाक्, प्राण, मन तथा दृष्टि के बाहर अथवा आभ्यन्तर के किसी आघात स्थान में उछाल कर फेंकना उचित नहीं है। जैसे अत्यन्त गर्म वातावरण से हठात् ठंड में बाहर आने से अथवा सहसा अत्यन्त उच्च से निम्न भूमि पर आने से हानि की अधिक संभावना ही रहती है। अतः धीरे-धीरे स्वस्थ चित्त द्वारा इन चारों को (वाक् प्राण आदि को) प्रसन्न धीर रखते हुये 'बाह्य' स्थिति में (By slow gradient) उतरना चाहिये। केवलमात्र जपादि में ही नहीं, प्रत्युत्, इससे पूर्व तथा पश्चात् भी बलात् तथा-हठात् विषयान्तर में गतिशील होना वर्जनीय है। इसका पालन न करने पर अनेक स्थल में सौष्ठव के साथ सम्पन्न जप भी हत्-आहत् आदि के कारण दुर्बल तथा विफल हो जाता है।

१४. अनाहतेऽव्याघाते हंस ऋतं बृहत् ॥

अनाहत् भूमि में जो अव्याघात है, वह हंसः का पर रूप अथवा उत्कृष्ट रूप है। यही है 'ऋतं बृहत्' ॥

जहाँ पर बाधा शून्य में पर्यवसित (R=O) हो जाती है, वही अनाहत् है। दो सूत्रों में इनकी विवेचना हो चुकी है। और भी अन्य स्थलों पर रोधक देश, काल, वस्तु तथा सम्बन्ध (छन्द) के दृष्टिकोण से अवरोध-प्रतिरोध, निरोध-विरोध का वर्णन अंकित है। अब चार सूत्रों द्वारा इन रोधचतुष्ठय का निरसन तथा अभाव हंसादि चतुः रूप द्वारा किया जा रहा है। प्रथमतः है देशजन्य 'अवरोध'। जिस देश

में ऋच्छति अवरुद्ध नहीं होती, वह देश है हंस। अतः इसी हंस के अन्त में 'ऋतं बृहत्' रूप से हंसवती ऋक् कीर्त्तिता है। यहाँ देश का तात्पर्य किसी भौतिक देश (फिजिकल स्पेस) से नहीं है। यह वर्त्तमान वैज्ञानिकों वाला 'अवकाश' (Pure) even open field) नहीं है। आणविक स्पेस (फील्ड) तथा भौतिक स्थूल देश में पारस्परिक वैलक्षण्य है। समन्वय का भी प्रयास विद्वान कर रहे हैं (जैसे united field)। वर्त्तमान काल में भारतीय वैज्ञानिक मनीषा इस प्रयास में अग्रणी है। फिर भी यह विवेच्य है कि वेदमन्त्रों तथा आगमों में 'हंस' जिस 'ऋतं बृहत्' रूप से वर्णित है, वह महासमन्वयी रूप कब प्राप्त होगा ?

यद्यपि देश-काल आदि चार प्रकार के रोध के दृष्टिकोण से देखने पर वर्त्तमान में हंस इत्यादि चार रहस्यमय भाव पदार्थ का द्योतन होता है, तथापि प्रणिधान द्वारा यह उपलब्धि होती है कि इन चारो रोध और उन-उन रोधों का निरसन निवृत्ति स्थल परस्परतः व्यावर्त्तक नही है। व्यावर्त्तक की स्थिति में महासमन्वय साधित हो सकना ही सम्भव नहीं था। हंसादि चारो भाव परस्परतः संवादी हैं। एक पूर्ण संवाद में वे परस्परतः 'परस्परं विवदन्ते' नहीं हैं, प्रत्युत् वे हैं 'संङ्गच्छन्ते' ! हंस में सब प्रकार के अवरोधों को हटाने की, निरसन करने की काष्ठा विद्यमान है। श्री भगवान् ने हंस गीता में हंसरूप अहं पदार्थ की शोधन-काष्ठा का प्रदर्शन किया है। तांत्रिक आचार विशेष में अहं अथवा अहमिका की प्रतीक जो प्राकृत सुरा विहित है, उस सुराशोधन की मन्त्ररूपता भी शिवशासित है 'हं' = सोमार्द्धधारी शिव। सः = शक्ति। इस प्रकार से शिवशक्ति तत्व ही अनुलोमतः हंसः है। इसका विलोम है सोऽहम्। दोनों का मिलन = सामरस्य। यद्यपि हंसवती ऋक् 'ऋतं बृहद्' रूपेण श्रुत अवश्य है तथापि विश्वदृष्टि से देखने पर यह ऋतम् भी चतुष्पात् है, यथा ऋतं बृहत्, ऋतं शश्वत्, ऋतं महत् और ऋतं ततसत् ! ये चारो क्रमशः देश-काल सम्बन्ध तथा छन्द एवं वस्तु को विशेषरूप से अधिकार में रखते हैं। इन चारो हंस की भावना हंस ताक्ष्र्य = सुपर्ण तथा विहायस (विहग) रूपी रहस्यमय पक्षियों के रूप में 'हंसादि सूत्रचतुष्ठय' में अंकित है। ये सब विश्वानुस्यूत मौलिक 'ऋतम्' की आकृतियाँ हैं।

अब रोधिका शक्ति की रात्रिरूपेण भावना करो—

> याऽसौ रोधिका रात्रिर्ज्योतिषा बाधते तमः।
> निरोधिका महारात्रिः कालरात्रि प्रवीत्यतः ॥१८९॥

> योऽहरात्र्यावरुध्येतानाहतो यो न रुध्यते।
> तत्र देशेषु यो मुक्तः स हंसः परिकीर्तितः।
> हंसवत्यामृचीरितो वरुणं यो वुवूर्षते ॥१९०॥

वेदों में रात्रिसूक्त प्रभृति में जो रात्रि वर्णित है और जो इस ग्रन्थ में भी बहुधा चित्रित है, वह रात्रि रोधिका होने पर भी ज्योतिरूप में तमः का रोध(बाध) करती है। अतः उस रात्रि को प्राकृत तामसी रात (राति) मानना उचित नहीं है। अप्राकृत शुद्धा तामसी भी एक परम भाव है। इसकी विवेचना गुणत्रय प्रसंग में होगी। जैसे सत्व (P), रजः (m), तथा तमः (v) रूपी तीन वृत्त हैं। प्रकृति के साधारण व्यवहार में (In applied naturalism or behaviarism) ये तीनों वृत्त परस्परतः संयुक्त रहते हैं। उनमें पारस्परिक अनुप्रवेश की मात्रा तथा अनुपात निश्चित रहता है। सुषुप्ति में तथा प्रलय में इनकी पारस्परिक मात्रा तथा अनुपात में समता हो जाती है। प्रत्येक वृत्त मानों कहता है "यह देखो मेरी 'भागीदारी' तुम्हारे ही समान है। अतः आओ। हम एक युद्ध विराम घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर करें।" परन्तु पादमात्रा की इस समता तथा सन्धि की स्थिति कला में (In respect of Partials) होती है। काष्ठा में नहीं होती (Not final Synthesis or Consummation)। जैसे V वृत्त अपने में अन्य दो वृत्त P तथा M को मिला लेता है। परिणामतः p तथा m 'न स्यात्' नहीं हुये, प्रत्युत् वे V के ही भावान्तर हो गये। V की स्वतन्त्रता तथा पूर्णता की भूमि अन्य दोनों के निःशेष की भूमि नहीं हो सकी, प्रत्युत् उनकी भी स्वतन्त्रता तथा पूर्णता की भूमि हो गयी। यही है, अप्राकृत शुद्धा तामसी।

अब यहाँ यह लक्ष्य करो कि रोधिका के चार व्यावहारिक भावों में निरोधिका = महारात्रि। प्रतिरोधिका = कालरात्रि। अवरोधिका = मोहरात्रि। विरोधिका = अराति रात्रि। इनमें अवरोधिका विशेषतः देश सम्बन्धिनी है। देश केवलमात्र Space नहीं होता। जो अवरोधिका रात्रि के द्वारा अहः (दिवा) का अवरोध करता है, तथापि स्वयं अनाहतभूमि में रहकर रुद्ध नहीं होता, अर्थात दिवा अथवा रात्रिरूपी किसी भी स्थल में किंवा देश में जो अवरुद्ध नहीं होता, प्रत्युत सभी स्थलों में जो मुक्त (free) रहता है, उसे विशेषतः हंस कहते हैं। हंस = आदित्य = प्राण प्रभृति समीकरणों के द्वारा इस दैशिक अवरोध मुक्त भाव की भावना करो। ये सर्वस्थलों में तथा देश में अबाधित, अव्याहत ऋच्छति के अवस्थान हैं। आदित्य तथा प्राण शब्द को 'अवरुद्ध' रूपेण ग्रहण करना उचित नहीं है। यद्यपि विज्ञान ने कास्मिक रे इत्यादि को ऋच्छति की वरीयसी आकृति में उपलब्ध किया है, तथापि वे सब हंस की तुलना में न्यून हैं। अर्थात् जड़ विश्व ही सर्वत्रग नहीं है। प्राकृत जगत में रोध सर्वत्र मुख्यतः friction (घर्षण) के रूप में गतिरोध करता है। परन्तु सलिल वक्ष पर संचरण करने वाला हंस अपने अंग को गीला किये बिना ही संचरण करता रहता है।

रोध का एक अन्य रूप है सांकर्यं मिश्रता (हेट्रोजेनिटी)। कुछ भी अपनी गति के लिये Perfertly Homogeneous medium अथवा फिल्ड field प्राप्त नहीं कर सका। हंस: अपने 'ह' (अनुस्वार) तथा स (विसर्ग) रूपी अंगद्वय द्वारा क्या करता है ? विषम मिश्रता को भंग करते हुये (क्षीरमिवाम्बुमिश्रम्) शुद्धता तथा समञ्जसता को ग्रहण करता है। अपनी गति के लिये इस प्रकार घर्षण रहित (friction free, Homogenous pure field) स्थिति प्राप्त करने के लिये 'हंस:' ही पूर्णसमर्थ है 'सर्वभूतेषु मुक्त:''। विश्व प्राण के अजपारूप में यह है निरन्तर 'ऋच्छति'। जप में इसका "ऋतं बृहत्" रूप समाश्रय करने पर सर्वत्र ही अवरोधिरहित भूमि में स्थित हुआ जा सकता है। प्राकृत (साधारण) अजपा में (श्वासोच्छ्वास में) हंस: अपने स्वभाव में नहीं रहता, अतः प्राणादि में श्रम होने का फल है मृत्यु। हंस में संचित तथा निचित, आकर्षणी (केन्द्रीण) तथा विकर्षणी (केन्द्रापसारी) cntripetal and Centrifugal शक्तिद्वय का सुषमानुपातित्व संसाधित होना ही है हंसयोग।

हंसवती ऋक् में हंस ऋतं बृहद्रूप से इरित हो रहा है। इसे पूर्वोक्त विचार तथा अनुभव की सहायता से समझ लो। 'बृहत्' शब्द के द्वारा विशेषत: सर्वग, सर्वत्र सूचित होता है। अतएव कहा गया है 'वरुणं यो वुवूर्षते'। जिन्होंने वरुण का वरण करने की इच्छा किया है। वरुण जल के अधिष्ठातृ देवता अवश्य हैं तथा हंस भी सलिल का ही वरण करता है, यह भी सत्य है तथापि यहाँ सलिल तथा जल यह पाँचभौतिक जल नहीं है, यह तथ्य बारम्बार कहा जा चुका है। सलिल अर्थात् = friction free, Homogenons medium। वेदमन्त्रों में वरुण को आकाश, अदिति प्रभृति रूपों द्वारा भी भावित किया गया है। वरुण रूपी आकृति द्वारा समस्त सीमाओं के परे स्थित असीम अदिति का जो समस्त अव्यक्त तथा व्यक्त में सर्वव्यापक हैं उनका द्योतन होता है। अतएव वे Continuum both as immanent and transendent हैं। इस वरुणरूपा परमाकाष्ठा का वरण करने की इच्छा 'हंस' द्वारा होती है।

सर्वत्र रूप से चिन्तना हो चुकी। अब सर्वदा रूप से इसे देखना है—

१५. अनाहतेऽप्रतिघाते ताक्ष्र्यं ऋतं शश्वत् ॥

अनाहत स्थल में जहाँ विशेषत: अप्रतिघात लक्षित होता है, वहाँ ऋतं शश्वत् रूपी (अरिष्टनेमि) ताक्ष्र्य (गरुड़) की आकृति है ॥

सर्वदेशेषु (सर्वत्र) मुक्त:' रूप से हंस का परिचय प्राप्त किया। पहले सर्वकालेषु (सर्वदा) युक्त:' रूप से हंस का परिचय प्राप्त किया। अब 'सर्वकालेषु (सर्वदा) युक्त' ताक्ष्र्यरूपेण उनका दर्शन करना है। पूर्वसूत्र में अनाहत के स्थान पर

अव्याघात (अनवरोध) वर्णित था। वर्तमान सूत्र में अनाहत के स्थान पर अप्रतिघात (अप्रतिरोध) का प्रयोग किया गया है। वर्णमाला के आदि 'अ' तथा अन्तिम वर्ण 'ह' विसर्ग को ग्रहण करने से पर है अहः (काल का रूप)। यह है काल का विस्तार (नादमुखी) रूप। यह ज्ञातव्य है कि काल का सूक्ष्मरूप (विन्दुमुखी) भी होता है। कालिका तत्व के प्रसंग में इन दोनों की विवेचना की जा चुकी है। 'अ' तथा 'ह' कार के पश्चात अनुस्वार का योग करने से हो जाता है 'अहं'। यह काल का विन्दुमुखी रूप है। (अहः काल का नादमुखी रूप है)। विन्दुमुखी रूप के द्वारा काल स्वयं को केन्द्रीण करता है। महाकाल स्वयं का अहः तथा अहं (Flux and nexus Flow Continuum and Flow Piont) रूप से व्याकरण करते हैं। प्रथम है संख्यान रूप, द्वितीय है सांख्य ! अहः तथा अहं रूपी मिथुन द्वय के मिलने से संख्याकृति का द्योतन होता है। संख्याकृति = Number pattern. अक्षमाला तथा जपमाला का यही उद्देश्य है। अहं से धारारूपेण अहः का निष्क्रमण होता है। यह धारा पुनः घूम फिर कर अहं में ही मिलित हो जाती है।

इसी विन्दु द्वारा नाद, पुनः नाद का विन्दु में समापन ! अपने अनुभव से काल अथवा Duration की इस आकृति का तारतम्य मिलाओ ! तभी मालाजप संख्याजप की सार्थकता हो सकेगी। हंस तथा अजपा के विवेचना प्रसंग में यह उपलब्धि हुई है कि अहः तथा अहं की प्राकृत ऋच्छति (Number Transaction) सुषम भाव से न चलकर विषम भाव से ही अधिक चलती है। यद्यपि Hormony, Rhythmicity मूल में स्थित है, तथापि वह शाखा-प्रशाखा में नहीं मिलती। उनमें सन्धि की तुलना में अनुस्वार-विसर्ग का विग्रह ही स्पष्ट रहता है। जपादि में विग्रह स्थल पर सन्धि का साधन करना चाहिये। मेरुलंघन के रहस्य का भी चिंतन करो। मानो कि यह अहं एक डबल दर्पण है। (Concave-Convex mirror = द्वि-पार्श्व दर्पण)। एक पार्श्व से विकिरण होता है, दूसरे पार्श्व से केन्द्रीकरण (Focussing)। जैसे अहः आकृति में जब ऋच्छति है, तब विकिरण का पार्श्व है। जब अहं में ऋच्छति की प्रत्यावृत्ति है, तब दूसरे पार्श्व को उपस्थापित (Presented) होना चाहिए। इस पार्श्व परिवर्तन का स्थल है मेरु। इसका लंघन करने पर ऋच्छति के ऋतम् का विपर्यय घटित होता है।

विषम ऋच्छति का परिणाम है वक्रता तथा जिक्षतापत्ति। अर्थात् इस स्थिति में अहं तथा अहः का पारस्परिक व्यापार समञ्जस (Rhythmic) न हो कर असमञ्जस (unrhythmic) हो जाता है। काल सम्बन्ध भी इसी प्रकार का है। जब देश सम्बन्ध में यह वक्रता आती है, तब Straight हो जाता है Crooked और Even हो जाता है uneven. विषम ऋच्छति की स्थिति में पग-पग पर प्रति-

घात तथा प्रतिरूद्धता आती है। वह 'ऋतं शश्वत्' नहीं होता। प्रतिरोध के प्रतिघात का परिणाम है श्रम, मृत्यु, slowing Down, Running Down.

काल सम्बन्ध में जो विषमता है, वह है भुज। इस स्थिति में इस प्रकार की विषमता में विपर्यस्त जो ऋच्छति है, वह है भुजंग-भुजग-भुजंगम्। अ तथा ह में गत्यर्थ 'इ' का योग करने पर होता है 'अहि'। इसके सम्बन्ध में पहले भी कहा जा चुका है। भुजग तथा पन्नग इस वर्त्तमान प्रसंग में उपयोगी शब्द हैं। पन्नग शब्द की व्युत्पत्ति करो 'पद्भि न गच्छति'। जो पैर से गमन नहीं करता वही भुजग है। पद अर्थात् पादमात्रादि ऋतम् का सुषम क्रम। इस भुजग अथवा पन्नग रूप काल की विषम—भीषण ऋच्छति का जो निरसन तथा शासन करते हैं, वे हैं गरुड़। ये हैं काल के 'ऋतं शश्वत्' रूप। इनकी कृपा द्वारा जपादि अभ्यारोह प्रतिरूद्ध 'सकृत्' न होकर अप्रतिरुद्ध 'सर्वदा' होता रहता हैं। श्री सुदर्शनधारी भगवान के वाहन हैं गरुड़।

कालेष्वप्रतिरोधे तु स एव तार्क्ष्यतां व्रजेत्।
कालस्य चक्रनेमित्वादरिष्टनेमिता खगे ॥१९१॥

युनक्त्यप्रतिरोधेनातो यजुर्वायुरेव च।
गीरपि गीयते वेदेर्मध्वीर्गावो भवन्तु नः ॥१९२॥

हंसः तथा तार्क्ष्य मूलतः तथा तत्वतः अभिन्न हैं। किन्तु हंस में 'देशेष्वनवरोधः' और तार्क्ष्य में "कालेष्वप्रतिरोधः" आकृति मुख्य है। स्वस्तिपाठ मन्त्र में तार्क्ष्य को अरिष्टनेमि क्यों कहा गया है? अरिष्ट शब्द की आकृति का विश्लेषण नाना प्रकार से किया जा सकता है। अर (ऋ का गुण) + इष्ट; अ + रिष्ठ इत्यादि। ऋच्छति का जो 'ऋ' है, उसने इष्ट के सम्बन्ध में स्वयं को गुणीभाव में लिया! इष्ट = सुषम, सुदर्शन। अर्थात् सुदर्शन की जो सुषम आकृति है और अप्रतिरोधनीय है, उसके छन्द द्वारा शासित जो ऋच्छति है, वही है अरिष्ट। कालचक्रनेमि तो आवर्त्तित होती ही रहती है, तथापि वह सदा सर्वदा सुदर्शन के गुणीभूत भाव से (Not in perfect, unfluctuable Rhythmicity) आवर्त्तित नहीं होती। अतः चक्रनेमि को पग-पग पर प्रतिरोध के सम्मुखीन होना पड़ता है। गति बन्द हो जाती है अथवा व्याहत हो जाती है। कर्ण के रथचक्र को (महाभारत में) पृथ्वी ने ग्रस लिया! साधना में विकल, भग्न तथा पङ्गु! भुजग अथवा पन्नगाकृति में पड़ने पर यही अनिष्ट आ जाते हैं। इस अनिष्ट को रिष्टि के रूप में भी अनुभव किया जा सकता है। जैसे किसी ग्रह की निर्दिष्ट कक्षा में भुजभङ्ग लक्षित हुआ। लक्ष्य करने पर यह देखा गया कि अन्य किसी ग्रह की रिष्टि (Extra-orbital field 'Pull') द्वारा यह घटित हुआ है। जीवन में प्रायः सर्वदा 'रिष्टि' के कारण अनिष्ट होते

रहते हैं। रिष्टि प्रभाव से जीवन चक्र की रथनेमि इसी प्रकार से भुजगा—पन्नगा हो जाती है। कुरुक्षेत्र में पार्थसारथी सुदर्शनधारी नहीं थे, परन्तु भीष्मवर्व में (भीष्म पर कुपित होकर) रथांगपाणि हो गये ! यह हुआ था रिष्टि के निरसनार्थ ! भीष्म-कृतस्तव से यही द्योतित होता है।

जीवन की अवमानस भूमि में जो विषमचक्र (Complex Vicious circle इत्यादि), हैं उनका नागपाश काटने के लिये अरिष्टनेमि तार्क्ष्य की कृपा प्राप्त करना होगा। अर्थात् जहाँ पर 'कुटिल जटिलबद्ध' है वहाँ तार्क्ष्य का (शक्ति, छन्दः, नाम) ध्यान करो। उनका ध्यान करो जो सुदर्शन सुहृत् अरिष्टनेमि हैं। अवमानस में कुटिल जिह्म संस्कारग्रंथि का 'विलेशय' होता है भुजग के समान। जीवन में, विशेषतः अध्यात्मसाधन में इन सबको आततायी आकार में देखा जाता है।

ये 'सर्वेषु कालेषु' सभी काल में अप्रतिरोध की योजना (युनक्ति) करते हैं, अतः ये यजुः हैं। इस प्रसंग में हंस = ऋक्, इस समीकरण की भावना करो। अन्यसूत्र में सुपर्णा = सोम। पुनश्च, ये खग हैं। वायु का वरण करते हैं। इस तात्पर्य से भी ध्यान करो। जैसे वरुण unbounded Expansivity हैं, उसी प्रकार वायु भी है unobstructed Dynamicity, प्रणव के उकार तथा मध्यम महाव्याहृति के देवता। वायु तथा काल के सम्बन्ध में पुनः चिन्तन करो। क ख ग के सम्बन्ध में भी इसी प्रसंग में विचार करो। व्यञ्जन का आदि तथा मुख जो 'क' है, वही ख (आकाश), ग (वायु), घ (घृणि = तेज) के रूप में अभिव्यक्त हो रहा है। जिसकी अरिष्ट-नेमि, तार्क्ष्य, यजुः, वायु प्रभृति रूप से भावना कर रहे हो, वह गीः अथवा वाक् है। वह 'मधुवाता' मन्त्र में गो (गावः) रूपेण श्रुत है। इन सबका विस्तार करना आवश्यक नहीं है। साधन सौकर्य हेतु इस कारिका का चिन्तन करो—

शुक्लकृष्णे ह्यमी आखू आयुर्मूलानि कृन्ततः।
तृह्यमाणौ भुजङ्गेन तार्क्ष्यरातौ तु गीष्पते ॥१९३।

शुक्लकृष्ण (दिवा-रात्रि) रूपी दो मूषिक क्या करते हैं ? नासाविवर में श्वास रूप में व्यस्तसमस्त भाव से केवल प्रवेश करते हैं और बाहर आते हैं। ये दिन रात, अहरह आयुमूल को काटते रहते हैं। किन्तु काल रूपी भुजंग इन दोनों का हनन करने का सुयोग खोजता रहता है। हनन होगा कालपूर्ण होने पर ही। क्या रक्षा का कोई उपाय नहीं है ? अरिष्टनेमि तार्क्ष्य (सुदर्शन-सुहृत्) ही अमृत वाक् एवं मित्रच्छन्दः रूप से इन कालभय से आर्त्त मूषिकद्वय की रक्षा करते हैं (तार्क्ष्य रातौ)। क्यों करते हैं ? गीष्पतेः—गीः अथवा वाक् के जो पति हैं, उन प्रणवरूपी गणेश के लिये ! अर्थात् कालभय से आर्त्त मूषिक को गणपति जब अपना वाहन बना लेते हैं तब वह होता है स्वयं 'ऋतं शश्वत्' ! महानामाश्रित जो श्वास है, उसमें कालभय नहीं रह जाता !

एक और कारिका :—

क्रूरौ विलेशयौ सर्पौ बह्निग्रस्तौ हि मेरुतः ।
राती ये छन्दसाराती महाशक्तिधरेऽनघे ॥१९४॥

दो विलक्षण क्रूर सर्प (नासा विवरस्थ पशु श्वांस) हिंसा व्रत में निरन्तर व्रती रहते हैं। किन्तु मेरुस्थल में इन दोनों को बर्हि (मयूर) अवश्य ही ग्रस लेगा। बर्हि अर्थात् सुषम, मित्रच्छन्द का रूप। अतः बर्हिग्रस्त होकर जो पहले अराति (अरि थे) थे, वे अब हैं राति (रक्षक-मित्र), और सर्प को खाने वाले बर्हि के कौमरी शक्ति का वाहन होने के कारण, वे दोनों रातियुगल (बर्हिग्रस्त सर्प) अब अनघा (दोष रहित) तथा महाशक्तिधार हो गये। वाम तथा दक्षिण नासिका में जो क्रूरचारी श्वास महा अरि, शत्रु रूपेण विराजित था, वह अब है मेरुसंस्थित (सुषुम्ना प्रविष्ट) ! अतः शक्तिधर, परमपावन, सुहृद्रूप !

अहिंस्त्रोऽपि विपक्षोऽपि हंसोऽमरान् जिघांसति ।
हिंस्त्रराजेन सिंहेन जिजीविषेच्छतं समाः ॥१९५॥

हंस हिंस्त्र स्वभाव नहीं है। उसके उपर वह विपक्ष है, स्खलितपक्ष है; तथापि यह हंस अमरगण की हिंसा करना चाहता है ! मनुष्यादि मरणधर्मा की तो बात ही नहीं ! हंस के हिंसाभय से भीत होकर तुम क्या करोगे ? हिंस्त्र का राजा जो सिंह है, उस सिंह का आश्रय लेकर शतजीवी होने की इच्छा करो। हंस—अजपारूपी प्राणन् वृत्ति जो समस्त भूत समूह में निरन्तर चलती रहती हैं। वाह्यतः यह जीवाधार रूप हंस वृत्ति अहिंस्त्र होने पर भी विपक्षता के कारण ('ह' कार आदि चारों अवयवों के अनुपात वैषम्य के कारण अछन्दोगतत्ववशात्) अमरगण के भी मरण का कारण हो रही है। इस विपक्ष वृत्ति को सपक्ष करना होगा। पहले ही 'सिंह' के सम्बन्ध में विवेचना प्रसंग में कहा गया है कि यह हिंस् का 'वामेन दाक्षिण्यम्' है। अर्थात् सिंह वह मूल साधारण आकृति (बेसिक जेनरिक पैटर्न) है जिसके द्वारा किसी प्राकृत वृत्ति का 'हिंस्' अथवा हिंस्त्रभाव वाम से दक्षिण हो जाता है। इसलिये यह श्रीभगवान् की सिंह मूर्त्ति है। महामाया का वाहन् है सिंह !

पूर्वोक्त सूत्रद्वय में आनन्तर्य तथा नैरन्तर्य का भाव लक्षित हुआ है।

१८. अविघाते सुपर्ण ऋतं महत् ॥

पूर्वोक्त अनाहतस्थल में, विशेषतः अविघात (अबिरोध) होने पर सुपर्ण — ऋतं महत् है ॥

इस बार विशेषतः सम्बन्ध तथा छन्दोगत् रोध का प्रसंग वर्णित हो रहा है। इस प्रकार के रोध को विरोध कहते है। जैसे 'भूर्भुवःस्वः' में 'स्वः' को 'श्वः' कहने

पर केवल अर्थ हानि ही नहीं होती (श्व = आगामी दिन), प्रत्युत् शब्द तथा प्राण की व्याहृतिरूपा आकृति में भी विघात हो जाता है। इसी प्रकार 'वरेण्यं' पद में 'ण्यं' की दो मात्रा लेकर अग्नि तथा सोम को परस्परतः मिलित करना होगा (जातवेदसे सुनवाम सोमं) प्रकृत रूप में गायत्री मन्त्र की मात्रा समता साधनार्थ (key position) यही पद है। यहाँ पर विपक्ष भी सपक्ष हो जाता है। इसी तरह 'धियो योनः' में 'य' तथा 'ओ' इन दोनों के उच्चारण में यथाक्रमेण आनन्तर्य तथा नैरन्तर्य रखना होगा। अर्थात् इसे हंस तथा तार्क्ष्य के शासन में लाना होगा। प्रथम कहता है "सावधान ! एकबार 'य' और दूसरी बार 'ज' (यो को जो) मत कहो।" तार्क्ष्य कहता है " 'ओ' के लेख को (curve को) सुषम एवं अविच्छिन्न होना चाहिये"। प्रणव का 'ओ' इस पदत्रय द्वारा क्रमशः सुषम गति से (symmetrically) बिन्दुलीन होता जा रहा है। वस्तुतः इस प्रकार के व्याहरण के अभाव में समग्र जप से ओंकार का अन्वय विच्छिन्न होता जाता है। बंधे सुर के लिये अन्वय आवश्यक रहता है। अविघात तथा अवरोध = सुपर्ण ! यह भी एक विश्वजनीन आकृति है।सर्वक्षेत्र में सुपर्ण का स्मरण करो। श्री भगवान के हाथों में सुपर्ण ही पद्मरूप से है। रवीन्द्रनाथ के अपूर्व संगीत का स्मरण करो 'तोमार नृत्येर ताले-ताले, हे नटराज' ! सुपर्ण ही विद्रोही परमाणुओं को सुन्दर करता है नटवर के चरणों में चन्द्र 'ज्योति की मञ्जीर' हो जाता है। 'चरणपवने' और क्या करता है ?

अग्नि तथा सोम की भावना सचराचर के उपादनरूप में की जाती है। वर्त्तमान में छान्दस आकृति में इनकी भावना की जा रही है। जैसे शान्त जलराशि। कहीं पर स्पन्दजनित उर्मि परिलक्षित होती है। उर्मि जन्म लेते ही भागना चाहती है। अन्य उर्मि को सम्मुख पाकर उसके साथ विरोध भी होता है। इससे सृष्टि होती है एक अनियंत्रितता की। इस विस्तार तथा विघात का अपना छन्दः अवश्य है। फिर भी एक अन्य छन्द के साथ उसका परिणय, अन्वय, समन्वय न होने पर उर्मियां अथवा उर्मिसंघात सुषम-सुन्दर रूप ग्रहण नहीं करता। कम्पन की अनियंत्रित स्थिति से संगीत का रूप बहिर्गत नहीं हो सकता। ऋक् तो यजुः हो गया परन्तु साम नहीं हो सका। 'अ' तथा 'उ' तो 'म' के सोम द्वारा आप्यायित नहीं हो रहा है। सृष्टि के मूल स्पन्द से प्रारम्भ करके विश्व की वर्त्तमान अभिव्यक्ति पर्यन्त अग्नि तथा सोम की छान्दस समञ्जसता जिसके द्वारा साधित-रक्षित तथा वर्धित होती है, उसे ही सुपर्ण कहा जाता है। यदि पक्षीरुपेण भावना करो तब अग्निमात्रा तथा सोममात्रा इसके पक्षद्वय हैं। 'सु' शब्द के द्वारा सौष्ठव, सुषमता ही लक्षित होती है। गायत्रीमन्त्र के 'वरेण्य' पद में अग्निषोम का समन्वय है। अतः गायत्री सुर्पणा है। ये देवताओं के लिये (अध्यात्म में चक्षु-कर्ण आदि भी देवता ही हैं) अमृत लाती हैं। मन्त्र में 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' है। इनका भाव नाना प्रकार

से भावित होता है। वर्त्तमान प्रसंग में उनमें जो अग्नि है—वह है अग्नि। जो 'अनश्नन् अभिचाकशीति' है, वह है सोम (स ओ म)।

परस्परं विरुध्येतेऽग्नीषोमौ सहकारिणौ।
तयोर्विघात-संङ्घात-संञ्जातं हि चराचरम्॥ १९६॥

क्षयपोषण-धर्माभ्यां षट् परिणामभाग् भृशम्।
अप्राप्तमन्ययाऽनैषीद् या योनिरेव छन्दसाम्॥ १९७॥

अग्नि तथा सोम परस्परत: सहकारी अवश्य हैं, किन्तु वे सर्वत्र विरोध से अलग भी नहीं है। उनका विघात (Mutual Interference, friction collision) रूप ही अत्यधिक प्रतिभात होता। अन्तत: आभास तथा छाया के क्षेत्र में ऐसा ही होता है। अथच, विरोध के स्थल पर परिणयादि छन्दाकृति रहती है। शक्ति के क्षेत्र में छान्दस रूप ही और भी मूर्त्त हो उठता है (In Dynamical analysis appreciation)। उसमें जो Casual रूप से फलित होता है, वह उसी रूप में गृहीत होता है। सर्पिला ही हो जाती है श्रृंखला। परिणयादि घटित होने पर विघात भी संघात हो जाता है (जैसे स्त्री पुरुष की प्रकृति)। उसी का परिणाम है संजात, यह सचराचर! संजात सचराचर के क्षय (हरण) तथा पोषण (पूरण) रूप अग्निषोम का विघात चलता ही रहता है। विशेषत: जीवकोष को देखो। फलस्वरूप निरन्तर 'जायते', 'अस्ति' इत्यादि रूपी षट् परिणाम सर्वत्र है। इस परिणाम प्रवाह का शेष लक्षित होता है 'म्रियते' में। इस स्थिति से देवगण भी भयभीत रहते हैं। वे जगती, बृहती प्रभृति छान्दसी आकृतियों के एक-एक अमृत आनयन का प्रयास करते हैं। वे सफल नहीं हो सके हैं। एतद्विपरीत छन्दोमाता ब्रह्मयोनि गायत्री अमृत का आनयन करती हैं—'अनैषीत्'। इसी कारण वे सुपर्णा हैं। जिस प्रणव अथवा ओंकार का वर्णन आगामी सूत्रों में होगा, उस ओंकार का छन्द: है गायत्री। अतएव अनाहत की जो अविघात भूमि है, वहाँ अरूढ़ होने के लिये इस सुपर्णा का अवाहन तथा भजन करो। सुपर्णा ही अपर्णा की प्राप्ति कराती हैं। अ+पर्णा=द्वन्द्व अथवा पक्षरहित परमतत्व। अथवा अप (अपगत) ऋण जो है। अर्थात् जहाँ तत्व का और अधिक हान (निगेशन) नहीं है। अपर्णातत्व में स्थिति होने पर 'सन्ध्या फिरे तार सन्धाने, सन्धि खूंजे नाहि पाय'!

१७. अनाघाते व्योम विहायस ऋतं सत्॥

अनाहत की जिस चरम भूमि में आघात नहीं रह जाता, वही ऋत्-सत् रूप विहासय व्योम है॥ इस बार रोध का अन्तिमरूप जो निरोध है, जो वस्तुस्वभाव अथवा प्रकृति का ही अपमर्द्द है, उसके निरसन की भूमि का प्रदर्शन किया जा रहा है। मनुष्य आदि जीव से प्रारम्भ करके अणु पर्यन्त, सब कुछ के 'निज' भाव

(ownness) का आश्रय लेकर रोध की विद्यमानता रहती है। उसे देश-काल-सम्बन्ध का विश्लेषण करके सम्यक् अथवा सम्पूर्णरूपेण निरुपित नहीं किया जा सकता। अर्थात् जो निज है, उसे अपर अथवा अन्य के संघातकाल के रूप में देखने पर उसका पूर्ण एवं शुद्ध स्वरूप परिलक्षित नहीं हो सकता। तभी साधक आक्षेप करते हैं—'इष्ट, गुरु, महतेर कृपा मोरे हैल। एकेर कृपा बिनु सब छार खोरे गेल' इसका विस्तार आगे किया जायेगा। यहाँ यह लक्ष्य करो कि निजग्रन्थि, आत्म-भंगुरता रूपी अपने आघात स्थल से उत्तीर्ण होने के लिये ऋतम् को सत् अथवा सत्यम्रूपेण प्राप्त करना होगा। क्योंकि यहाँ रोध केवल पारिपार्श्विक में नहीं है, प्रत्युत कारण में, नाभि में मलादिरूपेण (जैसे आवरण मल) जो रोध का हेतु है, निजबोध रोध, अज्ञान कल्पित अभिमान आदि निजबोध का रोध काटने वाली जो वृत्ति है, वह है ऋत सत्।

पूर्व-पूर्व भूमि में 'सत्यस्य मुख' 'हिरणमयेन पात्रेण' अपिहित होने पर भी वह अपावृत नहीं हो सका है। इस भूमि में है अपावरण का प्रयास। इस निजबोध रूप निरोध का अपावरण न होने तक अवरोधादि को दूर करने पर भी वह समूलतः तथा सर्वदा दूर नहीं होता। आत्मस्थिति ही ध्रुवा स्थिति है। जब तक ऋच्छति भी ऋतम्, देशकालादि के द्वारा इस विश्वसमीकरण (Cosmic Equation) के समाधान में प्रवृत्त है, तब तक वह समाधान कभी भी निर्व्यूढ़रूप से ध्रुव का संवाद नहीं दे सकता। अतएव हन्सादि को व्योम (ओम के व्योम) में मिलाओ। तभी सर्वत्र सर्वदा, तथा सर्वधा का महासमन्वय होगा सर्वथा में अथवा सर्व में। पूर्वोक्त हंसादि की (तथा वेदत्रय की) व्याहृतित्रय रूप में भावना करने पर उनके ही द्वारा पूर्णाहुति का समापन होता है ओंकाररूपी व्योम में। यह व्योम जैसे एक ओर ऋतम् सत् है, उसी प्रकार दूसरी ओर वह है विहायस, विहाय + सः, अर्थात् 'सः' रूपी जो परिच्छिन्न शक्ति प्रक्षेप है, विहाय का त्याग करते हुये स्पन्द (शक्ति) की विपुल अकुण्ठ वितर्ति में समापन को प्राप्त हुआ। उसका समापन हुआ 'विहायसः' आकृति में।

अथवा वि = वियदि। हा = स्वाहा (आहुति समापन)। य यह रूप से निरूपित। सः = दन्त्य शक्ति = छिन्नशक्ति विसर्ग। इस शब्द की आकृति का विश्लेषण और भी मौलिक रूप से हो सकता है। यहाँ यह देखो कि विहायस का 'वि' 'ओ' में मिलित होकर 'व्योम' रूप हो गया। अर्धमात्रा के सम्बन्ध में चण्डी-स्तव में 'यानुच्चार्या विशेषतः' है। इसका राहस्यिक अर्थ यह है कि 'वि' अथवा 'वियत्' को शेष अथवा शिष्ट (Not Embracing) रक्खे बिना अर्धमात्रा उच्चार योग्य नहीं होती। तुमको विहायस व्योम भूमि का स्पर्श करना ही होगा। अतः व्योम की वीणा में जो अनाहत धुन शाश्वत बज रही है, तुम्हे उनके साथ

अपना सुर बाधना होगा। उषा से, सन्ध्या से, पवन से, किरण से वह धुन 'सुरधुनिधारा' के ही समान मर्त्य में अवतरण करेगी। अतएव प्रणवादि साधना में धुन साधन के क्षण हैं ये सब। यद्यपि पूर्वोक्त सुपर्णा गायत्रीरूपा है, किन्तु उसमें अग्नि तथा सोममात्रा उदयमेरु (सुमेरु) और अन्तर्मेरु (कुमेरु) इत्यादि की विषम द्वन्द्वः स्थिति हो सकती है। सुषम नहीं भी हो सकती है। सामान्यतः ऐसा ही होता है। विषम होने पर मधुकैटभ !

जबतक मूल का द्वन्द्वाश्रित भाव (Basic unharmonic Rivalry) अपगत नहीं हो जाता, तब तक प्रणवादि सविता स्वर की सामर्थ्य सार्थक सृष्टिकाष्ठा (Critical creative momentum) में गति नहीं होती। इस प्रसंग में सृष्टि सूक्त के ,ऋतञ्च सत्यञ्च' का पुनः ध्यान करो।

आदावतावी अनन्तिमे व्यानीति सर्वसंश्रयः।
ओंकारो व्योमरूपेणातीत्य द्वन्द्वाभिघातनम् ॥१९८॥
देशकालादिसम्बन्धाभिघातजन्यवृत्तिताम्।
जहाति यः स विज्ञेया विशेषेण विहायसः ॥१९९॥

ओम के आदि में वि+आ (आवी) तथा अन्त में अन् को पक्षीभूत करके 'व्यानिती' व्यान करते हैं, इस भाव से निखिल के (प्राणन् व्यवहार के) संश्रय स्थल हो जाते हैं, अर्थात् निखिल के प्राणन में (Cosmic vital Function) व्यान आकृति द्वारा निखिल के संश्रय तथा सन्धि के लिये एक पक्ष में 'वि' एवं 'आ' तथा अन्य पक्ष में अन् (धातु का अर्थ प्राणन्) को लेकर 'ओम्' होता है। व्यान और व्योमन्। इस व्योमाकृति में वे सर्वद्वंद्वाभिघात के अतीत रहते हैं। इस द्वन्द्वाभिघात को विशेष रूप से इस प्रकार कहा जाता है देश, काल, वस्तु सम्बन्ध के अभिघात से जनित (अवरोधादिरूपेग) जो वृत्तिता है, उसका जो विशेषरूप से (वि) परित्याग करते हैं (हा=जहाति), यः स (जो, वे हैं) वे हैं विहायसः। यः का विसर्ग (विहायसः के) सः से विसृष्ट है। अन्यथा मध्य में विसर्ग रखने पर आकृति च्युति हो जाती है। जैसे गायत्री के व्याहरण में "धियः यः नः" द्वारा च्युति हो जाती है। (अर्थात विसर्ग मध्य में रखना उचित नहीं है।) यहाँ पर व्याकरण सन्धि द्वारा ही आकृति-सुषमता है। प्रकृत स्थल पर व्यान सन्धि में विसर्ग का विसर्जन।

१८. विन्दुसङ्घाताद्रोधस्य भुवनस्य रेतः ॥

अब विन्दु तथा नाद में रोध अथवा रोधिका शक्ति के संघात (Resultant Congruent Action) की विवेचना हो रही है। रोध अथवा रोधिका का विन्दु के 'अधिकार' में जो संघात है (शक्ति, छन्दः, आकृति एवं क्रिया का संघात समन्वय) वह है भुवनों का रेतः ॥

पहले कतिपय सूत्रों में रोध्र अथवा रोधिका को बाधा (अवरोधादि) के रूप में देखकर उनकी क्रमिक तथा काष्ठा के अपनोदन (इलिमिनेशन) की भूमि को प्रदर्शित किया गया है, किन्तु रोधिका केवल 'हान' की वस्तु नहीं है। वह उपादान की भी वस्तु है। सृष्टि सूक्त में अंकित 'ततो रात्रिः' इत्यादि का स्मरण करो। रोधिका के पूर्ण अभाव में सृष्टि नहीं होती। उसके अभाव में साधनादि का अभ्युदय भी बाधित हो जाता हैं। सृष्टि व्यवहार में रोध अथवा रोधिका की आवश्यकता रहती ही है। हमारे इन्द्रियज्ञान से प्रारम्भ करते हुये स्मरण-मनन भाषणादि तथा चित्तवृत्ति निरोध रूप समाधि पर्यन्त सर्वत्र रोध की आवश्यकता है। रोधक ही साधक हो जाता है। अणु में तथा बीज आदि में रोधिका का ही आधिक्य है। सामग्रिक दृष्टिकोण से यह प्रश्न उत्थित होता है कि 'भुवनस्य रेतः' द्वारा वेदादि में जिस रहस्य का आभास प्राप्त होता है, क्या उसके साथ रोध अथवा रोधिका का कोई सम्बन्ध है, अथवा नहीं। यदि इस रहस्य शब्द को Cosmic seed कहा जाये, उस स्थिति में इस आभास की प्रतिकृति (Mental Representation) क्या होगी ? 'अप् एव ससर्जादौ तासु बीजमवाक्षिपत्' 'मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्य-हम्'। 'अहं बीजप्रदः पिता', इत्यादि स्मृतिवाक्य का भाव क्या है ?

रोध्र की दो आकृति है रोधस् तथा रेतस्। इनका विचार करो। अ + उ = ओ। अ + इ = ए। उ में वेध मुख्यता है। इ में लम्ब मुख्यता है। बीज में (जैसे पुं रेतस् में) इस लम्बवृत्ति शक्ति एवं आकृति का स्फुट रूप हो जाता है। पादप आदि बीज में अंकुर प्ररोहादि क्रम से लम्बवृत्तिता को लक्ष्य करो। सामान्य भाव से—Lifting of Energy level and emergence of the pattern. एक प्रकार से वर्त्तमान के Emergent Evolution की मूल आकृति है यही रेतस्। तस्' द्वारा तल का प्रक्षेप Level or plane projection भासित होता है। इस Plane projection के साथ लम्बवृत्ति (प्लेन आफ प्रमोशन) के संहत होने पर जिस शक्तिसंघात की आकृति प्राप्ति होती है, वह विन्दु अधिकृत (Centrally desigend or nuclearly patterned) होने पर रेतस् हो जाती है। 'त' में तलवृत्तिता का और 'ध' मे शुद्ध वृत्तिता (Staticity Rigidity) का आकार ग्रहण करती है। किन्तु रेतस् में तल वृत्तिता है डाइनेमिक और क्रियेटिव। यद्यपि यहाँ पर शक्ति सामग्री रुद्ध है, तथापि वह उद्बुद्ध, क्रियोन्मुखी तथा सृष्टि की ओर उन्मुखी है। जो महद्ब्रह्म में बीजप्रद पिता हैं, उनमें अमोघ तथा अनघ बीज की विद्यमानता रहती है। अन्यत्र रेतस् के साथ रोधस् मिलकर Conditional, Limited Dynamicity की आकृति प्राप्त करता है। रवीन्द्रनाथ के गान में है 'नदीतट सम प्रवाह आवरि'। रोधस् समस्त कुछ को वाह्य एवं आभ्यन्तर अभिघात के निमित्त अध्रुव-भंगुर तट द्वारा घेर कर रखता है। 'भुवनस्य रेतः' द्वारा इसी भंगुरतट परम्परा को तोड़ते-तोड़ते

क्रमश: महासागर की आकृति प्राप्त होती है। अन्त में अब सागर उद्वेलित होने पर भी वीचि बुद्‌बुदादिरूपेण भंगुर नहीं होता !

यह है भाव की भाषा। अब विज्ञान की भाषा में इस 'भुवनस्य रेत:' तत्व को समझ लो ! विश्व के सब कुछ में रोधस तथा रोधक का आकार परिलक्षित होता है। यह रोधस् विज्ञान की भाषा में है Strain. अन्दर-बाहर-सर्वत्र इसी Strain का अधिकार रहता है। चेतना के समतल की अपेक्षा चेतना के अवतल (Sub-Liminal में) में स्ट्रेन की आकृति अधिक जटिल तथा दृढ़ है। इस रोधस आकृति से निकल कर स्वाभाविक आकृति अथवा प्रकृति में आनें के लिये सर्वत्र एक व्यक्ताव्यक्त प्रयास चलता रहता है। यह स्वाभाविक आकृति 'स्वधा' रूपी लक्षण से युक्त है। स्वधा ही 'पितृगणस्य तृप्ति हेतु:' है। इसी से पितृगण परितृप्त होते हैं। संक्षेपत: कहा जाये तो पितृगण रेतश्चेता बीजक्षेम (Preservation and Continuity of the germplasm and psychoplasm) के निर्वाहयिता हैं। आकृति की चार दिशायें होती है—सत्ता, आकृति, शक्ति एवं छन्द:। सत्ता तथा आकृति के योग क्षेम का निर्वहण करते हैं पितृगण। विशेषरूपेण शक्ति तथा छन्द: का योगक्षेम निर्वहण करते हैं देवगण। शक्ति तथा छन्द: के उर्ध्वस्तर को उन्मुक्त करके उसे ज्योतिर्विशाल तथा छन्दोविशाल करने में अर्थात् दैवी सम्पदा अपावृत् करने में देवगण स्वाहा मन्त्र से आहूत एवं आहूत होते हैं। स्वधा में योग तथा क्षेम रूपी वृत्तिद्वय की स्थिति रहती है। इसमें क्षेम वृत्ति (unvarying Static Continuity) की मुख्यता रहने पर, वह अव्यय है और पितृगण की तुष्टि का मन्त्र है। किन्तु पूर्वोक्त अर्चिरादि योगमुख्यता की स्थिति में वह केवल मात्र अव्यय रूपेण ही नहीं रहती, जैसे 'स्वधां दुहाना अमृतस्य धाराम्'।

जो कुछ भी हो, स्वधा आकृति बीज अथवा रेतस् में निहित रहती है। कालान्तर में यह विवेचित होगा कि स्वाहा, स्वधा तथा वषट्‌कार-यह त्रयी 'आकृति' में अमोध है। जैसे 'भूर्भुव: स्व:' रूपी व्याहृतित्रयी। यहाँ स्मरण रखना होगा कि सामान्य बीज अथवा रेत: आकार में देश कालादि रोध सापेक्ष है। निरपेक्ष नहीं है। मन्त्र बीज के सम्बन्ध में भी यही तथ्य है। जैसे इन सब सापेक्ष स्थल में एक काष्ठा में जाना चाहता हूँ। प्रश्न करता हूँ-अच्छा ! यहाँ तो बीज अथवा रेतस् को कृपण कुण्ठित आकृति में प्राप्त कर रहा हूँ ! क्या ऐसी कोई भूमि नहीं है जहाँ पर यह अनघ एवं अमोध है। अ + घ = जो परिपूर्ण घोषवान होकर छन्दादि में बाधा पहुँचाता है, वह है अध। रेत: के सम्बन्ध में वह काष्ठा है 'भुवनस्य रेत:' ! विज्ञान के शब्द में—जब तक ईश्वर नामक किसी पदार्थ द्वारा मूर्तजगत् के आधार की भावना हो रही थी, तब भी वह आधार Perfect fluied, parfect Rigid, perfect Elastic रूप में माना जा रहा था।

केवल वाह्य मूर्त्त विश्व ही नहीं, प्राण तथा चेतना के आधार का अन्वेषण करने के लिये उद्यत होनें पर उक्त समस्त वैज्ञानिक कल्पना तथा भावना को और वर्त्तमान वैज्ञानिक संख्यायन एवं रूपायण को भी एक महासमन्वय में लाना ही होगा। वह नैकटिक होगा दो दिक् से, विन्दु संघात तथा नादसंघात से As Congruently related to the Perfect Dynamic point, and as Congruently related to the perfect Dynamic Continuum, रेणु अथवा कण, (as Corpuscle) सब कुछ परमा काष्ठा रूप इस विन्दु की ओर ही अपना इगित कर रहे हैं और विपुल अथवा महान् की ओर परम जायान रूप से नाद की कामना कर रहे हैं। अयच, रेत:=विन्दु कदापि नहीं है। यह विन्दु गोत्रीय है। 'भुवनस्य रेत:' आकृति में भी विन्दु उसका नैकटिकतम है (Closest approximation to the perfect Dynamic point) अत: इसे विन्दु संघात गोत्रीय वर्ग की परमोपकाष्ठा कहा जा सकता है।

पहले विज्ञान में Kinetic तथा Potential रूप से शक्ति के दो रूप ख्यात थे। वर्त्तमान में Energy तथा Mass का समीकरण सूत्र प्राप्त करके Energy को Massed or Massing रूप में देखा जा रहा है। प्रश्न उत्थित होता है क्या विश्व में ऐसी कोई केन्द्रीण भूमि है जहाँ यह Massing Energy (M E or N P) अभीष्ट आकृति से भी गरिष्ठ (of Maximum magnitude in minimum dimensions) है? होमियोपैथी के पोटैन्सी (शक्तिक्रम) से तुलना करो। यदि डाईमेन्शन के परिवर्त्तन को Strain कहें, तब इस परमोपकाष्ठा में (अभीष्ट आकृति में) जो 'भुवनस्य नाभि:' है, उसमें Strain न्यूनतम होगा। यह स्वधाशक्ति (Stress) में अधिकतम (मैक्सिमम) होता है।

वृत्ति केन्द्रानुगा तथा केन्द्रापगा रूप से द्विविधा है। प्रथम को स्वधा और द्वितीय को वषट् संज्ञक कहते हैं। रेत: अथवा बीज जबतक केन्द्रस्थ किंवा केन्द्रसान्द्र रूप में रहता है, तबतक वृत्ति स्वधा है, परन्तु सिञ्चित निक्षिप्त होने पर यह वषट् है। स्वाहा संज्ञादि की विवेचना स्थानान्तर में होगी। वषट् में जो प्रक्षेप वृत्ति है, वह उर्ध्व प्रक्षेप स्थल में वौषट् है। अध: प्रक्षेप के स्थल में, विशेषत: अस्त्र आकृति में फट् है। यह सब आकृति यथास्थान में निरूपित होगी। जैसे अणु में जो रेत: शक्ति है, वह उर्ध्वगा होकर, संगठनी (as evolving Construction Energy) होकर, वौषट् है। किन्तु वर्त्तमान में वह आणविक बम प्रभृति के आकार में फट् और रेत: आकृति में वौषट् है। इन द्विविध आकृति मे व्यावृत (Recessive) है और स्वधा में संवृत् (Dominant) है। अत: स्वधा में शक्ति की गाढ़ता (Density) और उग्रता (इन्टेन्सिटी) सर्वाधिक है। 'हसौ' आकृति में सञ्चित तथा सिञ्चित

का मिथुन परिलक्षित होता है। यह दो का परिणय मात्र है। अन्वय-समन्वय-महा-समन्वय में विस्तारार्थ स्वाहा है।

सम्यक्तया घनत्वेन शक्तेर्या केन्द्ररूपता।
अनवच्छिन्नमेयस्यावच्छिन्नमेयता यतः ॥२००॥

रोधिकायां ततो रात्रौ सङ्घाताद् बीजरूपता।
तत् सृष्ट्वा प्राविशद् ब्रह्म चेत्यस्योपनिषद् हि सा ॥२०१॥

सम्यक् रूपेण शक्ति का घनीभाव घटित होनें पर शक्ति में केन्द्ररूपता लक्षित होती है। सम्यक् = फोकसिंग। जैसे लेन्स के द्वारा सूर्य रश्मि को केन्द्रित करते हैं, उसी प्रकार! लक्ष्य करो कि जब अ उ म प्रभृति का व्याहरण होता है, तब प्राण एवं मन का सम्यग्भाव घटित होने लगता है। केवल अ तथा म से जो घटित नहीं होता, उसे मध्य में उ आकर घटित करा देता है (अ+उ+म)। जैसे धनुष की ज्या का एक सिरा है अ। दूसरा सिरा है म। अब मध्य में 'उ' द्वारा ज्या आकर्षण करने पर उक्त सम्यकता साधित हो जाती है। अब 'प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते'। अच्छा! शक्ति के केन्द्ररूपा होने पर अनवच्छिन्न अमेय भी अव-च्छिन्न मेय के रूप में भासित होने लगता है। तत्वतः शक्ति केन्द्रस्था होने पर भी अनवच्छिन्ना अमेया ही रह जाती है। इस केन्द्रीकरण के ही द्वारा अवच्छिन्न मेयवत् व्यवहार सम्भव होता है। वर्णमाला के प्रत्येक अक्षर, प्रत्येक धूलिरेणु, प्रत्येक इले-ट्रान, ये सभी सत्ता शक्ति में तत्वतः एवं समग्रतः अनवच्छिन्न अमेय ही हैं। तत्वतः तथा परिपूर्ण रूपेण यह शक्ति अनवच्छिन्न तथा अमेय रूपेण विन्दु में ही है। इसके पश्चात् (ततः) रात्रिरुपा जो रोधिका शक्ति है, वह विन्दु के द्वारा शासित होकर विन्दु अधिकरण में (with direct reference to that perfect point of Power-Focussing) जिस संघात (Congruent cofiguration) की रचना करती है, वह है बीज अथवा रेतः। 'तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' इत्यादि जो श्रुति है, उसके रहस्य की भावना इस विन्दुसंघात् के द्वारा करो।

इस विन्दुसंघात, नादसंघात् (वृष) द्वारा सृष्टि की मूल आकृति के प्रदर्श-नार्थ ह्रीं आदि महाबीज समूह में चन्द्रविन्दु की स्थिति रहती है।

१९. नादसंङ्घातान् महावृषः ॥

नाद अधिकरण में संघात होने पर महावृष है ॥

भ (व्+ह) इस आकृति की व्यजंना पूर्वखण्डोक्त भूरादि व्याहृति प्रसंग में हो चुकी है। जो शक्ति अव्यक्त है, वह सभी अवस्थाओं में एक अवस्था में रहती है, ऐसा नहीं है। Potential Field में और difference of Level में high तथा low भाव अवश्यमेव रहते हैं। जैसे कोई बीज। उसमें सम्पुटित शक्ति-

सामग्री का 'व' रूप जब 'भ' रूप हो जाता है, तभी बीज में उच्छूनभाव संभव हो सकता है। जिस बीज का जप किया जा रहा है, उसे भी इस 'भ' आकृति में लाने के लिये ना जाने कितनी निष्ठा के साथ पुरश्चरण प्रभृति करना पड़ता है ! इसे स्मरण रखते हुये वृष तथा वृषभ की भावना करो।

अब 'सम्यक्तया घनत्वेन' विन्दुसंघात होने पर रेत: हुआ और 'सम्यक्तया महत्वेन' नादसंघात होने पर महावृष ! साधिष्ठ वर्षणकृत्, भूयिष्ठ सिञ्चनकारी ! Maximum Mass (M.M.P.) की खोज और Maximum Expansive or Radiating Power की खोज, यह है दो काष्ठा। शक्ति किसी स्थल पर जाकर विन्दु नैकटिक संघातरूपेण (As the nearest approximation to the point of perfect Dynamism) कहती है "यह देखो, हमारी सर्वोत्तम धनीभाव आकृति, रेतोधा, रेतोधात्री मूर्त्ति ! पक्षान्तर से नाद = Perfect Radiating Power Continuum होने पर भी उसे एक अणुरूप काष्ठा में जाना ही होगा। विश्वभुवन के सम्बन्ध में Perfect Condenser कहां है, Perfect Radiation क्या है, ? Accumulator तथा Radiator, इन दोनों की ही काष्ठा खोजी जा रही है। इसे बहिर्विज्ञान भी खोजता है अध्यात्म भी खोज रहा है। इसीलिये तो बीज समाश्रित जप चल रहा है। जप के द्वारा बीजमन्त्रों की 'भुवनस्य रेत:' तथा इस 'महावृष' आकृति को प्राप्त करने का यत्न करना पड़ता है। वाक्, प्राण तथा चित्त में प्राण ही जपकर्म का मुख्य निर्वाहक है। जप को समर्थ भूमि में लाने के लिये प्राण का Perfect Focussing तथा Perfect Radiating रूपी द्विविध शाक्ती तनु प्राप्त करना होगा।

इस परिग्रह कार्य में रोधिका को साधिका शक्ति के रूप में उपलब्ध करना होता है। अर्थात् धन रूप में, ऋणरूपेण नहीं ! जिस परमभूमि में जाकर शक्ति का ऋण भाव पूर्णत: अपगत हो जाता है, वह है अपर्णा (अप + ऋण)। इसकी नैकटिकता से सुपर्ण (स + उप + ऋण)। पहले रात्रि-आवि: की विवेचना हो चुकी है। इन्हें संघात रूपेण (In Sympathy Relation) में प्राप्त करना होगा अथवा Congruence रूप में। विघात (In antipathy relation or discordance) में पाने से जप का सारा 'साज-बाज' संघर्ष में पड़ जाता है। जो साध्य तथा प्रकाश्य है, उसके साधन और प्रकाशन से ही रोधिका की विपक्ष-बाधिनी, अरिसूदनी स्थिति हो जाती है 'शत्रूणां भयवर्द्धिनी'।

क्षोभ्यक्षोभकसम्बन्धे समानुपातिता यत:।
उपक्रमोपसंहारावधिकृत्य च यो विभु:॥ २०२॥

आवीरूपेण स नादोऽस्ति रात्रिरूपा च बीजता।
नादानुरोधवृत्तेन संघातेन महावृष:॥२०३॥

विश्व में सर्वत्र क्षोभ्य-क्षोभक सम्बन्ध परिलक्षित होता है। क्षोभ=State of Disturbance मूलतः यह, स्पन्द ! विज्ञान के अणुपर्व तथा विराट पर्व में जो Electro magnetic Disturbance है, वह मूलस्पन्द गोत्रीय होने पर भी मूल-स्पन्द नहीं है। प्राणस्पन्द, चित्त स्पन्द तथा अहंस्पन्द रूपी कतिपय आकृति से हमारा नित्य परिचय रहता है। इनकी विरूपता को विदूरित करने के लिए मूल स्पन्द के साथ उनकी सुषमता और अभेद समीकरण की शुद्धि आवश्यक है। जैसे गायन में 'सा' एक शुद्ध स्वर है। मैं कण्ठ तथा अन्य यन्त्रों के द्वारा उसको लाने का यत्न करता हूँ। किन्तु सफल नहीं हो रहा हूँ। प्रथमतः कन्ठ में जो आ रहा है, वह 'सा' का गात्र नहीं है। उसका 'सा' के साथ सुषमसंस्थान सम्बन्ध (इन हारमोनिक रिलेशन) नहीं है। उस्ताद कहते हैं "नहीं, नहीं; यह ठीक नहीं है"। प्रणवादि नाम जपने वाले की भी प्रारम्भ में यही स्थिति होती है। कण्ठ में विषम क्षोभ घटित हो रहा है। कारण है कायिक आदि अपराध ! सच्ची पुकार नहीं हो रही है। विषम क्षोभ के क्षेत्र में मात्रा भी विषम क्षोभक युक्त रहती है। 'सा' स्वर साधन में कण्ठ प्रभृति में एक सुषम क्षोभ्य-क्षोभक को विषम क्षोभ्य-क्षोभक की जगह आ जाना चाहिये। आरम्भ में, पहले यह नहीं होता। एक ओर विषम विरोधी क्षोभ्य-क्षोभक हैं, दूसरी ओर सुषम-संवादी क्षोभ्य क्षोभक। इन वृत्तिद्वय में समाना-नुपातित्व (बैलेंसिंग) होने पर उक्त स्वर साधक को जो भूमि प्राप्त होती है वह है 'उपक्रम'। अब उस्ताद कहते है "हाँ, अब ठीक आ रहा है।" यही है सुमेरु-कुमेरु की सन्धि। (Confluence of the points of Convergence and divergence) नदी में भाटा के समय स्त्रोत की गति नीचे की ओर होती है, ज्वार के समय ऊपर की ओर होती है। ज्वार-भाटा की सन्धि के समय नदी का एक प्रकार का स्थिर रूप रहता है। शक्ति के सर्वक्षेत्र में गति का 'मोड़' घुमाने के लिए यही अपेक्षा होनी चाहिये।

यह समता (सन्धि क्षेत्र में) अवर, परापर तथा पर रूपी भेदत्रय में परि-लक्षित होती है। स्पन्द की जो मूल आकृति है (तपसा चीयते ब्रह्म), उसमें चलो। जो स्पन्द रहित है, वह पता नहीं कैसे स्पन्दित हुआ। यही है क्षोभ्य-क्षोभक सम्बन्ध की सूचना। इस आदिम क्षोभ्य-क्षोभक का जो मूलचित्र (Primordial Picture) है, उसकी आधारभूता एक समानुपातिता भूमि (ए बेसिक बैकग्राउन्ड आफ इक्वि-लिब्रेटेड स्ट्रेन एण्ड स्ट्रेस) अवश्य विद्यमान है। अर्थात् क्षोभ्य क्षोभक का अनुपात वैचित्र्य शब्द-अर्थ-प्रत्ययात्मक विश्व में सर्वत्र दृष्टिगोचर हो रहा है, लेकिन उसकी अनुपात क्षमता की जो मूलभूमि है—उसे आधार बनाकर ही यह वैचित्र्य अशेषरूप से प्रपञ्चित हो रहा है। जैसे सागर के वक्ष पर तरङ्गराशि। एक चुम्बक लो। एक समता की भूमि ने ही उसके दोनों ध्रुवों को धारण कर रक्खा है। श्वास-प्रश्वास

नाड़ी स्पन्दन प्रभृति सब कुछ में यही है। "प्राणापानौ समौ कृत्वा" यहाँ समता क्या है, इसकी भावना इस क्षोभ्य-क्षोभक सम्पर्क (In Relation to the equalisation of Bodily strain and stress) द्वारा पुन: करो। जैसे गायत्री तथा प्रणव आदि के जप के अन्त में विन्दुलीनता नादवाहिता आदि का रहना आवश्यक है, उसी प्रकार ! अर्थात् एक आधार स्वर (Background note) को सम्यक्-रूपेण सुरक्षित रखते हुए व्याहरण करना पड़ता है।

व्याहरण वृत्ति को अन्तरक्षा एवं ध्रुवाक्षा होना चाहिये। उसकी बहिरक्षा अवस्था उचित नहीं है। अतएव कारिका में कहा गया है कि उपक्रम तथा उपसंहार (निखिल क्रिया पर) पर अधिकार करते हुये नाद ही विभु (व्यापक unfalling Immanent) रूप से विराजित रहता है। उप = समीप। अर्थात् जहाँ से क्रम प्रारम्भ होता है, वह विन्दु। और जहाँ संहार तथा लय की चरम स्थिति है, वह विन्दु। प्रारम्भ से लेकर शेष पर्यन्त सब कुछ के समग्र क्रम के विभुरूप अधिकारी हैं 'नाद'। अत: समग्र क्रम में ही नादवाहिता का अविच्छेद होना एवं सुषमभाव होना आवश्यक है ! जैसे गायन में अस्थायी अथवा ध्रुव स्वर का आधार। इसके अभाव में क्षोभ्य-क्षोभक की अनुपात विषमता के कारण क्षिप्त-विक्षिप्त वृत्ति (Scattering and Confounding effects of the propagated wave System) का आधिक्य हो जाता है। पहले जिस विन्दु संघात जनित रेत: की चर्चा हो चुकी है, उस स्थिति में नादरूप वृष इस रेत: को धारण करने तथा उसका सिंचन करने में असमर्थ हो जाते हैं। जो हरण-पूरण (मेटाबालिक एक्शन) जीव के देह में अहरह: चल रहा है, उससे नादरूपी वृषभ की रक्षा समर्थ रेतोधा के रूप में हो सकने की स्थिति में (अर्थात् क्षोभ्य-क्षोभक) समानुपापित्व के एक अजस्त्र आकर को unfailing reserve प्राप्त कर सकने पर 'जरा न जिघांसति' जरा हिंसा नहीं करती। नादवाहिता के अवगाहन द्वारा यह सिद्ध होता है (Continued immersion is the basic radiation stream)। बद्धपद्मासन, योनिमुद्रा, महामुद्रा, खेचरी प्रभृति का अभ्यास इस यन्त्र के (देह के) स्थूल तथा सूक्ष्म प्रवाहों को नादवाहिता में मिलाने के ही लिए किया जाता है।

गंगास्त्रोतोऽवरुद्धान ऐरावतोऽपि दूषणम्।
शम्भोः शिरोजटाग्रन्थि-बद्धो भोगी च भूषणम् ॥२०४॥

मन्दाकिनी के प्रवाह का अवरोध करने की स्पर्धा करके देवहस्ति ऐरावत गिर गया और अशोभन स्पर्धा के प्रतीक रूप से उसने दूषण को झेला। पक्षान्तर से भोगी अथवा सर्प खल, हिंस्र स्वभाव के निष्कृष्ट जीव अवश्य हैं, परन्तु तब भी देखो शम्भु के शिरोजटाजाल में ग्रंथिबन्धन के रूप से पड़े रहकर अपूर्व शिरोभूषण बन गये हैं ! यहाँ निगूढ़रहस्य क्या है ? मन्दाकिनी प्रवाह = नादवाहिता। यह अना-

हत तथा अखण्डित है। ऐरावत = इरावत् सम्बन्धित। इरा = इला = वेदप्रसिद्धा भारती = वाक्। अतः ऐरावत = वाग्विशिष्ट जैसे स्वर व्यञ्जनादि वर्ण। यह पूर्वालोचित ऐन्द्री (ऐं = वाग्भव) शक्ति का वाहन है। ऐरावत शब्द के प्रथम अक्षर से यह सूचित हो जाता है। यदि नाम अथवा मन्त्र के व्याहरण में वर्ण अनाहत नाद को अनुवृत्ति में (In Congruent affiliation) ग्रहण नहीं करना चाहता, उसे परावृत्ति में (In cross-grained antagonism) ग्रहण करना चाहता है, तब इस प्रकार का व्याहरण तो दूषणरूप हो गया ! अतः मन्त्रादि के व्याहरण में कृत्रिम स्वरकम्पनादि (Modulatlon) वर्जनीय है। नादवाहिता की हरजटाजाल में विन्दुलीनता। नादवाहितारूप दक्षिणा गति को वामागति के रूप में पलटते हुए (By reversing the vital Current) इये साधना होगा। इसीलिये सर्प को हर-जटाजाल की गाँठ (ग्रन्थि) के रूप में कल्पित किया गया है। अतः वह शिव का भूषण है। 'भोगी' पद व्याकरणविधि से अन्य प्रकार है, किन्तु भोः गीः (हे वाक्) रूपी अर्थ प्रकट किया जाये, तब कोई यह कह सकता है कि ऐसा अर्थ नहीं होता, इस प्रकार की बातों से अपना इष्ट वियोजन नहीं करो। इष्ट नियोजन के प्रसंग में इस कारिका का चिन्तन करो—

सीतारामौ वियोज्यैव बिभेति जितभीषणः।
विभीषणो यथासन्धि संयोज्य वीतभीषणः॥२०५॥

सीताराम अथवा 'सियाराम' इस युग्म नाम को वियोजित करके भीषण (यम) को भी जीतने वाला रावण भीत हो गया। और विभीषण यथासन्धि 'सीयाराम' का संयोजन साधित करते हुये मृत्यु रहित एवं अमर हो गया। यहाँ सीता = विन्दुलीनता। नाद = नादवाहिता। राधेश्याम, गौरीशंकर, राधास्वामी इत्यादि नाम जप, संकीर्त्तन, भजन, आजान प्रभृति से यथासन्धि संयोजन हो रहा है अथवा नहीं हो रहा है, यह लक्ष्य करो। यह भी युगलोपासना का एक निगूढ़ भाव है। मुरलीरव निनादित यमुना पुलिन नादवाहिता है। निबिड़ निकुंज मिलन से विन्दुलीनता का द्योतन होता है।

दक्षिणे न दक्षिणेयमुत्तरस्यां न वोत्तरा।
दक्षिणोत्तरगा सद्यः शिवसायुज्यदायिनी॥२०६॥

वाक्‌रूपा गंगा दक्षिणाभिमुखी होकर दक्षिणा नहीं हो जाती। उत्तराभिमुखी होकर उत्तरा नहीं होती। परन्तु जब दक्षिणा बहती हुई उत्तरगा (उत्तरा वाहिनी) होती है, तब शिवसायुज्य मुक्तिदायिनी हो जाती है। विन्दु से उदयीभूत जो नादवा-हिता है, उसका दक्षिणा होने से क्या तात्पर्य है ? दक्षिणा = कुशला-समर्थ। उसका तात्पर्य है यथायथ विन्दुलीनता (उत्तरगा होना) ! उदयास्थिति में दक्षिणागति के मुख का जो मेरु है, यदि उसे दक्षिण मेरु कहाजाये, उस स्थिति में बिन्दुलय

के मेरु को उत्तर मेरु अथवा सुमेरु कहा जा सकता है। पहलावाला इस प्रसंग में कुमेरु है (यहाँ कु = वेदवाक् एवं छन्द)। अध्यात्म साधना में जो सत्य उदाहृत होता है, वह सत्य विश्व में सार्वभौमिक है। अर्थात् शक्ति व्यवहार में सर्वत्र नाद-तायन एवं विन्दुशायन की पारस्परिक वियुक्तता की स्थिति में सृष्टि प्रभृति कोई भी व्यापार सम्भव ही नहीं हो सकता था। वृष तथा रेत: को अविनाभावेन युक्त होना चाहिए। समुद्र का जल सूर्य किरणों के द्वारा वाष्पीय विन्दुरूप होगा और वह विन्दु भी पुन: तड़ित् विन्दुगर्भ होगा। तभी मेघरूपी वर्षणकारी वृष दृष्टिगोचर हो सकेगा। उसी के द्वारा वारिविन्दु बरसाने पर प्राणिसृष्टि होगी। ऐसा ही अन्यत्र भी है। एक विशाल वृक्ष स्वयं को बीजरूपेण प्रकट करता है, तभी नूतन वृक्ष सृष्टि संभव होती है। जड़ के क्षेत्र में भी जब तक शक्ति स्वयं को अणु में केन्द्रीण नहीं कर लेती, तब तक विश्व में शक्ति का 'कारबार' यथार्थ समर्थ आकृति से युक्त नहीं होता। मानसशक्ति वाक्‌शक्ति प्रभृति के क्षेत्र में भी यही तथ्य है।

इससे पहले पर, पराक् तथा अवर रूपी पर्व का वर्णन किया गया है। इनका वर्णन विशद् हो जायेगा। अत: संक्षेप में यह कहना है कि निस्पन्द में मूलस्पन्द (तप:) उदित होने से जो आदिम अनिर्वाच्य क्षोभ-क्षोभक भाव है वह है पर पर्व। जिस आधार में आवि: तथा रात्रि: (व्यक्त-अव्यक्त) रूप भाव है वह है परावर पर्व। अन्त में जो द्यावा-पृथ्वी रूप क्षोभ्य-क्षोभकता है, उसे अवर कहते हैं। जैसे जप में वैखरी-मध्यमा-पश्यन्ति की अवर सन्धि में नाद महावृष अवररूप में आते हैं। वे मध्यमा-पश्यन्ति की वर सन्धि में परावर रूपेण प्रकट होते हैं। पराभूमि में उनका स्वरूप है 'पर'। नादवाहिता के प्रदर्शनार्थ जिन तीन कारिकाओं को पहले अंकित किया गया है, उनमें से प्रथम है अवर, माध्यम है परावर तथा अन्तिम से पर (वर) भूमि का सन्धान प्राप्त होता है।

प्रथमत: जपध्यान में कोई भी वर्ण अथवा अर्थ ऐरावत के समान अपनी सूँड़ उठाकर नादध्यानवाहिता में बाधा नहीं देगा। कोई विषम स्वर अथवा भाव पर्वत के समान प्रविष्ट होकर स्व छन्द रूप गति को बाधित नहीं करेगा।

द्वितीयत: नादतायन और विन्दुतायन की 'यथासन्धि' संयुक्त रहेगी। अर्थात् सुषम चक्र पूर्ण आकृति से आवर्त्तन करेगा।

तृतीयत: पूर्वोक्तरूप से चलते रहने पर जपध्यान की धारा 'उत्तरगा' होगी। अर्थात् शान्त अनाहत भूमि में जाकर अपने आयासरूप का त्याग करते हुये विश्रांत होगी। यह जपध्यान की विरति नहीं है, प्रत्युत् परिणति ही है।

२०. रेतसोऽग्नीषोमत्वम् ॥

जो भुवनों का रेत: है वह अग्निषोमरूपी द्वन्द्वाकृति युक्त (पोलर पैटर्न) **है ॥**

प्राचीन चिन्तकों ने जगत् को अग्नि तथा सोम का सम्मिलित रूप बतलाया है ? इससे क्या प्रतीत होता है ? विश्व में सर्वत्र दहन-प्रचन हो रहा है, साथ ही पूरण-पोषण भी हो रहा है। इसका अभिप्राय क्या है ! इन दोनों वृत्तियों को एक दूसरे की अपेक्षा रहती है। जीवकोष आदि के दृष्टान्तों को समझ लो। जड़ में रेडि-येशन एनर्जी तथा मासिग एनर्जी सापेक्ष रूप से रहती है। मन में भी 'वृत्तिरूपेण स्मृतिरूपेण' की स्थिति द्वय का द्योतन होता रहता है। स्मृति का तात्पर्य है संस्कार जैसे 'ह्रीं' बीज ! 'ह' महाशक्ति का भण्डार है। 'री' पूर्वोक्त अग्नि कर्म को विशे-षतः सूचित करता है। चन्द्रविन्दु = सोमकर्म। गायत्री के 'वरेण्यं' पद द्वारा भी कर्म द्वय के समता तथा समन्वय की सूचना मिलती है। यदि 'ह्रीं' बीज को 'भुवनस्य रेत:' मानें तब देखना है कि उनमें अग्मिषोम किस आकृति में परस्पर अन्वित हैं। विश्वभुवन के सर्वस्तर में इस महाबीज को अग्निषोमात्मक रूप से पहचान लो। अधिभूत स्तर को छोडकर नहीं पहचानना है।

वर्तमान विश्व में जिस Entropy अथवा Ruuning down की आकृति को विज्ञान ने उपलब्ध किया है, वह इसलिये है क्योंकि शक्ति सिंचन और विकीरण के साथ शक्ति अन्वय एवं शक्ति संगठन की समता का रक्षण नहीं हो रहा है। Balance Sheet (लेखा जोखा) में सर्वत्र यह कमीं Deficit ही मुख्य है। बीज की भाषा में 'इ' जिस उन्नयन तथा उर्ध्वपातन कर्म (वाराही शक्ति के दांतों के समान) में व्यापृत है, उस कर्म में अध: शक्ति (Lower plane and Co-effcient) का आधिक्य है। जिस मात्रा में Energy भी Low-Level Bo-und होती जा रही है, उसी मात्रा में वह Low-Level से मुक्त नहीं हो पा रही है। अर्धपातनाधिक्य के कारण जिक्ष—वक्रता (Intriguing Intricacies) की विव-र्धिष्णुता (aggravation) ही लक्षित हो रही है। अपने जीवन के आहारादि सभी व्यवहारों में इसे स्पष्ट कर लो। उपाय ? गायत्री के 'वरेण्यम्' को विशेषतः वरण करो। ह्रीं' बीज का जो unresolved Lower Momenta है, आवश्यकता पड़ने पर 'ऐं' बीज द्वारा उसका सम्यक् उर्ध्व पातन (हाई वैल्यू ट्रान्सफारमेशन) समा-रम्भन करो। अब 'क्लीं' के द्वारा उसकी समता-पूर्णता (परफेक्ट सब्लिमेशन) का समापन करो। यद्यपि एकमात्र ह्रीं बीज ही समर्थ है, तथापि अग्निषोमात्मक समता का व्यतिक्रम परिलक्षित होते ही इन बीजद्वय की आवश्यकता हो जानी है। केवल मन्त्र के ही दृष्टिकोण से नहीं, प्रत्युत् भाव की दृष्टिभंगी से भी इनका पर्यवेक्षण करो।

वैदिक आत्मरक्षामंत्र 'ॐ जातवेदसे सुनवाम सोमं' का भाव तथा तात्पर्य कितना निगूढ़ है, इसका विचार करके देखो ! यज्ञीय बलिविधान से जो 'अग्निषो-मीयं पशुमालभते' कहा जाता है, उस 'पशुं' पद की मुख्य तथा गम्भीर व्यञ्जना क्या है ? किसी भी शक्ति क्षेत्र में (पोटैन्शियल फील्ड) शक्तिपातन तथा प्रक्षेप हेतु

अवम प्रवणता (अधोगता, अधोलीनता इत्यादि) को काटते हुये उर्ध्वगा होना चाहिये। मंगल ग्रह के लिये पृथ्वी से एक राकेट छोड़ा गया, किन्तु वह आरम्भभूमि संस्कार (Earth Drag आदि) को उच्छिन्न करके उर्ध्व गतिशील नहीं हो रहा है। इसी कारण समस्त प्रारम्भ में जड़तादि दोष परिलक्षित होते रहते हैं। 'यथा-व्रियते वन्हिर्धूमेन' इत्यादि। समष्टि व्यष्टि विश्व में निरन्तर जो अग्निषोमीय यज्ञ चल रहा है, उसमें अग्नि तथा सोम को एक महासमन्वय में मिलाकर एक Perfectly Balnced economy तक पहुँचाने हेतु (गायत्री के 'वरेण्यम्' द्वारा जिसकी सूचना मिलती है) एक प्रयास विद्यमान है।

हंसवती ऋक् में सद्धातु निष्पन्न पद तथा जन्धातु निष्पन्न पद का महा-समन्वय इस 'ऋतम् बृहत्' की दिशा में ही परिलक्षित होता है। जो है (सत्), सोम उसका पूरक तथा पोषक है। जो-जो जात हो रहा है, अग्नि है उसका प्रक्षेपक तथा अंकक। सोम है रंजक, अग्नि है अंकक। अंकक-रंजक की वृत्ति में एक सौष्ठव रहना आवश्यक है। जैसे रेखाचित्र में तथा वर्णचित्र में। अग्नि उपस्थित करता है सब कुछ का Magnitude, measure, Form। सोम प्रस्तुत करता है सबस्टेन्स, क्वालिटी, रंग, अग्नि नादवृष की अनुवृत्ति करता है। सोम अनुवृत्ति करता है विन्दु रूप रेतस् की। इन दोनों की अनुवृत्ति, सुषमतास्थल में समन्वय है महासमन्वय मुखी समावृत्ति। विषमता की स्थिति में विघ्नबहुल व्यावृत्ति। यही पशु है। 'तं पशुमालभेत्'। उसकी बलि दो। तुम्हारे शरीर, प्राण, मन में, सर्वत्र यह पशु ही प्रबल है। इसकी बलि दो अग्निषोमीय यज्ञानुष्ठान में। 'आ' अथवा 'आकरण' के द्वारा इसका लाभ करो (लभते)! गायत्री के प्रचोदयात् पद व्याहरण द्वारा यही आकरण साधित होता है। 'निराकरणमस्तु'।

अग्नीषोमीयमेतद्धि सोमस्य चात्मलीनता।
अध्वनीनोऽग्निरङ्केत सोमो रजोत चित्रितम्।
पंञ्चधा चाङ्कनं वन्हेः सप्तधा सोमरञ्जनम् ॥२०७॥

यह बारम्बार कथित है कि यह सब अग्निषोमात्मक है। इसी के तात्पर्य का अनुधावन प्रस्तुत ग्रंथ में किया जा रहा है। विश्व में द्वन्द्वस्थ अग्निषोमात्मक वृत्तियों को किस-किस रूप में देखता हूँ? मूलतः अग्नि का परिचय 'अध्वनीन' आकृति में मिलता है। सोम प्राप्त होता है 'आत्मनीन' में। इन दोनों पारिभाषिक शब्दों पर ध्यान दो। ऋतम् अथवा हंस का जो अध्व, वर्त्म, मार्ग है, उसका जो तत्व विस्तार करता है, वह है अग्नि। Designer and Tracer of true Power Path, अग्नि की पंचवृत्तियाँ वृत्तिमती रहती हैं जैसे दहनी, पचनी, वहनी, व्यापिनी तथा दीपनी। इन पंच अभिव्यक्ति का जो ऋतच्छन्दः है; उसमें जो बाधा देता है, समा-वृत्ति में व्यावृत्ति को घटित कराता है, वही पशु है। इस पशु की बलि दो। गायत्री

जप का 'वरेण्यं' पद बलि का आदि यूप है। 'धीमहि' मध्यम यूप है। 'प्रचोदयात्' को अन्तिम यूप कहा गया है। भू: स्थानीय पशुबलि=आदि बलि। भुव स्थानीय =मध्यम बलि। स्व: स्थानीय=अन्तिम बलि। इसे सभी क्षेत्रों में समझो। इस बलि के ही रक्त के द्वारा अग्नि 'ऋतस्य पन्थाः' का अंकन करते हैं।

सोम है आत्मनीन, श्रुति ने कहीं 'आत्मन्वी' पद का व्यवहार किया है। निखिलात्मा विश्व के सब कुछ में विन्दु रूपेण प्रविष्ट होकर उसकी अन्तरात्मा भी हो जाते हैं। इस अन्तरात्मा का जो सत्यच्छन्द: है, उसका पोषणादि करते हैं सोम—Noursisher and developer of essence or Being power and Character. अग्नि ऋतम् को तथा सोम सत्यम् को विश्व में सर्वत्र स्व-स्व छन्द में स्थित रखता है। Being and Becoming, persistence and change. Rest and movement, इन दोनों को समन्वित करते हैं अग्निषोम। सोम सप्तधा वृत्तिमान रहता है, यथा—भावनी, पोषणी, वर्द्धनी, स्थापनी, सन्धिनी, आप्यायनी, शमनी। अग्निषोमीय यही ५ × ७ संख्या ३ के साथ गुणित होती है। पुनः ३ से युक्त होकर १०८ हो जाती है। (५=अग्नि की पंचवृत्ति, ७=सोम की सप्तधा वृत्ति)। (३=अ उ म)। अथवा ५=अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश रूप पंचक्लेश रूपी पशु। इन पशुओं को किस प्रकार 'आलभेत्' ? अध्यात्म वन्हि में सोम सवन करता है। अग्नि की परमा दीपनी शक्ति में अविद्या की बलि दो। व्यापिनी में अस्मिता बलि (माऽहं ब्रह्म निराकुर्याम्), दहनी में द्वेष बलि, पचनी में राग बलि, वहनी में अभिनिवेश बलि। 'दहदह पचपच' ! राग के पाचन साधन के सम्बन्ध में बाउल सहजिया साधकों के गायन का चिन्तन करो। अविद्या की बलि जिस दीपनी शक्ति में दी जाती है, वह दीपनी सोम की शमनी तथा आप्यायनी के साथ मिल जाती है। इसका फल है ज्योतिरस। व्यापनी मिलित होती है सन्धिनी तथा स्थापनी से।

जैसे जिस प्रचण्ड आणविक शक्ति का बहि: प्रकाशन वर्त्तमान में सम्भावित हुआ है, उस दहनी तथा व्यापिनी रूप वैनाशिकी वृत्तिद्वय को किस प्रकार से अधिकार में किया जायेगा ? उसमें समर्थ मात्रा में सोमस्पन्द समन्वित कैसे हो, यह समस्या है। अणु के मध्य से जो दहनी—व्यापिनी मारणस्पन्द उत्सरित हो रहा है, उनमें से अनेक (जिनकी साधारण संज्ञा 'आसुर' है) सोमच्छन्द से अन्वित (Congruent) होने योग्य ही नहीं हैं। इनका Elimination होना चाहिये। ये सब हेय हैं। अन्य स्पन्दन (वेव सिस्टम) उपादेय भी हैं। जीव शरीर में खाद्य परिपाक का उदाहरण देखो। यह नि:संदिग्ध है कि मौलिक आवेग है (प्राईमल अर्ज एण्ड एनर्जी)। कामादि की दहन, मंथन प्रभृति विप्लवी (प्रमाथी) क्रिया को सोम छन्द: के प्रभाव तथा शासन में लाना आवश्यक है। अग्नि का पंचधा अंकन तथा

सोम का सप्तधा रन्जन व्याहृति के द्वारा कर (By Selective isolation of allied wave-Systems) समग्र कामचित्र को सत्य--शिव—सुन्दर रूप से अंकित करना होगा।

यह कहा जा चुका है कि इस प्रकार विवर्त्तन में, मूल विचार में अष्टोत्तर संख्यक सहग (Factor) समवेत रूप से क्रिया करते हैं। अतः अति निपुण रूप से इस अग्निषोमात्मक विवर्त्तन याग को साधित करते रहना होगा। यह भी कहा जा चुका है कि सोमच्छन्द का समर्थ बीज 'ऐं' कामादि के जाल से मुक्त करने में उत्तम है। क्लीं बीज के द्वारा पूर्ण तथा शुद्ध रूप से 'ऐशीयुक्त' हुआ जा सकता है। यही काम बीज है। कुलकुण्डलिनी की जागृति द्वारा सुषुम्नामार्ग अपावृत न होने तक काम का अजरायण तथा अमरायण प्रकृष्टरूपेण नहीं होता। अब इन कारिकाओं की भावना करो :–

शाखामृगः श्रयञ्छाखे कालव्यालेन मृग्यते।
मूलव्यालं भजन् सोऽपि मृत्योर्मुच्येत माऽमृतात् ॥२०८॥

एक 'अजब' तरु है। इसमें दो ही शाखायें हैं। इस शाखाद्वय वाले तरु पर एक शाखामृग आश्रय लेकर इस शाखा से उस शाखा पर निरन्तर कूद-फांद कर रहा है। और एक कराल सर्प उसे डसनें का सुयोग खोज रहा है। इस तरुमूलस्थ एक गुप्त विवर में भी एक सर्प अथवा सर्पिणी कुण्डलीबद्ध अवस्था में स्थित है। यदि यह काल व्याल ताड़ित् शाखामृग किसी प्रकार से कुण्डलीभूता मूल व्याली को प्रसन्न कर सके, तब वह मृत्यु से बच सकता है। यह तरु = देह। इस मूलस्थ व्याली (सर्पिणी) को प्रसन्न किये बिना अग्निषोमीय याग सम्यक् रूपेण प्रारम्भ नहीं हो सकता। इस याग में पशुबलि हेतु तीन मुख्य यूप हैं नाभि, हृदय तथा भ्रूमध्य। नाभि में अग्नि की जो दहनी, पचनी तथा व्यापिनी शिखाये हैं, वे सोमसवन द्वारा पोषणी, भाविनी, तथा स्थापनी हों। अग्नि की वहनी, व्यापिनी के द्वारा सोम दीपनी एवं पावनी हो जाये। और दोनों की शक्तियों का सम्मिलन स्थल हो हृदय। हृदय हो जाये दीपनी, शमनी तथा आप्यायनी का संगमस्थल !

मृषामृगस्य मार्गाद् वै सिन्धुसन्धिं समागतः।
श्वसित्यसेतुको रामः सेतु रामेति मारुतेः ॥२०९॥

दण्डकारण्य में मायामृग के मार्ग का परिहार करके श्रीरामचन्द्र समागत होते हैं सिन्धु सन्धि में। अर्थात् दक्षिणात्य और लंका के मध्य में जो प्रणाली है उसके कूल पर। किन्तु वहाँ तो सिन्धु को पार करने वाला सेतु कहाँ है ? अतः 'असेतुक' राम (सेतु रहित राम।) दीर्घ निःश्वास छोड़ते हैं। किन्तु पवन कुमार मारुति के साथ क्या हुआ। उनके लिये "राम" का नाम ही सेतु है। मायामृग = मिथ्याश्वास कर्म। सिन्धु = नादध्वनि। सिन्धुसन्धि = सुषुम्नामुख। मारुति = नाद-

निष्ठ श्वास एवं नामरस निष्णान्त प्राण। जहाँ राम स्वयं यह कहते हुए दीर्घश्वास ले रहे हैं कि 'कहाँ है सेतु ?' वहाँ राम नाम परम परायण हनुमान राम नाम का सेतु प्राप्त कर लेते हैं। अ तथा म (अग्नि+सोम) का मिलन हुआ, नाद को विन्दु में मिलाया, बिन्दु को नाद में ! मारुति='उ' वर्ण। हृदय में वायु बीजरूपेण (यं) (हृदय=अनाहत) ने 'त' (दन्त्य विच्छेदक) वर्ण के कारण परस्पर वियोगविधुर सीताराम को ('त' हटाकर) 'सियाराम' किया। परम सामरस्य में मिलाया। अग्निषोमात्मक याग में अग्नि तथा सोम, दोनों में दोनों की पूर्णाहुति का समापन हो। यद्यपि 'त' के समान 'स' भी दन्त्य है किन्तु स पर लगा 'ई' (सी) प्रणव-मूर्ति राम को समरस-समर्पित है। 'त' में विच्छिन्न तलवृत्तिता की संभावना (अप-हृता होने की) रहती है। श्रीमद् हनुमान 'त' हटाकार सीताराम को सियाराम कर देते हैं।

सीतारामेति विद्वांसः सीयारामेति चेतरे।
ब्रुवन्तीति ब्रूवाणं मा ब्रवीर्वाढ़मिति क्वचित् ॥२१०॥

"विद्वान कहते हैं सीताराम, अन्य कहते हैं 'सियाराम।'' ऐसा कहने वालों से तर्क नहीं करना। और उनसे यह भी नहीं कहना कि ऐसा कहना उचित है।

२१. वृषस्य मित्रावरुणत्वम्।

वृष की मित्रावरुणाकृति (विश्व भुवन में) दृष्ट होती है॥

वृष को नादादिरूपेण समझने का प्रयत्न करो। वर्तमान सूत्र में और भी मौलिक तथा सार्वभौम आकृति में वृष की विवेचना हो रही है। कारिका में 'सहसो-ऽम्बुदः' तथा 'सहोधनः' (डाइनेमिक क्लाउड) शब्द का व्यवहार किया गया है। जलीयवाष्प धन होने पर वर्षणकारी मेघरूप हो जाती है। इसी प्रकार से विश्व शक्ति की एक घनीभूत आकृति प्राप्त करने पर, वह अभीष्ट वर्षणकृत् वृष हो जाती है। जब तक विन्दु पदार्थ (एब्सोल्यूट कान्टिनम) की समतावस्था (परफेक्ट होमो: जेनस कन्डीशन) है, तब तक रेतोधा वृषरूपता सम्भव नहीं है। सहः अथवा सहस् शब्द को विश्व की कार्यकारी शक्ति (एनर्जी) के रूप से विचार कर देखो कि चित्त, प्राण अथवा विश्व में सहोधन और सहोऽम्बुद (एनर्जी कामपैक्ट) 'पैकिंग टुगेदर आफ एनर्जी' के अभाव में कोई व्यापार ही घटित एवं संगठित नहीं होता।

यदि स्पन्द अथवा वेवपैटर्न के दृष्टिकोण से विचार करो, उस स्थिति में स्पन्द का कोई गुच्छीकरण बहिर्विश्व में एलेक्ट्रान आदि की सम्भावना के लिये आवश्यक हो जाता है। प्राण तथा मन की भूमि से भी दृष्टान्त लो। यदि रेतस को Concentrated Focussed Power कहें, तब इसे उद्भव के लिये दो क्रम आवश्यक

हैं। प्रथमतः आवश्यक है यह सहोधन (Packed) भाव। जैसे इलेक्ट्रानिक कन्डेसर में। द्वितीय है केन्द्रानुग विन्यास। अर्थात् शक्तिरेखा केवल जड़ित नहीं हो जाती वे किसी एक मुख (Sense) में चली जाती है। यही है मन की एकतानता। इसे Mass Pointedness भी कहते हैं। परिणाम है धर्ममेघ समाधि। यह है एक Comsic Principle. व्याह्रिति की भाषा में रेतः = स्वः। वृष = भूः। और यह अग्निषोमीय तथा मित्रावरुण आकृति ही है भुवः। यहाँ मित्रावरुण का उल्लेख हुआ। भूमिका में इस कारिका का चिन्तन करो—

अग्निरेता असौ सूर्य:सोमरेताश्च चन्द्रमाः।
वरेण्यं धीमहि द्वन्द्वे भर्गो हिरण्यरेतसः ॥२११॥

सूर्य है अग्निरेताः। चन्द्र है सोमरेताः। अध्यात्म प्रभृति सभी दृष्टिकोणानुसार इन्हे जानने का प्रयत्न करो। पिंगला तथा इड़ा नाड़ी में इन दोनों का द्वन्द्व चला करता है। बीजादि के जप में यह द्वन्द्व अग्निमात्रा तथा सोममात्रा के द्वन्द्वरूप में प्रतीत होता है। प्राण भूमि में एक ओर प्राणापानवृत्ति है। दूसरी ओर है समान व्यान वृत्ति।

इनमें द्वन्द्वस्थता रहती है। चित्त में भी एक ओर है विद्या श्रद्धा और दूसरी ओर है उपनिषत्। शरीर में जो Vital Metabolism चल रहा है उसमें भी anabolism और Metabolism का द्वन्द्व है। जड़ में समाज में, सभ्यता में, सर्वत्र ही यह है। द्वंद्व की विषमता के कारण (Antipathy से) सर्वत्र वैगुण्य—वैषम्य है। सुषमता लाना ही साधन है। सुषमता लाने में जो साधारण ऋतमार्ग प्रभावी है, वह है सुषुम्ना। सुषुम्ना समाश्रय द्वारा अग्निसोम की सुषमता आने पर अग्निरेताः तथा सोमरेतः का महासमन्वयी रूप है 'वरेण्यम्' और तैजस आकृति (भर्गः) है हिरण्यरेतः। यहाँ हिरण्य तथा वरेण्य शब्दद्वय का चिन्तन करो। द्वितीय में (वरेण्य) 'व' तथा 'य' है। हिरण्य में है 'ह' तथा 'इ'। इनका ध्यान करो (व, य का तथा ह इ का)। इस ध्यान द्वारा छान्दस तथा तैजस सम्पदा सम्पन्न हो जाती है। स्वाहा-स्वधा मिलित होगी। इन अग्निरेता तथा हिरण्यरेताः को हिरण्यरेतस् में मिलाये बिना भगवान् सनत्कुमार प्रभृति के समान उर्ध्वरेताः अवस्था प्राप्त नहीं हो सकती। कामजय के लिये हिरण्यरेतस् के भर्गः (ज्योतिरस) का ध्यान करो। ज्योतिरस हिरण्यरेतस् द्वारा विशेषरूप से उपलक्षित होता है।

मुनिनामापि चेतांसि विदाहिनं विदाहिने।
नमः शान्ताय रुद्राय भालाग्निषोमधारिणे ॥२१२॥

मुनिजन के भी चित्त में विहार करने वाले मन्मथ (काम) का जो विदहन करते हैं उन रुद्र और शान्त, ललाट में अग्नि तथा सोम को धारण करने वाले को

नमस्कार। यहाँ भाल में है हिरण्यरेतः। केवलमात्र अग्निदहन (जैसे हुंकारेणैव भस्मसात्' करके) द्वारा ही काम परास्त नहीं होता। वह काम पुनः रक्तबीज के समान परिलक्षित होने लगता है। तब उसे जिह्वा पर रखकर (अर्थात् नाम बीजादि जप) खड्ग द्वारा उसका छेदन करना चाहिए। उसके रक्त का भी स्वयं ही पान करना होगा! रसना में छेदन के द्वारा रक्तबीज हो जाता है बीजरक्त! रक्त शब्द की व्युत्पत्ति होती है रन्ज् धातु से। बीजरक्त में रंजक जो सोमराजा हैं, वह-मान जो अमृत है, उस प्राण के रक्त का ही पान करना होगा। जिस नाम अथवा बीज का जप हो रहा है, उसमें जब तक परम शमनी तथा अप्यायनी प्राणरसधारा प्रवाहित नहीं हो जाती और वह (सोम) जब तक खड्ग (अग्नि) की दीपनी एवं व्यापिनी भर्गद्युति से समुज्वल नहीं हो जाता (अर्थात् जब तक नाम अग्निषोम शोभनसमन्वय में मिलकर साक्षात् हिरण्यरेतस् नहीं हो जाता) तब तक रक्तबीज (Vital seed Basic Biological urge) कभी भी बीजरक्त रूपेण परिवर्तित होकर व्यापिनी-दीपनी, समनी, संधिनी, आप्यायनी रूप उर्ध्वगाशक्ति नहीं हो सकता। तब तक रिरंसा 'राम-नाम अभिलाषा' रूप नहीं हो सकती। इसके पहले 'क' तथा ल' वर्ण द्वारा कामकेलिबीज ही उपलब्ध होता है! इसका भोगादि द्वारा छेदन करने पर यह सौगुणा सहस्त्रगुणा 'शतशोऽथ सहस्त्रशः' बर्द्धित होता जाता है।

रक्तबीजः क्षरन् व्याप्तो बीजरक्तस्तु जिह्वया।
खड्गेनोत्सारितं तेजो भर्गस्तत् पित्रतामृतम् ॥२१३॥
विन्दुच्छिन्नः पतन् रक्तबीजो भूयोऽभिवर्द्धते।
खड्गच्छिन्नः स नादस्तु पीयूषं विन्दुपायनात् ॥२१४॥

रक्तबीज क्षरित होकर (as quantum Radiation) सर्वत्रः व्याप्त हुआ। जैसे जल में एक बूँद तेल छोड़ो, उसी प्रकार! अतः यदि रक्तबीज को काम कहा तब अब उस काम ने सर्वतः व्यापक आणव रूप धारण किया। अर्थात् केवल स्थूल में ही नहीं, सूक्ष्मातिसूक्ष्म में भी काम ने स्वयं को व्यापक किया। (काम = As Basic Desire)। सूक्ष्मातिसूक्ष्म में पाजिटिव-निगेटिव परस्परतः कामी हुये। जैसे सूक्ष्म में chemical Affinity आदि! किन्तु जिह्वा के आधार पर वह रक्तबीज न होकर बीजरक्त हो गया! जिह्वा = रसना = रसना = समस्त की रस चेतना। सबके बीज में (हृदि तथा हृल्लेखा में) जो रस आनन्दरूपेण गूढ़तः विद्यमान है उसका उल्लास तो यह चटुल रसना नहीं देती। नादादि जपास्त्र द्वारा इसका छेदन करने पर जो रस उत्सरित होता है, वह है तेजः। इस तेज का पान करो 'अमृतं भर्गः' रूप से (पिवत)। छेदन = विषम विच्छिन्न स्पन्द प्रतिषेधपूर्वक सुषमखण्ड स्पन्दवाहिता (नाद) की सृष्टि!

विषय को और स्पष्ट किया जा रहा है। जो नाद विन्दु में विच्छिन्न है (अर्थात् अपने सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप के संयोग में नहीं है, केवल स्थूलतः चल रहा है) वह अपनी स्थूलता के कारण स्वतः ही विच्छिन्न विन्दुरूपेण पतित हो जाता है। अतः उदित नाद को विन्दुविलीन करने के साधन को सम्यक् रूप से साधित करना ही होगा। विन्दुच्छिन्न नाद 'भूय एवाभिवर्द्धते'। इस प्रकार का नाद वाह्यतः Cosmic quantum Radiation का रूप धारण कर लेता है। ऋणात्मक हो जाता है। वह सोम के साथ आपूरणादि सम्बन्ध नहीं रखता। जड़ विश्व में Cosmic Rays सम्भवतः इस प्रकार के विन्दुच्छिन्न नाद का प्रकाश है। इसे खड्ग द्वारा उच्छिन्न करो, जिससे यह अन्तर्निगूढ़ सोम (स्वधा) पवमान हो। अध्यात्म जीवन में कामादि जय के लिये ऐसा करो। बहिर्विश्व में भी यह घटित होने दो। विन्दुपायन में (अर्थात् समस्त के हृत् आनन्द में, निखिल आत्मा में, समस्त के सवन में) काम हो जाये नाम। नाम हो जाये नाद। नाद हो नादविन्दु कलारूपा आनन्द पीयूष वाहनी परमा पावनी त्रिवेणी ! इसी कारण नाद वृषभ की 'मित्रावरुण' आकृति आवश्यक क्यों है, इसके लिये बोध की भूमिका रूप पूर्वोक्त रहस्यमयी कारिकायें सन्निवेशित तथा व्याख्यात हुई हैं।

'विन्दुच्छिन्न' उक्ति की द्विविध व्यञ्जना हैं–(1) विन्दु-विन्दु आकार से छिन्न (Carpuscular or quanta dispersion)।

(2) विन्दु–शक्ति घन केन्द्र origin से विच्छिन्न (unconvergent Scattering, unrooted Ranification) विक्षेपण।

खड्ग की भी द्विविध व्यञ्जना है :–

(1) खड्ग––पशुपाशछेदक = Releaser of inertia boundage or of lower grade momentum.

(2) शक्ति के पूर्वोक्त रूप से विन्दुच्छिन्न होने पर divergent, unrooted mutually interfering dispersion के कारण उसकी Inertia (जड़त्व) वर्धिष्णु होती जाती है। और Mass की वृद्धि के कारण उसकी मोमेन्टम वैल्यू (वास्तविक वेगमान) क्रमशः निम्नगा (Lowering) हो जाती है। फलतः व्यष्टि में तथा विश्व में Running Down (अपक्षीयमाणता) होता है। यही है साधारणतः पशुपाश।

इसे काटो। खड्ग से उच्छिन्न करो। यह सम्भव होता है दो प्रकार से, यथा मित्र तथा वरुण !

वेदादि में 'मित्र' मुख्यतः आधिदैविक रूप से भावित हुये हैं, तथा वरुण के लिये भी ऐसा ही हुआ है। मित्र = सूर्य। वरुण = आकाश एवं जल। किन्तु अग्नि-

षोम के समान मित्रावरुण को भी सार्वभौमिक तत्व मिथुन (Bi-polar Cosmic principle) रूप से देखना होगा । विन्दुच्छिन्न (Disaffiliated from the mother Stock or origin) होने पर जो होता है, उसे पहले भी लक्ष्य किया जा चुका है । इस अनर्थ को काटने के लिये दो प्रतिप्रयोग आवश्यक होते हैं । शक्ति स्पन्द समूह के अनियमित तथा उलझे होने पर, उनको अलग-अलग छाँटना होगा । १९ वीं शती में Kinetic theory and gases की गवेषणा में Maxwell द्वारा परिकल्पित Sorting Demon का चिन्तन करो । वह क्या करता है ? वह विषम तथा विसदृश स्पन्द समूह की जटिलता से समान अथवा समानुपाती स्पन्द समूह को पृथक् कर देता है । विश्व की सर्वविध संहत् तथा समर्थ क्रिया में क्या यह आवश्यक नहीं है ? यह आवश्यक है जपादि साधन में भी ! जिन स्पन्द की श्रेणी अभीष्ट तथा अनुकूल है Ally-मित्र है, उसे अराति पाश से मुक्त करके (खड्गच्छिन्न करके) अलग एकत्र (प्रत्याहार धारणा) करना होगा । यह है वेदमंत्रोक्त 'संङ्गच्छध्वं' आदि । जहाँ कोई अणु, स्फटिक (Crystal) अथवा जीवकोष निर्मित हो रहा है, वहीं यह 'रातिराय:' (Compact potential field of allied functions) आवश्यक है । दृष्टान्त द्वारा चिन्तन करो । यह है मित्र । बहिर्विश्व में सूर्य । अणुबिम्ब में न्यूक्लियस । इस प्रकार से मैत्र सम्भूत और उसके प्रतीक ! कारिका मे इन्हे सहोघन सहसोऽम्बुद: कहा गया है । यह एक प्रकार से प्रतिप्रयोग है ।

दूसरे हैं वरुण ! मूलत: वरुण आकृति — free, unbounded, Homogenous Field है । वरुण शब्द में वर + उ + ण शब्द की आकृति है । शब्द का उच्चारण तथा चिन्तन करके देखो । जैसे किसी शक्तिगुच्छ को इस प्रकार के मैत्र आकार में मिलानें में सफलता मिली, परन्तु क्या यही यथेष्ट है ? जिस आधार एवं परिवेश में तुम्हारे मित्र क्रिया करेंगे, उस आधार तथा परिवेश में वे मुक्त न होकर यदि रुद्ध हो जाते हैं, उदार तथा असीम न होकर संकीर्ण एवं संकुचित हो जाते हैं, सुषम न होकर विषम हो जाते हैं, तब ! यद्यपि ऐसा स्वरूप भले ही तुम्हारे मित्र को न मिले, तथापि तुम्हारी वहमानता, पवमानता का प्रवाहपथ सिन्धुगामिनी नदी के समान क्रमश: उदारता, उन्मुक्तता, गम्भीरता की ओर अग्रसर तो होगा ? बीज को खोज कर उस पर जल भी दिया, किन्तु आकाश में जलीय वाष्प तथा आलोक का जो महामण्डल है, उसे आधार रूप में प्राप्त किये बिना क्या करूँगा ? अपने जप ध्यानादि को भी एक परम करुणावरुणालय के रस से सिक्त न करने पर साधन बीज को सूखने में कितना समय लगेगा ?

अन्य सब क्षेत्रों में भी यही चिन्तन करके देखो । अत: आवश्यक है 'शं नो मित्रो वरुण:' । अतः बृषभ तथा महोक्ष: (अथवा महोक्षा) रूपी मिथुनाकृति में नाद

रूपी वृष को विचरणशील होना चाहिये। जैसे एक ओर Collected, Converged Compactness की आवश्यकता है, उसी प्रकार दूसरी ओर open unrestricted Radiability की आवश्यकता है। स्वच्छंद, समर्थ नाद की इस युग्म अभिव्यक्ति की सर्वदा आवश्यकता है। मानों अपने यन्त्र को नाद शक्ति के द्वारा आपूरित कर रहे हैं यह मित्र। किन्तु उस समृद्ध नादशक्ति को एक अव्याहत्, अकुण्ठ, सामग्रिक-आधार में (अपनी चरितार्थता हेतु) मिलाना ही होगा। इस भूमि में 'अपना कार्य समाप्त कर लिया' जैसी कोई स्थिति नहीं रहती। 'मा मा ब्रह्म निराकरोत्' अतः तुम्हारा यंन्त्र जिससे आपूरित है--वह है "आपूरित दिगन्तरम्'। "हिनस्ति दैत्यतेजाँसि स्वनेनापूर्य या जगत्"।

इस मित्रावरुण की आकृति में रहने के लिये अणु से विराट् पर्यन्त सब कुछ संकुचत्, प्रसरत् है। मानों एक बार स्वयं को धनीभूत करता है पुनः उसे प्रसारित कर देता है। यह व्यापार प्राकृत होने पर भी इसमें सर्वत्र ही बाधा एवं व्याघात आते रहते हैं। इसे अबाधित अव्याहत में लाने के लिये 'शं नो मित्रो वरुणः'। तालव्य महाप्राण 'श' मूर्धन्य एवं दन्त्य (ष तथा स) रूपी द्विविध महाप्राण को अन्योन्य सम्पर्क में कुशल रखने के लिये हो जाता है शं। 'शं' है विश्वकुशल शब्द-रूप। इससे है शान्ति। यह शं अथवा शान्ति सम्यक्रूपेण व्याहृत होने पर महा-प्राण भूमि में स्थित कुशल का तथा शान्ति का स्वभाव स्पन्द प्रारम्भ हो जाता है। 'peace' प्रभृति अन्य शब्दों के द्वारा यह उस प्रकार से घटित नहीं होता। यह स्व-भावतः क्रियाशील होता है मित्रावरुणरूपी स्वाभाविक शब्द के द्वारा। शम् के ही समान गम् अथवा गं और उसके उर्जित रूप घं रूपी महाप्राण भूमि से क्या सूचना मिलती है, इसे हमने पहले 'सुगन्धिं' तथा 'गङ्गां' शब्द को भग्न करके देख लिया है। सर्ववाद्यमयी घन्टा ध्वनि में घं ध्वनि प्रविष्ट रहती है। पूजा आरती के समय जो छन्दोबद्ध घन्टाध्वनि बजती है, उसमें अभिनिवेश करते हुये गं घं रूपी नादवृष की मित्रावरुण आकृति का अनुभव प्राप्त होता है।

क से प तक ५ वर्ग हैं। लक्ष्य करो कि प्रत्येक वर्ग के आद्य दो वर्णों में वर्ण-रेतः अग्नि मुख्य रहती है और अन्तिमवर्ण में सोममुख्य। बीज के दो वर्णों में वर्ण-नाद मित्रावरुण हो जाता है। ये पाँच स्पर्शवर्ण इस प्रकार से नाद-विन्दु रूपी ब्रह्म की नित्य वांगमयी आरती करते हैं। इसमें गं घं है घन्टा की अनुदात्त ध्वनि। जं झं है कांस ध्वनि। डं ढ़ं है घन्टा की उदात्त ध्वनि। दं धं मृदंग ध्वनि है। बं-भं है शंख ध्वनि। नादवृष ही इस प्रकार से पंचधा भैरव ध्वनि करते हैं। इनके सम्मुख प्रपन्न हो जाओ। अब कारिकाओं का चिन्तन करो :

क्व वह्निः क्व च वा सोमो विद्योत्यक्षररेतसः।
प्रकल्पय तयोर्दीपमारत्यै मधुनो गिराम् ॥२१५॥

अनुदात्तमुदात्तं वा वर्णवन्तं क्व नादयेत्।
कांसञ्चापि मृदङ्गंश्च शङ्खं स्पृङ् नादवर्चसे ॥२१६॥

अक्षरेत: कहाँ अग्नि है, कहाँ सोम है, इसे पहले जानो। प्रणव, ह्रीं, ऐं, इत्यादि सर्वविध बीज तथा नाम जप में यह अभिज्ञता आवश्यक है। जानकर क्या करोगे ? श्रुति ने जिसे निखिल वाक् रस अथवा मधु कहा है, उसकी आरती होगी तुम्हारे शोभन, सुषम अग्निषोमीय दीप के द्वारा ! क्या यह मौन आरती है ? ना, यह आरती है मंगल भैरव नादमुखर भारती आरती ! इस आरती में कहीं पर मन्त्रवर्ण छन्दरूप है, कहीं उदात्त है, कहीं अनुदात्त रूप से बज रहा है। कास्य, मृदंग, शंख ये सब कहाँ बज रहे हैं उसे विचार कर समझो। जो नादवर्च: हैं, नाद ज्योति किंवा नादब्रह्म हैं, वे कृपापूर्वक तुम्हारे स्पर्श की सीमा में आ गये हैं, उनके ही अभिनन्दनार्थ, तुम्हारी आन्तर स्पर्शसीमा की इस अपूर्व झंकार का महोत्सव चल रहा है, क्या यह जानते हो ? कारिका में उक्त स्पृक् अथवा स्पर्शकृत् शब्दद्वय का विशेष विचार करो। ककारादि स्पर्शवर्ण स्थूलरूप में भी रहते हैं। अब कारिका कही जा रही है—

वर्षति विश्वरेतांसि महोक्षः सहसोऽम्बुदः।
नाभौ भित्रः सहो गाढं व्यापकं वरुणं सहः ॥२१७॥
न्यासविन्यासम्बन्धो बीजं वितनुते बहिः।
वृत्राहि यदि बाधेते सहः सूनूर्विदारयेत् ॥२१८॥

महोक्ष: = नादरूपी महावृष। सहसोऽम्बुद: = व्याख्यात होचुका है। दो ओर दो सकार मध्य में हकार। सहस् रहस्य शब्द ! यह वेद में बारम्बार कहा गया है। आकृति का परीक्षण करो। सिंचित शक्ति सन्धि (Potential Reservoir में) में प्रविष्ट होकर पुनश्च उससे सिंचित हो रही है। सर्वत्र विश्वशक्ति क्षेत्र में इसी आकृति में व्यापार चक्र आवर्त्तित हो रहा है। अम्बुद (मेघ) में यह आकृति अधिक स्पष्ट है। स्पष्ट है एक विशेष भाव से अर्थात् सहोधन। इस विशेष रूप के अभाव में विश्वरेत: वर्धित नहीं होता। अत: इसी कारण यह प्रतीक है। करुणाधन कृपाधन इत्यादि रूप में यही साधक शिष्य के आधार में बीज वर्षण करते हैं, लब्ध बीज अथवा नाम में भी इन्हीं सहोधन (नव नीरदवरणी) को देखो।

जिस शक्ति तथा वैष्णवचक्र की (सहस आकृति में) स्थिति कही गयी है, उसे नाभिरूप धनीभाव में और अरादिरूप विस्तार में ले आने के लिये एक तप: अथवा मूल प्रेरणा 'सहस' में अभिव्यक्तरूप होती है। नाभि प्रणवता मे भिन्न (सहोगाढं) तथा व्याप्ति प्रवणता में वरुण (इस शब्द में उरुवृत्ति को देखो)। प्रवणताओं में सौषम्य (Harmony) रहना आवश्यक है।

सौषम्य के दो मुख्य वैरी हैं वृत्त तथा अहि (ये सांकेतिक शब्द हैं)। इन सौषम्यबाधक द्वय के विदारणार्थ सहस की एक निरतिशय निबिड़ आकृति 'वज्र' की आवश्यकता है (जैसे अणु की नाभि के विदारणार्थ न्यूट्रान बम्बार्डमेन्ट प्रयोज्य है, वैसे ही अध्यात्म में वज्र) इस वज्र को धारक करने वाले वेद में 'सहसः सूनुः' इन्द्रो वृद्धश्रवा:' हैं। 'सूनू' शब्द ध्यानयोग्य है। सू + नू जो निखिल का सविता प्रसविता है। यदि वह सू है तब उसकी अनुवृत्ति (नू) करना, उसका अनुगत सूनू। सूनू = in affiliation to Creative Power इस affiiliation अथवा कौलिकत्व को कुलीनत्वरूपेण धारण करने वाला बीज है 'स्वाहा'। अतः कौल रूप से विस्तार तथा विकास करने वाला बीज 'स्वाहा' है। इन बीजद्वय के साथ सूनू शब्द को अच्छी तरह समझ लो। अथवा सू = प्रजापति। नू = प्रजापति के पतित्व में जो प्रशासन है, उसमें अन्वित अनुगत कुलक्रम। अब सहःसूनू = इन्द्र। इस समीकरण का चिन्तन करो। इन्द्र हैं बल के देवता।

पहले के सूत्रद्वय की व्याख्या विस्तार से हुई है। अग्नि-सोम, मित्र-वरुण प्रभृति चतुः आकृति का परीक्षण करो। ये आकृतियाँ हैं दोपनी; शमनी, धननी, व्यापनी। भावान्तर से प्रथम दो को अंकनी तथा रंजनी कहते हैं और अन्य दो को क्रमशः आहरणी एवं विकीरणी (अथवा आकुंचनी-प्रसारणी) भी कहते हैं। अर्थात् अग्नि = दीपनी। सोम = शमनी प्रभृति। अग्नि में व्यापनी। सोम में पोषणी आदि तो हैं ही।

२२. **मित्राग्निसङ्घातात् सूर्यः।**

(पूर्वालोचित) मित्र तथा अग्नि की संहति ही है सूर्य ॥

यहाँ सूर्य का तात्पर्य जड़पिण्ड अथवा The Sun नहीं है। सूर्य का ध्यान स्थावर जंगम सबकी आत्मा रूप से करो। 'प्रत्यक्ष भगवान'-प्रकट ब्रह्म, हंसः शुचिषत् इत्यादि प्रकार से सूर्य की महिमा का कीर्त्तन करते-करते भी देववाणी क्लांत नहीं होती। सौरोपासक सौरतन्त्र भी वेदमान्य हैं। सूर्य = आदित्य = प्राण = ब्रह्म, यह समीकरण अत्यन्त प्रसिद्ध भी है। आदित्य हृदय एवं अन्य स्तव कवचादि में सूर्य का वर्णन अनेक रहस्यमय नाम तथा व्यञ्जना में कीर्तित हुआ हैं। पक्षान्तरेण 'त्रेधा निदधे पदं' तद्विष्णोः परमं पदं' 'तत् सवितुर्वरेण्यम्' इत्यादि वेदमन्त्र से भी अनेक अनेक पाश्चात्य तथा अपने देश के विद्वानों के कानों में Solar Myth का वर्णन पहुँचता रहता है।

परन्तु वास्तविक तत्व क्या है ? 'सहस्' रूपी शक्ति आकृति की अग्नि भावना करो। सिंचित शक्ति (रेडियेटेड एनर्जी) संचित में कुक्षिस्थ होकर as staic reserve energy) पुनः नानारूपेण नाना दिशाओं में सिंचित हो रही है। यही है

सहस् की आकृति । सकार का हकार में प्रवेश का मुख एक मेरू है, और हकार में सकार के बहिक्षेप का एक और मेरु है । मेरु वह स्थल है जहाँ कोई क्रिया अपने Sence को बदलती है । इस मेरुद्वय में से प्रथम को मित्रमेरु और द्वितीय को अग्नि मेरु कहते है । किसी महान् अव्यक्त उत्स से शक्ति सिंचित होकर मानो गुहास्थित; गह्वरेष्ठ हो रही है । मानों प्रसारित शक्तिलेख स्वयं को संकुचित, समाहृत, संहत कर ले रहा है । इस प्रकार के धन, गाढ़, सान्द्र, निविड़ अथच संहत सुषम रूप को मित्र कहते हैं । सत्ता--शक्ति--छन्दः तथा आकृति के गाढ़ संहत (Compact) तथा सुषम (Congruent) मित्र रूप की उपलब्धि के पश्चात् यह शक्तिभण्डार (हकार) स्वयं को अग्निरूपेण सुषम समर्थ छन्द में विश्व के सृष्टि प्रभृति कर्म में नियोजित करता है । अग्नि ही निःसंदिग्ध रूप से तापनी, दीपनी, दहनी, वहनी, व्यापनी हैं, किन्तु ये सब केवल स्थूल भौतिक कार्य नहीं हैं । पूर्वोक्त रूप से मित्र, अग्नि आदि के सहयोग से ही सूर्य हैं ।

जिस अव्यक्त महान उत्स का उल्लेख किया गया है, वह वैदिक भाषा के अनुसार अदिति है । चैतन्य ही प्राण आदि का अखण्ड तथा व्यापक आधार रूप है । मित्रमेरु तथा अग्नि एवं अग्निमेरु का आश्रय लेकर इसी अदिति के सूनू (इसके दोनों उभो मेरु हैं) हैं सूर्य, आदित्य । सूर्य की इस परिभाषा का अंकन करने पर अग्नि शब्द को विशेषतः अंकक और अध्वनीन भाव से ग्रहण, करना होता है । As designer of Creative patterns and tracer of Cosmic process paths. यह सम्भावित होने के लिये पूर्वोक्त 'सहोगाढ' मित्र आकृति की सर्वत्र आवश्यकता रहती है । इसके लिये उत्स एवं आधार रूपिणी अदिति शक्ति (Mother plenum of power) आवश्यक है । एक बीज के दृष्टान्त में ब्रह्म के इस 'त्रेधा निदधे पदं' रूप की धारणा करने की चेष्टा करो । ब्रह्म ही 'विष्णुरुरुक्रमः' रूपेण इस 'त्रेधा निदधे पदं' कर्म को करते रहते हैं । उसे सूर्य कहो, चाहे 'सवितृमण्डल मध्यवर्त्ती' नारायण कहो, इससे तत्व का कोई भी अपलाप नहीं होता । फिर भी सूर्य को मात्र physical sun कहकर स्थूल आधिभौतिक दृष्टि के द्वारा समग्र दृष्टि का ही लोप करना उचित नहीं है । यद्यपि सूर्य वस्तुतः ब्रह्म हैं, तथापि वे अभिव्यक्ति विशेष हैं । यही मौलिक विशेष ही वर्त्तमान सूत्र में प्रदर्शित है ।

Astral अथवा Solar physics की परिभाषा में जो सुसंगति है उसे लक्ष्य करो । भूत विज्ञान की कल्पना में जो आदिम नीहारिका महामेघ है, वह किसी अव्यक्ता अदिति माता के प्रथम घनीभावरूप (महामेघप्रभा घोरा मुक्त केशी की भावना सृष्टि के आदि मूल रूप में करो) का द्योतक है । घोरा=निबिड़ा, अर्थ की भी भावना करो । उक्त महाकाली ध्यान में चतुर्भुजा पद को भी समञ्जस रूप से भावना करना होगा । जो भी हो नीहारिका महामेघरूपेण (आधिभौतिक दृष्टिको-

णानुसार) अदितिमाता (Mother plenum of power) के मित्र मेरू का आश्रय लेती है। तदनन्तर 'सहोधन' रूप हो गया सहोगाढ़ (Condensed, Concentrated)। इस प्रकार के किसी व्यापार का ही परिणाम है कि सूक्ष्म में अणु तथा विराट में सूर्य तारक आदि ज्योतिष्क सम्भावित होते हैं। अपरिच्छिन्न उर्मिवितान परिच्छिन्न (As packet) तथा निबिड़ हो जाता है। इस प्रकार की निबिड़ता में आकर ही नाद अपने मित्र रूप में विन्दु की उपलब्धि करता है। विन्दु भी नाद को मित्ररूपेण प्राप्त करता है। Expansive और Intensive के साथ छन्द में अन्वित ग्रथित हो जाता है।

तलगा तथा उर्ध्वगा वृत्तिद्वय वेधगा को अपने संचय-सिंचन भण्डार अथवा रिजर्व बैंक में खोज कर प्राप्त कर लेती हैं। अणु तथा ज्योतिष्क प्रभृति के दृष्टान्त द्वारा इस तथ्य को विचारो। केन्द्र में विन्दु को प्राप्त करके यह भण्डार पुनः निरंतर सिंचन (Constant draining or drawing) के होते रहने पर भी स्वतः संचयी रूप को ही प्राप्त करता रहता है। वह खेचरता का बाहुल्य होने पर भी आसानी से 'दिवालिया' 'फाजिल' नहीं होता। जपादि अध्यात्म साधन में इस स्वतः संचयी नादविन्दु मित्रता को यत्नपूर्वक प्राप्त करना होगा।

इस प्रकार से नादविन्दु मैत्ररूपिणी स्वतःसंचयी केन्द्रीणता प्राप्त हो जाने पर (सूक्ष्म तथा विराट में) सुषम-कुशला सृष्टिरूप-अंकन-रंजन-पटीयसी महाशक्ति निर्झरिणी स्व छन्द में आ जाती है। अध्यात्म में भी यही है। यह स्थल है सोम मित्र अग्निमेरु। पूर्व मेरू को कहते हैं विन्दुमित्र अथवा वसुमित्र मेरू। यहीं से उन आदिपुरुष का पुरुष यज्ञ प्रारम्भ होता है। इस आदियज्ञ की सोममित्र अग्नि को सम्यकतः पहचान लो, क्योंकि तुम्हारे समष्टि और व्यष्टि जीवन यज्ञ का इसी आदिम यज्ञ की आकृति में उद्यापन करना होगा। आकृति का विश्लेषण भागत्रय में किया गया है, तथापि आकृति कभी भी पृथक् परिच्छेद योग्य नहीं है। पूर्ण आकृति के प्रथम भाग को आदित्य, द्वितीय को सूर्य तथा तृतीय को घृणि कहने पर सूर्य मंत्र उपलब्ध होता है "ॐ ह्रीं घृणिः सूर्य आदित्यः'। इस मन्त्राश्रय द्वारा तुमको विलोमतः उसी मूल आधार में ही जाना होगा। प्राणन् आकृति को लक्ष्य करने पर आदिमेरू को अर्यमा (अर्यमन्) और द्वितीय मेरू को उपक्रम कहा जाता है। Radiation के क्षेत्र में मित्रमेरू को Raman Effect और अग्निमेरु की Crompton Effect से तुलना करो। निखिल कलन धारा के नाभि स्वरूप (सू + र + यः) मित्राग्नि-रूप मेरुक्रान्तिकृत् सूर्य नारायण की पूर्वोक्त रूप से भावना करके उनके रहस्य नामों का चिन्तन करो।

विशेषतः आधिभौतिक को ही उदाहरणरूपेण ग्रहण करके दृष्टि को उसी में निरूद्ध, संकुचित तथा कृपण बना लेना उचित नहीं है। सौर विज्ञान (Solar Sc-

ience) केवल Solar physics ही नहीं है। आधिभौतिकादि दृष्टित्रय के अतिरिक्त भी अधियज्ञ एवं अध्यक्षर रूपी दृष्टिद्वय की सत्ता है। इन्हे स्फुरित करो, अन्यथा सौर विज्ञान को पराविद्या तथा ब्रह्मविद्या के साथ अन्वित करने में अयोग्य सिद्ध हो जाओगे। श्रुति का वज्रगर्भ जलद गम्भीर भाषा में तुम्हारी मूर्द्धा पर विपतित होगा। वर्त्तमान में वही हो रहा है। मेदिनी मूर्द्धा तो धीर-शान्त-प्रज्ञाकुशलोज्वला मेघा नहीं है। भूत विज्ञान का यथार्थ विवर्त्तन सौर विज्ञान में होना आवश्यक है, क्योंकि सौर विज्ञान ही सवितृ विज्ञान है। 'यस्मिन् ज्ञाते सर्वमज्ञातं ज्ञातं भवति, सर्वमकृतं कृतं भवति' इत्यादि। सूर्य को हिरण्यगर्भः इत्यादि क्यों कहा गया है, इसे पहले विवेचित किया जा चुका है। ये हिरण्यकेश भी कहे जाते हैं। हिरण्यगर्भः में अव्यय निधान शक्ति है। हिरण्यकेश से अनन्त वितान तथा विन्यास शक्ति की सूचना प्राप्त होती है। अतः सृष्टि में सर्वत्र अन्न, प्राण, मन, विज्ञान तथा आनन्द के अव्यय निधान रूप से और प्रपूर्ति-विभूति रूप से सूर्यनारायण-स्वमहिमा में विराजमान हैं।

सविता की भावना 'सविता स्वर' (प्रणव) रूप से करो। प्रणव के अ उ म तथा अर्धमात्रा, ये चारो मात्रायें सूर्य के कतिपय राहस्यिक नाम तथा उनकी अर्थ व्यंजनाओं में उदाहृत हैं। इस पर विचार करो। 'अ' कार (जिसे व्याहरण में नाभिस्थल से उठाना होगा, भगवान के नाभि स्थल में सृष्टिकर्त्ता समासीन हैं) आदित्य तथा अर्कः रूपी नामद्वय का और उसके भाव का निर्देश निरूपण करता है। अर्थात् अर्कः तथा आदित्य रूप से सूर्यनारायण विश्वभुवन की नाभि हैं (आदि स्वर, तैजसधारा एवं प्राणकेन्द्र रूपेण)। 'म' कार में वे भुवनों के 'मूर्द्धा', मूर्धन्य ज्योतिः तथा निखिल नियन्ता-(Cosmic Brain) हैं। मित्र-अर्यमा-मख-मयूखी-मार्त्तण्ड नाम तथा भाव से इसी मूर्द्धा का निर्देश प्राप्त होता है। और जो 'उ' है वह भुवनों का हृदय है। ये ही वायु दैवत् हैं। नाभि तथा मूर्द्धा (Cosmic Energy and Cosmic Control) का संयोजक, अन्योन्यसापेक्षता विधायक है हृदय (हृद् + अय)। पहले हृदय का लक्षण विवेचित हो चुका है।

अन्तःकरण में यही सूर्य है आवेग, आस्पृहा तथा भावानुभूति। बहिर्विश्व में एवं प्राण में यही है छन्दः तथा सुषमस्पन्दन (Rhythmic Beat and Flow)। विश्व की गतिस्थिति में सूर्य इस छन्द को सर्वत्र चालित करते हैं और स्वयं भी इसी के द्वारा चालित होते रहते हैं। एक मौलिक रूप से छन्द सप्त है। अतः सूर्य हैं सप्ताश्व। उ के योग से भानु, उरूक्रम, विष्णु, पूषा, सूर्य (सब में उ है) प्रभृति नाम विशेषतः निर्देशित हो रहे हैं। और त्रिमात्रा के परे जो अर्धमात्रा है, वह उत्तमाः (तमसः परस्पात्) वरेण्य भर्ग की साक्षात् द्योतक है। वह परम ज्योति 'घृणि' रूपी परम राहस्यिक नाम एवं धाम का सन्धान करा देती है।

अर्थात् ओंकार को केवलमात्र क्रियादिरूपेण (Functionally) देखने पर ही पर्याप्ति नहीं होती। इसी प्रकार से सूर्य को भी भुवन-भावना रूप (कास्मिकली, इमिनेन्टली) देखने से ही देखने का शेष नहीं है जब तक उन्हे भुवनातिग रूप से (cosmicaily, Transcendentally) नहीं देखा जायेगा, तब तक परम पर्याप्ति की स्थिति नहीं है। अतः अर्चिरादिमार्ग की जो शुक्ला गति है; उसमें भुवनस्य नाभिः रूपेण जो सूर्य संस्था है, उसका भेदन करते हुये ब्रह्मपदवी पर्यन्त उन्नीत होना होगा।

पहले जिस प्रकार से भावना हो चुकी है उससे इस नाभिभेदन की व्यंजना स्पष्ट है। जैसे स्थूल जड़त्व (अणुपर्यन्त) को उच्छिन्न करके यदि सूक्ष्मशक्ति वस्तु को (Energy as Mass) प्राप्त करना हो, वह तभी सम्भव हो सकेगा जब अणु की केन्द्रीण संस्था (न्यूक्लियस) का भेद हो। प्राणी के उद्वर्त्तन में केन्द्रीण क्रोमोजोम संख्यान पर्यन्त सब विदित होना चाहिए। फलतः केन्द्रीण विप्लव तथा विसृष्टि। चेतना के राज्य में 'अहं' वही केन्द्रीण ग्रन्थि है। इस ग्रन्थि का भेदन करने में पटीयसी किसी शक्ति तथा उसकी शक्यमानता को भी प्राप्त करना होगा। समस्त व्यस्त समाधान का मूल प्राप्त होता है सामग्रिक समाधान द्वारा। यह जब तक सम्पन्न नहीं होता, तब तक व्यस्त समाधान का समीह अथवा संकोच उच्छिन्न नहीं हो सकता। अणु से शक्ति विसर्ग में आयी, किन्तु विश्व संस्था की नाभि में जो अर्क-आदित्य शक्ति है, वह यदि उसे मुक्त नहीं करते, अपने घृणि तथा भर्गः स्वरूप में उसे ले नहीं आते; उस स्थिति में वह अणु विसृष्ट शक्तिराशि पुनः भुवन जाल की ग्रंथि विशेष में आबद्ध हो जाती है। उस जाल की ग्रन्थि अत्यन्त मजबूत और घनविन्यस्त है। उसे उच्छिन्न कर सकना आसान नहीं है। साधन जीवन में भी यह नित्य अभिज्ञता की वस्तु है। ग्रन्थिमोचन तो सम्भव नहीं होता फिर भी निखिल विश्वग्रंथि का नाभि ग्रन्थन जहाँ है, उस भुवन नाभि में, विशेषतः सविता स्वर (ओंकार) में समाश्रित समावृत्त हो जाओ।

सर्वदेशेषु केन्द्रीणो हृदयं सर्वकालतः।
सर्वसम्बन्धनाभिर्यः स आत्मा सर्ववस्तुषु ॥२१९॥

अणु-महान् रूपी समस्त 'देश' में जो केन्द्रीण है, सर्वदा, सर्वकाल में जो केन्द्रीण है, जो सर्वदा, सर्वकाल में हृदय अथवा मौलिक स्पन्द है, (Basic Beat) सर्वसम्बन्ध में नाभि (Fundamental Nexus) है, वही सर्ववस्तु की आत्मा है 'सूर्यं आत्मा जगततस्थुतश्च'। विश्व, देश काल, वस्तु तथा सम्बन्ध रूपी चारो मूल अवभासों द्वारा सूर्य की इस-इस रूप से भावना करो।

सर्वदृशां स वै मुख्यः सर्वप्राणभृतां वरः।
सर्वगिरां स ओङ्कारः सर्वमधुमतां मधु ॥२२०॥

चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः' निखिल भुवन नेत्र सूर्य सर्वदर्शी लोगों में मुख्यतम हैं। (साक्षात् ज्योतितत्व हैं), वे समस्त प्राण के भरण करने वालों में श्रेष्ठ (साक्षात् प्राण ब्रह्मरूप) हैं, वे वाङ्मय विश्व में समस्त वाक् के प्रभव, प्रलय ओंकार हैं। (साक्षात् नाद-ब्रह्मतत्व हैं) सकल मधुमत्तम रस के रसयिता मधु (साक्षात् मधुब्रह्मतत्व) हैं। ज्योतिः, प्राण, नाद, तथा मधु रूपी विश्वसंवित्ति के इन चार दृष्टिकोणों द्वारा सूर्यनारायण की स्वायंभुव महिमा का ध्यान करो।

संख्या-संख्यान-सांख्येषु प्रसंख्यानेन निष्ठितम्।
संख्यामूलस्य विश्वस्य हृचादित्यं हृदयं विदुः ॥२२१॥

संख्या, संख्यान तथा सांख्य के मूल में अवस्थिति के कारण यह विश्व संख्यामूल (Basic Nnmber pattern) आकृति प्राप्त करता हैं। समस्त के मूल में है संख्या तथा संख्या विज्ञान, मैथमेटिकल यूनिवर्स। किन्तु संख्येय विश्व को (जड़ प्राण मन, सबको) कोई भी महासमन्वय छन्द में अभी तक नहीं ला सका। अथच संकेत अवश्य ही मिल रहा है कि यह समन्वयी किस छन्द का है। इसे आयत्त कर लेने पर सर्व स्थल में संख्या समीकरण आदि का एक प्रकृष्ट सामञ्जस्य मिल जाता है। इस प्रकृष्ट संख्यान स्थल को कहते हैं प्रसंख्यान। यहाँ सूर्य वे तत्व हैं जिसमें विश्वसंख्या का प्रसंख्यान परिनिष्ठित है। यद्यपि सौरजगत में सूर्य इस प्रसंख्यानरूपेण विराजित अवश्य हैं किन्तु यहाँ किसी Specific field (विशेष क्षेत्र) की कहानी कहे बिना नहीं रहा जाता। मूल तथा व्यापक प्रसंख्यान है सार्वभूमिक सूर्य विज्ञान तथा सूर्य सिद्धान्त।

संख्या नेमिश्च संख्यानं ह्यराः साख्येन नाभिता।
प्रसंख्यानध्रुवाक्षेण संख्येयचक्रमेजते ॥२२२॥

संख्येय (मेजरेबिल, कैलकुलेबिल) विश्व में सर्वत्र कार्यकारी संख्या (आपरेशन नम्बर) होने पर है नेमिस्वरूप। संख्यान (संहत् आकृति फारमूला) हैं अर स्वरूप। सांख्य (संख्या विज्ञान अथवा थ्योरी) है उसकी नाभि, किन्तु ये सब संख्येय विश्व को किसके आश्रय द्वारा चक्रगति से चलाते हैं? यह है प्रसंख्यान रूप ध्रुव अक्ष अथवा धूः। इस अक्ष के अभाव में कोई भी थ्योरी समञ्जसतः महासमन्वय रूप नहीं हो सकती। अतः सूर्यतत्व का भुवनधुरन्धर रूपेण ध्यान करो।

ग्रहाः संख्या च वर्त्माणि कालः संख्यानसाधकः।
सांख्यञ्चा भवप्रारब्धं प्रसंख्यानं तदीक्षणम् ॥२२३॥

ग्रहनक्षत्र नीहारिकादि तथा देश संस्था का जो वर्त्म अथवा मार्ग है, वही है संख्या। देश सहकृत काल है संख्यानकृत्। इस भव अथवा सृष्टि का जो प्रारब्ध है (यथा-पूर्वमकल्पयत्) वह है सांख्य। और स्वयं ब्रह्म का ईक्षण है प्रसंख्यान। अतः

ब्रह्म की साक्षात् ईक्षणमूर्त्ति (दिवीव चक्षुराततम्) सूर्यनारायण का 'दिव्यचक्षुषा' दर्शन करो।

अब यह देखोगे कि चन्द्रमा ब्रह्म की साक्षात् संकल्प मूर्त्ति है। सूर्यतत्व 'भर्गस्' की आकृति में 'अस् भागान्त' और चन्द्रमा को भी 'चन्द्रमस् रूपेण 'असस्त' करते हुये ब्रह्म की साक्षात् तपोमूर्त्ति 'सूर्य चन्द्रमसौ' रूपी युगमतत्व की प्राप्ति होती है।

अणौ सर्गे विसर्गे च रेणौ धनर्णतायने।
वीचौ सन्धौ च मेरौ च हरिदश्वो गभस्तिमान् ॥२२४॥

जड़—प्राण—मानस आदि में जो अणु रूपता (Atomicity) है, उसके सम्भव तथा विलय का आधार एवं अध्यक्षता कहाँ है ? इस प्रश्न को विज्ञान तथा प्रज्ञान से पूछ कर उत्तर प्राप्त करना होगा। यह प्रश्न है वास्तविक दृष्टि से। शक्ति दृष्टि द्वारा शक्तिविकिरण की जो रेणुरूपता (quantum) है, उसकी मात्रा (जैसे Plauck's Constant) और उनके धन—ऋण रूप (मिथुन रूप) के विस्तार के मूल में कौन है ? तत्पश्चात् छान्दसी दृष्टि द्वारा सब कुछ की वीचि आकृति (वेव पैटर्न) में, सन्धि (इन्टरलिंकिङ्ग) और मेरु में (क्रिटिकल वैल्यू) किस प्रसंख्यान विशारदी सत्ता शक्ति के द्वारा छन्दोगत्व (हारमोनिक फंक्शन) आता है ? वर्त्तमान सूत्र में आलोचित सूर्य तत्व में विशेषत: हरिदश्व एवं गभस्तिमान रूपी राहस्यिक नाम में तथा मूला वृत्ति में ! हरिदश्व कहने पर 'मित्र' तथा गभस्तिमान कहने पर 'अग्नि' की विशेष सूचना मिलती है। पूर्वालोचित आत्मनीन एवं अध्वनीन रूपी मुख्यवृत्तिद्वय को मित्र तथा वरुण में यथाक्रमेण समझना होगा। हरिदश्व में हरित अर्थात् हरा ? यदि ऐसा है, तब यह लक्ष्य करो कि सप्तवर्णाली (लाल से बैंगनी Violet तक) का सम्यक् माध्यम रहने पर ये वर्ण ग्राम भी सेतु सन्धि की रक्षा करते हैं (मित्र)। यहाँ Colour Band के जो और दो पक्ष (wings) हैं, उनकी मैत्रग्रंथि (Harmonic Hinge) मिल गई हैं। श्यामसुन्दर नवदूर्वादलश्याम इत्यादि में यह मूलमंत्र 'मधुर' होकर व्यक्त होता है। श्यामल रूप अथवा श्री केवल नयनों का ही नहीं, प्रत्युत् प्राणों का भी रसायन है। तदनन्तर इस श्यामल रसायन से अन्त:शीतल होकर 'हरित' रूपी वर्णत्रयी का एक रसायन बना लो। अर्थात् हरित् हो जाये 'हिरत्'। अब मिला हिरण्मय, हिरण्य। यही है निखिल वर्णाली का आत्मनीन वर्ण। सूर्यतत्व में इसी आत्मनीन वर्ण का ही स्वरूप (स्व-वर्ण) रक्खा गया है। हरित् आत्मनीन विश्वमित्र वर्ण का द्योतन कराता है। इसके साथ योग करो अ + श्व: — जो केवल भावी अथवा सम्भाव्य (पोटैंशियल) नहीं है, परन्तु वह सम्भूत रूप है (Kinetic, actual)। यह विरति अथवा निवृत्ति

(Staticity का) का रूप नहीं है, किन्तु गति अथवा प्रवृत्ति Dynamicity का रूप है।

अत: जो कुछ अद्यश्वीन (आज अथवा कल) अथवा केवल अध्वनीन (Path moving) है, उसे आत्मनीन विश्वमित्र आकृति में मिलाते हैं यह हरिदश्व ! हरिदश्व का मुख घुमाकर उसे आन्तर स्निग्धता तथा विश्वमित्रता में योजित करो। इस स्थल पर सम्भव कहता है "देखो ! मैं अन्तर्बहि पूर्ण वास्तव (अ+श्व:) हूँ।" अत: 'हरिदश्वाय ते नमः। इस महारसायन रहस्य को आवश्यकतानुरूप निम्न व्यवहार भूमि में भी समझ लो। जैसे दैहिक अनामयी स्थिति तथा वाहिता में "आरोग्यै भास्करादिच्छेत्"। आमय अथवा रोग अर्थात् प्राण का विरूप विषम स्पन्दन (एन्टीपैथी वेव रिलेशन, जहाँ प्रसज्य वेव इक्वेशन में किसी सुसमञ्जस निष्कर्ष की प्राप्ति नहीं होती)। इस दृष्टिकोणानुसार रोग का निदान मूलत: स्पन्द विज्ञान का ही प्रश्न है। भास्कर=the Source of cosmic Radiation। हरिदश्व= उक्त रेडियेशन समूह की सुषम, सुसमञ्जस आकृति हारमोनिक पैटर्न। यह केवल दृष्ट अथवा व्यक्त स्थिति में ही नहीं, प्रत्युत् अव्यक्त क्षेत्र (ultra and Infra) में भी। अत: मन्त्र में है 'आदित्याय नमो नमः"। इसके पश्चात् 'हरिदश्वाय ते नमः। इसके पूर्व है 'जयाय जयभद्राय'। भास्कर आदित्य हैं (प्राण ब्रह्म ओंकार है), उनका हरिदश्व केवल मात्र जय (Triumphant) ही नहीं है परन्तु सर्वत्र जय का जो भद्र रूप (सर्वतोभद्र) है, वह भी है। 'जय' शब्द का और भी विश्लेषण करो।

श्रुति कहती हैं—वे यज्ञ द्वारा यज्ञ का विस्तार करते हैं। यज्ञ' शब्द यज् धातु से व्युत्पन्न है। 'य' ब्रह्म की प्राणरूप कालरूप (फन्डामेन्टल डाईनेमिसिटी अभिव्यक्ति है। इसके वायुबीज रूप से हम पहले से ही परिचित हैं। यह मूलप्राण वायुतत्व जब किसी 'जात' अथवा भूतपदार्थ रूप में स्वयं को गठित करता है, तब उपलब्ध होता है 'ज' (staticity)। विश्व में 'य' वस्तु स्वयं को 'ज' आकार में लाती एवं जानने लगती है। यही है यज। इसके साथ कोई फल अभीष्टरूपेण (asEnd) रहने पर 'यज' ही यज्ञ हो जाता है। केवल प्रज्ञान ने ही नहीं प्रत्युत् विज्ञान ने भी इस मौलिक फारमूला को स्वीकृत किया है। जैसे पहले Matter को अनेक मौलिक 'ज' (एटम) के आकार में उपलब्ध किया गया। वर्तमान में जड़ है यज्ञ (Basic Energy as Rest mass)। अन्य क्षेत्रों में भी देखो। प्राण मन की भूमि में भी यज का अनुसन्धान करो।

'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि' इसके तात्पर्य का गहन चिन्तन करो। यहाँ यह देखो कि 'यज' आकृति में आकर वायु अथवा प्राण जिस आकृति को ग्रहण करता है, भूतभौतिक सृष्टि में निर्मित वह भाव तो चाहिए ही। सब कुछ एक 'गम्भीर सूत्र' में आता है। यह जो Bound, Congealed भाव है, इसके स्थाणु Immovable

हो जाने पर समस्या आ जाती है। यह अवष्टम्भ अथवा स्थाणुत्व है व्यावहारिक जड़त्व (Inertia)। इस जड़त्व से विश्व की असीम चेतना तथा प्राण एक महा-मूर्च्छना में जा पड़ता है। अहल्या ही पाषाणी है। जड़त्व से मुक्ति का कोई अमोघ उपाय मिलना ही चाहिये ! सब कुछ, मुक्ति के लिए एक अन्तहीन प्रयास तो करते ही रहते हैं। यह प्रयास ही है विश्व का उद्वर्त्तन Evolution. इस अमोघ उपाय को कौन प्रदर्शित करेगा ? वह उपाय यह है कि यज को उलटकर मूल अथवा विन्दु मुखी होने दो। अर्थात यज् हो जाये जय। अध्यात्म साधना में जप इसी प्रत्यग्धारा के समर्थरूप की सूचना देता है।

खाद्यादि में जो पाषाणी शक्ति (सोम) 'ज' आकृति में स्तब्ध-अवरुद्ध है, उसे जठरस्थ वैश्वानर अग्नि सक्रिय (य) करते हैं। अतः आहार यथार्थ होने के लिये यज्ञ होना आवश्यक है, जिससे यज्ञ का रूपान्तरण जय रूप में हो सके। जप-यज्ञ में भी मन्त्राक्षरादि का यह विवर्त्तन, ट्रान्सफारमेशन अत्यावश्यक है। अन्न, जप प्रभृति सब कुछ प्रथमतः 'मित्र' आकृति में आहृत एवं व्याहृत होना चाहिए। द्वितीयतः अग्नि आकृति में सक्रिय समर्थ शक्तिरूपता भी आवश्यक है। 'समर्थ' किसी अभीष्ट फल (End) को खोजता है। अन्न-जल के स्थल पर मन-प्राण के वर्च एवं ओजः की प्रयूरयिता एवं संवर्धयिता का होना आवश्यक है। ज्योति रस का भी संवर्धन-पूरण प्रयोज्य है। इसीलिए गायत्री व्याहरण में 'वरेण्य भर्गः' धीमहि समूह को (धियः) अपनी महीयसी भर्जनी एवं दीपनी शक्ति से प्रचोदित करते हैं। उस 'धियः' के 'जो नः' रूप से व्याहरण द्वारा अयथा अवपातन हो जाने के कारण जो अधस्तात् स्तब्धवृत्तिता (ज) है, उसमें नहीं ले जाना चाहिये (अशुद्धरूप में नहीं ले जाना चाहिये)।

जिस मूलयज्ञ का वर्णन किया जा रहा है (अर्थात् यज् को जयरूपेण आयत्त करना) उसमें क्षेम अथवा मित्रभाग को यदि स्वधा कहा जाये, तब अग्निभाग है स्वाहा। यह सामान्य दृष्टिकोणानुसार कहा गया। मित्राग्निसंघात होने पर स्वाहा तथा स्वधा का मिथुनीभाव उपलब्ध होता है। सूर्यनारायण इसी मिथुन को अपने 'आदित्य' स्वभाव से द्वन्द्वस्थ प्रकट करते हैं। वे आदि पुरुष के, आदियज्ञ के, मूर्त्त-विग्रहरूप विराजित रहते हैं। 'तदीय तेजः सवितृ तेजः'। निखिल सवन तथा पोषण की सत्ता एवं छन्दः उसमें विराजित है। केवल अतीत में ही नहीं, वर्त्तमान और भविष्य में भी। क्योंकि काल का निखिल कलन करने में समर्थ दिव्य अव्यय कलेवर भी वे ही हैं।

पुनश्च—नमः, स्वाहा, वषट्, वौषट्, हुँ, फट् इन अव्यय न्यासादि बीजरूप में उक्त मित्रावरुण संघात की भावना भरो। आपेक्षिक दृष्टि से ये बीज दो-दो के क्रम में हैं मित्र एवं अग्नि ! मित्र में आत्मनीन तथा अग्नि में अध्वनीन भाव की प्रमुखता

है। अतः सूर्यनारायण निखिल विश्व में यावतीय सुषम समर्थ न्यास विन्यास कर्म के निर्वाहिता प्रचोदयिता हैं। जैसे जड़ में सवितृ तेजः 'हुम्' बीज में केन्द्रीण है, फट् बीज में विकीर्ण है। प्रकृति में इन दोनों की सुषमता की रक्षा सूर्यनारायण करते हैं, किन्तु मानव के वर्त्तमान विज्ञान व्यवहार में ? सूर्य गायत्री का आश्रय लो 'ॐ भास्कराय विद्महे महद्द्युतिकराय धीमहि तन्न आदित्य प्रचोदयात्'। सूर्य के आदित्य अथवा प्राणब्रह्मरूप में प्रपन्न होना चाहिये, नहीं तो शक्तिकेन्द्रसमूह दैत्य-तेजः के द्वारा (By mero fission Action) विदीर्ण तथा विकीर्ण होकर प्राण को विशीर्ण कर देगा।

सौरविज्ञान असीम अगाध रहस्य वारिधि है। उस वारिधि की वेलाभूमि से कतिपय उपलखण्डों का ही चयन हो सका है। परवर्ती खण्ड में 'चन्द्रमा' सूत्र आयेगा। उसके पहले कतिपय रहस्य कारिकाओं की भी विवेचना होगी। अब उप-संहार में इस कारिका का चिन्तन करो—

ईक्षणञ्चतपो भर्गश्छन्दो यज्ञो जयो गभः (भगः)
वेविष्टे सप्तधा ब्रह्म त्रेधा च निदधे पदम् ॥२२५॥

सूर्यनारायण में ब्रह्म की सप्तधा वर्त्तमानता तथा त्रेधा पद्यमानता समन्वित रहती है। ब्रह्म का ईक्षण तपः—भर्गः (सवितुर्वरेण्यं), छन्दः (मित्र एवं अग्नि के न्यास विन्यास की सुषमता), यज्ञ जय एवं गभस्, जिससे गभस्तिमान हैं। ग = कालाध्वादि गति, भ = गूढ़शक्ति (व) का सम्यक् उर्जितरूप। अस् = समर्थ सुषम प्रक्षेप विकिरण, इन सप्त वृत्ति से सूर्य समाहृत हैं। ये हैं सर्वव्यापी विष्णु (वेविष्टे) और नाना मूल आकृति में (अ उ म इत्यादि में) 'त्रेधा निदधे पदम्' हैं। इस सप्तविभूतिका त्रिपात् चराचर आत्मवर्या ब्राह्मी तनु को नमस्कार !

॥ तृतीय भाग समाप्त ॥

परिशिष्ट (क)

मूलग्रंथ में तारचक्र समाचरणम् प्रभृति प्रसंग में ओंकार के व्याहरण एवं अर्थ भावना का विस्तृत वर्णन किया गया है। इन कतिपय श्लोकों में ज्ञान, भाव, योग एवं कुलकुंडलिनी के साधन के लिए ओंकार के आन्तर हवनादि की भावना की जाती है—

ॐकारहवनादिदशकम्

विवदिषव आत्मानं तारजपपरायणाः।
चिति वै पञ्चमात्राभिर्जुहुयुः कोषपंचकम्।
स आत्मा स च विज्ञेयः प्रपंचोपशमे ततः ॥१॥

स्थूलाऽपराञ्च सूक्ष्माञ्चापरापरां परापराम्।
परां परमपूर्णायां प्रकृत्यां जुहुयुर्मुदि ॥२॥

स्थूलं सूक्ष्मं क्रमाद् गुणं प्रधानं शुद्धमिज्यताम्।
स्वकं रूपमकाराद्यैः स्वरूपे परमे सति ॥३॥

कन्दरे मन्दिरे सानौ झरीमुरजमेघजाः।
स्वनं प्रतिस्वनैः स्पन्दा गम्भींरा वाप्नुवन्तु ते ॥४॥

अस्मिन् प्रसादगम्भीरे व्यापिनी प्रथमं हविः।
तस्य वेधघनीभावे चोर्जिते द्वितीयं ततः ॥५॥

सुषुम्नामुखमुद्दिश्य तृतीयं स्पर्शमन्तिमम्।
नादे ह्यनाहते तूर्यं ज्योतिः सत्वोज्वले भूरि ॥६॥

पंचमं परमे विन्दौ ज्योतिर्यत्र रसोधनः।
वाक्प्राणचित्तसंघात आत्मा नात्राधरारणिः।
मात्रासंङ्घात उर्ध्वस्था वा ज्योतिरसमंथने ॥७॥

अदिति ह्यप्रमत्तेनामेति वेद्धव्यमित्यपि।
प्रणवधनुषो लक्ष्यं ब्रह्म विन्दूपलक्षितम्।
शरो ह्यात्मेति नादश्च विन्दुलीनः स तन्मयः ॥८॥

सृष्टिस्थितिलयांस्तिस्त्रो नादो महात्मनस्तपः।
शक्ति ब्रह्मघनोविन्दु स्त्रीणि तत्वानि जुह्वति ॥९॥

एको देवो इतिह्याद्यः सर्वव्यापीति मध्यमः।
अन्तरात्मेति चान्त्यो योऽर्द्धमात्रा शिष्टमीहते ॥१०॥

आत्मभार स्वरूप अवबोधे व्रती तुमि ओंकार साधने।
उदय विलय मेरू क्रमे, रत आछे तार व्याहरणे ॥

सत्यभाव हे महान् याज्ञिक ! शुद्ध आत्म संविति अनले ।
प्रणवेर पञ्चमात्रा लये कोषपञ्च आहुति साधिले ॥

अकारेते अन्नमय कोष 'उ' ए प्राण 'म' ए मनोमये ।
विज्ञान—आनन्द कोष रूप त्यजि शुद्ध नादविन्दु लये ॥

पंचकोष विनिर्मुक्त तुमि शान्त प्रपंचेर उपशम ।
सेई आत्मा जान तारे बलि शुनियाछे ये ज्योति परम ॥

भावेर सरणि धरि रसकणा चल रसतमें
महानाम वाणी पञ्चसखी दूती तव ह्लादिनी सन्धाने ॥

स्थूल पञ्च वहि अपराय अन्तरेर तिनेते मिलाओ ।
क्षिति-जल-अनल-अनिल व्योमे नाम स्वर मन्त्र दाओ ॥

अपराय मग्ना पराटिर मध्यमाय करिओ उद्धार ।
अपरार गुणीभूता परा उत्तमाय प्रधाना तोमार ॥

नादरस कालिन्दी सियाने परा होक् शुद्ध निरमला ।
विन्दु अभिलाषा शुद्ध रस रूपा रससिन्धु परमे मंजुला ॥

सांख्ययोगपरायण तुमि पंचपर्व सन्धिनी सन्धानी ।
प्रणवेर स्वर पँचशर संन्धिवेधे अमोघ अशनि ॥

धी धनुते ज्याटि युंजान, आदि स्वरे स्थूलपर्वविशेषेरे ।
सूक्ष्मे उ गुण महानेते म विन्दुनाद शुद्ध प्रधानेरे ॥

परम से विन्दु शून्यताय उपशमे सर्वप्रपंचेरे ।
परिपूर्ण अखण्ड प्रकाशे पूर्ण कर निखिल द्वंदेरे ॥

लययोगे कुण्डली जागृति आदिस्वरे पूर्ण कर काय ।
अन्तःस्पन्दे प्रतिस्वने गभीर प्रसन्न व्यापिताय ॥

कन्दर-मन्दिर स्वानुभूमि निर्झर मुरज मेघमन्द्रे ।
व्याप्त यथा गम्भीर स्पन्दने तथा सान्द्र पूर्ण रन्ध्रे रन्ध्रे ।
कुण्डली जागृति लय योगे आदि हविः स्पन्द कायव्यापी ।
उकारेते वेधमुखी कर व्यापिकाय उर्जितैकमुखी ॥

अन्तिमें जे स्पर्शवर्ण ताय सुषुम्नार मुखेते हवन ।
मूलाधार अथवा द्विदले उर्जितार येथाय भावना ॥

तुरीय हवन समाधान, होक् तव अनाहत नादे ।
जे नादेर हृदये उद्भव भूरि ज्योतिः सत्व सम्प्रसादे ॥

ज्योतीर परम रसघने विन्दु लये अन्तिम हवन ।
आमूल ए वल्ली सहस्त्रार शक्ति ज्योति सामरस्यघन ।।

वाक् प्राण चित्तेर त्रिपुटी-आत्मा नय अधरा अरणि ।
किंवा उत्तरा मात्रामेया वाक्, पराय परम सम्मथनी ।।

वर्णत्रय प्रणवेर धनु अ स्वरेते हओ अप्रमत्त ।
उ म स्वर द्वये साध वेधे, लक्ष्य ब्रह्मविन्दु स्वरूपेते ।।

अनाहत नादात्मार शरे लक्ष्य साध स्थितधी ताहाय ।
शरवत्तन्मय सिद्धि होक् नादात्मार विन्दुलीनताय ।।

तिने सृष्टि लय शक्ति नाद महानात्मा तपोमय ।
विन्दु शक्ति ब्रह्म घनतम (महोदय) आत्मविद्या-शिवतत्वलय ।।

आदिस्वरे श्रुत 'एकदेव' उकारेते श्रुति 'सर्वव्यापी' ।
'म' ए सर्वभूत अन्तरात्मा कर्माध्यक्ष नादेते समापि ।।

सन्धि 'सर्व अधिवास' साक्षी चेता केवल निर्गुण विदुलय ।
क्रमान्वये समापने हओ ब्रह्मभाव-पंच-समन्वये

——

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१, श्लोक २,	१	मिष्येव	मित्येव
,, ,,	३	मूर्धन्य	मूर्धन्यृ
१; ,, ४	३	वायुर्भा	वायुभ्रा
२, ,, ७	१	र्योलसन्ती	र्योल्लसन्ती
२, ,, १०	१	स्वात्मन्यवन	स्वात्मन्यन
२, ,, १२	२	नम्ना	नाम्ना
२, ,, १२	३	चारुचित्ते	चारुचित्रे
२, ,, २	२	वियात	वियात्
५०, ,, ३	२	वधुपायते	मधुपायते
५०, ,, ५	२	लक्ष्यय	लक्ष्या
५१, ,, १	२	हिलकोल	हिल्लोल
५१; ,, १	४	क्षित्यीं	क्षित्यां
५१, ,, १	३	चिन्ते	चित्रे
५१, ,, १	४	चामृतेऽसु	चामृतेऽप्सु
५४, ;;	१	सांङ्गे	साङ्गे
५४, ;;	३	वाकिकाद्यै	वाचिकाद्यैः
५७, ,, २	२	विभूतश्ना	विभूतश्चा
६९, ,, १२	२	स्वकालाव्यास	स्वकलाव्याप्य
७३, ,, १८	२	चकला	चाकला
७३, ,, १९	२	श्रयात्	श्रयेत्
७३, ,, २०	१	सेति	मेति
८३, ,, २६	३	मर्यदा	मर्यादा
८४, ,, २८	१	व्यक्तव्यक्त	ब्यक्ताव्यक्त
८५, ,, ३१	१	स्फोर्टं	स्फोटं
८५, ,, ३२	१	वर्ण	वर्णा
८५, ,, ३३	१	शक्त्याः, मैथुना	शक्त्योः मैथुना
८९, ,, ३८	१	स्तुति	स्तृति
८९, ,, ३८	२	गच्छेषु	गच्छेयु
८९, ,, ४०	१	यवभी	यद्भी

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८९, ,, ४०	३	याजेको	याजको
९२, ,, ४१	३	स्वयोनिवा	स्वयोनिजा
९३, सूत्र संख्या	५	प्रत्याकुरुते	प्रत्याकुरुत
९८, श्लोक ४३,	१	क्षराक्तस्या	क्षरात्तस्या
१०९, ,, ५०,	१	सन्तानन्त	सान्तानन्त
११६, ,, ५४,	२	विद्धि	विद्ध
१२७, श्लो० ५० को श्लो० ६० पढ़ें		श्लो ५०	श्लोक ६०
१२७, इसी श्लोक की प्रथम पंक्ति		या धूम्र	या धूम
१३३, श्लोक ५२ को ६२ पढ़े		श्लोक ५२	श्लोक ३२
१३३, इसी श्लोक की दूसरी पंक्ति		तथात्वं	तथात्वे
१३६, श्लोक ६३,	१	देहाकृति	देहाकृतिः
१३६, ,, ६३	२	मायाकृति, प्रकृते	मायाकृतिं, प्रकृतेः
१३६, ६४	१	प्रप्यक्	प्रत्यक्
१४५, ,,	पंक्ति १६	ऋजु-वक्र-लुप्त	ऋजु-वक्र-प्लुत
१५०, श्लोक ७४	१	ग्रन्थि वस्तु	ग्रन्थिस्तु
१६०, ,, ८०,	३	व्वक्तञ्च	व्यक्तञ्च
१६१, ,,	२२	हल्लेखा योभूमि	हल्लेखा, योगभूमि
१६३, श्लोक ८२,	१	जानीते	जानीत
१७५, ,, ८८ ,	३	पूणंत	पूर्णता
१८२, ,, ९३,	२	विन्दुत्वेन	बिन्दुत्वेन
१८२, सूत्र ११		तमेवाधित्यानुप्रवेशे	तमेवाधिकृत्यानुप्रवेशो
१८३, श्लोक ९४	१	सृत्ट्वनु	सृष्ट्वानु
१८४, ,, ९६	१	शून्यन्त्वा	शून्यस्त्वा
१८५, ,, ९७	१	कञ्चनो	कञ्चना
१८८, ,, ९९	३	व्यतीतो	व्यतीत्ये
२१५, ,, १२६	१	व	वै
२३४, ,, १४८	१	त्वय्या	त्वय्य
२४२, ,, १५७	२	निमित्तिका	निमित्तका
२४२, ,, १५९	२	बध्नान्ति	बध्नन्ति
२४३, ,, १६३	१	भ्रमीस्त्वमियस्त	भ्रमीत्यभितस्ततः
२५३, ,, १७३	३	घट्टो	घटो

जपसूत्रम्

(तृतीय खण्ड)

(पुस्तक के सम्बन्ध में)

जप साधना क्रम साधना है। इस क्रम मार्ग में प्रत्येक स्तर तथा सोपान पर साधक के सम्मुख अनेक अन्तराय, व्यामोह तथा भ्रम उद्ग्रीव होते रहते हैं। अतः साधक के लिए इनके प्रतिकार की विधि को जानना आवश्यक है। न्यास, भूतिशुद्धि तथा गुरु आश्रय रूप उपाय का अन्तर्जगत् में क्या आयोजन करना चाहिए, अर्धमात्रा का जागरण कैसे हो, नाद-विन्दु-ज्योति-रस की अनुभूति कैसे प्राप्त हो, कार्पण्य तथा मात्रास्पर्श जनित पाश कैसे उच्छिन्न हों, अवर, वर तथा चरम सन्धि का अतिक्रमण करते हुए गुरुधाम में स्थिति कैसे प्राप्त हो, इसका सम्यक् उपदेश स्वामी जी ने इस खण्ड में दिया है। इसके अतिरिक्त मंत्र रहस्य का अपूर्व रहस्योद्घाटन भी इस खण्ड में किया गया है। इस खण्ड का यथावत् मनन करने पर जप साधना के यथार्थ विज्ञान का परिचय प्राप्त होता है। साधना भी सुकर हो जाती है, सहज हो जाती है।

राधिकारमण श्रीवास्तव, एडवोकेट

भारतीय विद्या प्रकाशन

वाराणसी :: दिल्ली